पुस्तकप्राप्तिस्थान—

१ मोतीलाल बनारसीदास, पोस्ट बाक्स नं. ७५, **बनारस**

२ मोतीलाल बनारसीदास, किनारी बाजार, **दिल्ली**

३ मोतीलाल बनारसीदास, **बांकीपुर, पटना**

४ वैद्य जादवजी त्रिकमजी आचार्य, डॉ. विगास स्ट्रीट, **बंबई** २

—मुद्रकः—
लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी
निर्णयसागर प्रेस,
कोलभाट स्ट्रीट, **बम्बई** नं. २

निवेदन

आजकल आयुर्वेदके अध्ययन और अध्यापनके लिए विषयप्रधान पाठ्यप्रणालीको सुविधाजनक माना गया है। सारे भारतवर्षमें प्रचलित आयुर्वेदविद्यालयोंमें प्रायः विषयप्रधान पाठ्यक्रम ही चलाया जाता है। परंतु इस पाठ्यक्रमके अनुसार सब विषयोंपर पाठ्य पुस्तकें न बननेसे अध्यापकों और विद्यार्थियोंको पठन-पाठनमें बड़ी कठिनाइयोंका अनुभव हो रहा है। अतः विषयानुसार पाठ्यग्रन्थोंका निर्माण होना आवश्यक है। पाठ्य विषयोंमें एक **द्रव्य-गुण-विज्ञान** भी है। इस विषयको मुख्य दो विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं—(१) द्रव्यगुणविज्ञानके मूलभूत सिद्धान्तोंका वर्णन (पूर्वार्ध); (२) औषध और आहारद्रव्योंका वर्णन (उत्तरार्ध)। इसके अनुसार इस ग्रन्थ (द्रव्य-गुण-विज्ञान)को मैंने दो विभागोंमें प्रकाशित किया है, जिसका यह पूर्वार्ध है। इसको **द्रव्यविज्ञानीय, गुणविज्ञानीय, रसविज्ञानीय, विपाकविज्ञानीय** और **वीर्य-प्रभावविज्ञानीय**—इन पाँच अध्यायोंमें विभक्त किया है। इसका अध्यापकोपयोगी बृहत् संस्करण पहले दो बार प्रकाशित हुआ है। अब कई मित्रोंके अनुरोधसे पूर्वार्धका यह **छात्रोपयोगी संस्करण** तैयार किया है। इस संस्करणमें विषय सब वही हैं जो अध्यापकोपयोगी संस्करणमें आए हुए हैं। इसमें सब विषय मूलमें हिंदी भाषामें लिखे हैं और **चरक, सुश्रुत, अष्टाङ्गसंग्रह (वृद्धवाग्भट), अष्टाङ्गहृदय (वाग्भट)** और **रसवैशेषिकसूत्र**—इन आकर ग्रन्थोंके वचन नीचे टिप्पणीमें दिये हैं। यद्यपि इन वचनोंमें शब्दपुनरुक्ति और अर्थपुनरुक्ति दोनों हैं, तथापि इन आर्ष वचनोंको अविकल रूपमें देना ही उचित समझा है। इन ग्रन्थोंकी व्याख्याएँ प्रायः छोड़ दी गई हैं। आशा है कि अल्प संस्कृतज्ञ विद्यार्थियोंको द्रव्य-गुण-विज्ञानके आधारभूत सिद्धान्तोंको समझनेमें यह संस्करण विशेष सहायक होगा। इन सिद्धान्तोंको प्रथम ज्ञात किये बिना संहिता ग्रन्थोंमें तथा निघण्टु ग्रन्थोंमें संक्षेपमें लिखे हुए द्रव्योंके गुण-कर्मोंको समझना कठिन है। द्रव्य-गुण-विज्ञानके आधारभूत सिद्धान्तोंके विषयसे आयुर्वैदिक ग्रन्थसाहित्यमें जितनी सामग्री उपलब्ध हो सकी उसका इस पूर्वार्धमें एकत्र संग्रह करनेका यथाशक्य यत्न किया है। अन्तमें द्रव्य-गुण-विज्ञानके आधारभूत सिद्धान्तोंके विषयमें आधुनिक मत क्या है तथा प्राचीन और आधुनिक विचारधाराएँ कहाँ मिलती हैं और कहाँ पृथक् होती हैं, इस विषयपर **'आयुर्वैदिक तथा आधुनिक द्रव्यगुण-विज्ञानपर तुलनात्मक विचार'** नामक एक निबन्ध मेरे परम मित्र बनारसहिन्दु-युनिवर्सिटीकी आयुर्वेदकालेजके प्रिन्सिपल **श्रीयुत स्व. वा. डॉ. बालकृष्ण अमरजी पाठकने** लिखकर दिया है। उसे अन्तमें परिशिष्टके रूपमें जोड़ दिया है। यह निबन्ध लिखकर देनेके लिए मैं **स्व. वा. डॉ. पाठकजी**का अति ऋणी हूँ। मुझे

आशा है कि द्रव्यगुणविज्ञानका यह पूर्वार्ध, इस ग्रन्थके उत्तरार्धमें औषध और आहारद्रव्योंके पारिभाषिकशब्दोंमें संक्षेपसे लिखे हुए गुण-कर्मोंको सोपपत्तिक समझनेमें विशेष उपयोगी होगा।

पाठकोंको ग्रन्थके प्रारम्भमें दिया हुआ भारतीय द्रव्यगुणविज्ञानका दिग्दर्शन करानेवाला **उपोद्घात** तथा परिशिष्ट २ में दिया हुआ **आयुर्वेदिक तथा आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानपर तुलनात्मक विचार** यह निबन्ध प्रथम देख लेना चाहिए।

इस ग्रन्थके प्रूफ देखनेमें मेरे प्रिय शिष्य **श्री ओछवलाल नाझर आयुर्वेदमहाविद्यालय(सूरत)**के वाइस प्रिन्सिपल तथा **शारीरक्रियाविज्ञान, आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान** आदि ग्रन्थोंके लेखक **श्री रणजितरायजी आयुर्वेदालङ्कार**ने बड़ी सहायता की है। अतः मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

काशीके सुप्रसिद्ध ग्रन्थप्रकाशक और पुस्तकविक्रेता **श्री मोतीलाल बनारसीदास** पुस्तकालयके संचालक **श्री. सुन्दरलालजी**ने कागज और छपाईकी मँहगाईके समयमें अपना प्रेस होते हुए भी मेरे आग्रहसे बम्बईके सुप्रसिद्ध **निर्णयसागर प्रेस**में इस ग्रन्थको छपवाकर प्रसिद्ध किया हैं, इसलिये मैं उनको भी धन्यवाद देता हूं।

ग्रन्थके संकलन करने, भाषानुवाद करने और छपवानेके विषयमें बने इतना यत्न किया है। तथापि अनवधानता, प्रमाद, भ्रम आदिके कारण अनेक त्रुटियाँ रहना संभव है। यदि विद्वद्गण इन त्रुटियोंको लिख भेजनेका कष्ट करेंगे तो अगले संस्करणमें उनको सुधारनेका यत्न किया जायगा।

ता. २०।६।१९५२
डॉ. विगास स्ट्रीट
बंबई नं. २

निवेदक
वैद्य जादवजी त्रिकमजी आचार्य

भारतीय द्रव्य-गुण-विज्ञानका उपोद्घात।

इस शास्त्रको 'द्रव्यगुणविज्ञान'[1] नाम देनेका हेतु—

यद्यपि इस शास्त्रमें द्रव्य, गुण (रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव) और कर्म (जीवन-बृंहण-वमन-विरेचन आदि) इन तीनों विषयोंका प्रतिपादन किया जाता है, अतः इसका नाम **'द्रव्य-गुण-कर्म-विज्ञान'** रखना उचित है, तथापि 'गुण' शब्द धर्ममात्रका वाचक होनेसे 'गुण' शब्दसे रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव और कर्म-इन द्रव्यके यावत् धर्मोंका ग्रहण हो जाता है, अतः लाघवार्थ इस शास्त्रको **द्रव्यगुणविज्ञान'** कहते हैं।

द्रव्यगुणशास्त्रमें प्रतिपाद्य मुख्य विषय—

द्रव्यगुणशास्त्रके मुख्य अभिधेय–प्रतिपाद्य विषय द्रव्य, गुण तथा गुणशब्दसे संगृहीत रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव और कर्म ये सात पदार्थ[2] हैं। अर्थात् इन सात पदार्थोंका द्रव्यगुणशास्त्रमें विचार और वर्णन किया जाता है।

द्रव्यगुणशास्त्रकी दृष्टिसे इन सात पदार्थोंके विषयमें भारतीय आयुर्वेदके जो मूलभूत सिद्धान्त (मन्तव्य) हैं, वे क्रमशः दिये जाते हैं। इन सिद्धान्तोंको प्रारम्भमें ठीक समझ लेनेसे आगे समग्र ग्रन्थको समझनेमें बड़ी सरलता होगी।

---

१ 'विज्ञान' शब्दका **'शास्त्र'** अर्थमें भी प्रयोग होता है। देखिये—"विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" (अमरकोष, का. १, वर्ग ४, श्लो. ६)। इस उपोद्घातमें मैंने आगे **'द्रव्यगुणविज्ञान'**के स्थानपर प्रायः **'द्रव्यगुणशास्त्र'** शब्दका प्रयोग किया है। २ **पदार्थ** उसे कहते हैं जिसमें अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व ये तीन धर्म हों। **पदार्थधर्मसंग्रहमें प्रशस्तपादाचार्यने** लिखा है कि—"षण्णामपि पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वाभिधेयत्व-ज्ञेयत्वानि।" (द्रव्यग्रन्थ, साधर्म्य-वैधर्म्यनिरूपण)। प्रत्येक शास्त्रके अपने-अपने अस्तित्व रखनेवाले, अभिधेय (वर्णन करने योग्य) और ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ (प्रतिपाद्य विषय) होते हैं। जैसे वैशेषिक दर्शनके द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः तथा न्यायदर्शनके प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थ हैं। इसी प्रकार द्रव्यगुणविज्ञानके द्रव्य, गुण, रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव और कर्म ये सात पदार्थ हैं। **भावमिश्रने** "द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च। पदार्थाः पञ्च तिष्ठन्ति स्वं स्वं कुर्वन्ति कर्म च॥" इस श्लोकमें द्रव्यमें रस, गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति (प्रभाव) ये पाँच पदार्थ रहते हैं और वे अपना-अपना कर्म–कार्य करते हैं" ऐसा लिखा है; द्रव्य तथा गुणशब्दसंगृहीत इन पाँच पदार्थोंमें सातवां कर्म मिलानेसे द्रव्यगुणविज्ञानके सात पदार्थ (प्रतिपाद्य विषय) होते हैं।

द्रव्य

द्रव्य दो प्रकारका है—१ **कारणद्रव्य**, २ **कार्यद्रव्य** ।

कारणद्रव्य—आयुर्वेदमें वैशेषिकके मतानुसार पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, आत्मा, मन, काल और दिक्–इन नौको समग्र सृष्टिका **कारणद्रव्य (मूलद्रव्य)**[२] माना है। अर्थात् सारी सृष्टि इन्ही नौ द्रव्योंके मेलसे बनी हुई है। पृथिव्यादि नौ ही द्रव्य चेतन सृष्टिके तथा आत्मा और मनको छोड़कर शेष सात द्रव्य अचेतन सृष्टिके आरम्भक (बनानेवाले) हैं।

कार्यद्रव्य—कार्यद्रव्य दो प्रकारका है—१ **चेतन**, २ **अचेतन** । चेतन द्रव्यके भी दो भेद हैं—१ **वहिरन्तश्चेतन**—यथा–मनुष्य, पशु आदि; तथा २ **अन्तश्चेतन**—यथा–वृक्ष आदि। चेतन द्रव्यके **जरायुज, अण्डज, स्वेदज**[३] और **उद्भिज्ज** ये चार भेद माने गये हैं। अचेतन द्रव्य स्वर्ण, रौप्य आदि भेदसे अनेक प्रकारके हैं, तथापि उन सबमें अचेतनत्वरूप सामान्य धर्म होनेसे उनका एक ही प्रकार (वर्ग) माना गया है। शास्त्रमें उनका **पार्थिव द्रव्य** नामसे व्यवहार होता है।

चेतन और अचेतन वर्गके सब द्रव्योंका चिकित्सामें आहार और औषधके रूपमें उपयोग होता है। यद्यपि चेतन द्रव्य पृथिवी आदि नौ कारण द्रव्योंसे और अचेतन द्रव्य आत्मा और मनको छोड़कर शेष सात कारण द्रव्योंसे बने हैं, तथापि सब द्रव्योंका चिकित्सार्थ निर्जीवावस्थामें ही उपयोग किया जाता है, इस अवस्थामें उनमें आत्मा और मन होते ही नहीं और काल तथा दिक् कार्यद्रव्यकी उत्पत्तिमें समवायिकारण (उपादान कारण) नहीं किंतु निमित्तकारण हैं, अतः द्रव्यगुणशास्त्रमें वर्णनीय सब द्रव्य शेष पृथिव्यादि पञ्चभूतोंसे ही बने होनेसे **पाञ्चभौतिक** माने जाते हैं। अतः भगवान् **पुनर्वसुने** कहा है कि—"सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे" (इसी ग्रन्थमें पृ. १)। अर्थात् द्रव्यगुणशास्त्रमें द्रव्य शब्दका अर्थ 'आहार और औषधके रूपमें उपयोगमें आनेवाले निर्जीव पाञ्चभौतिक कार्यद्रव्य' इतना ही है। कार्यद्रव्यरूप प्रसिद्ध स्थूल जल, अग्नि और वायु ये भी पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न पाञ्चभौतिक द्रव्य हैं, अतः द्रव्य-गुण-शास्त्रमें उनके भी गुण-कर्म लिखे गये हैं।

---

१ **रसवैशेषिकसूत्रमें भदन्त नागार्जुनने** कारणद्रव्योंको **मूलद्रव्य** नाम दिया है—"तत्र पृथिव्यादीनि मूलद्रव्याणि तेषाम् ॥" (अ. २, सू. ३९) । "पृथिव्यादीनि पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानि। मूलद्रव्याणि कारणद्रव्याणि। तेषामिति स्थावर-जङ्गमानां कार्यद्रव्याणाम् ॥" (**भा.**)। २ जरायुज, अण्डज और स्वेदज इन तीनों प्रकारकी सृष्टिको सामान्यतः **'प्राणी'** कहते हैं। ३ 'द्रव्यहेतुकाः निर्जीवद्रव्यमूलाः' (सु. सू. अ. ४१, श्लो. १२ की टीकामें **क. हाराणचन्द्रजी**)।

वाचस्पत्यवृहदभिधानमें 'द्रव्य'शब्दकी व्याख्यामें "भिषजस्तु—रसो गुणस्तथा वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च। पञ्चानां यः समाहारस्तद्रव्यमिति कथ्यते॥" यह वैद्योंके मतसे द्रव्यका एक लक्षण दिया है। यह श्लोक आयुर्वेदके उपलभ्यमान ग्रन्थोंमें मेरे देखनेमें नहीं आया। 'रस, गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति (प्रभाव[1]) इन पाँच गुणोंका जो समुदाय वही द्रव्य है' यह इस श्लोकका अर्थ है। प्राचीन कालमें अपने यहाँ गुणसमुदाय(गुणोंके समूह)को ही द्रव्य माननेवाला एक संप्रदाय था, उस संप्रदायका यह मत है। इस मतका **नागार्जुन**ने **रसवैशेषिकसूत्र**(अ. २ सू. १–२२)में तथा स्व. वा. **आयुर्वेदाचार्य पं. नारायणदत्तजी**ने 'द्रव्यगुणादिविवेचनात्मकमभिभाषणम्' नामके निबन्धमें (पृ. १६) युक्तिपूर्वक खण्डन किया है।

द्रव्यका लक्षण और अनेकविध भेद तथा कर्मानुसार द्रव्योंके वर्ग इस ग्रन्थके **द्रव्यविज्ञानीयाध्याय**में विस्तारसे लिखे हैं, उनको वहीं देखें।

गुण

गुर्वादि गुण द्रव्यमें आश्रित होकर रहते हैं और निष्क्रिय होनेसे उनमें कर्तृत्व नहीं होता, वमन-विरेचनादि कर्मोंमें गुण उपकरण-साधन-रूप होते हैं, परंतु कर्ता द्रव्य ही होता है; जो दूसरोंका आश्रय और कर्ता होता है वह प्रधान होता है और जो अन्याश्रित तथा उपकरण होता है वह अप्रधान—गौण होता है। गुर्वादि अन्याश्रित और उपकरणभूत होनेके कारण गौण होनेसे **'गुण'** कहे जाते हैं—"क्रियाहीनत्वेन कर्तृत्वाभावादप्राधान्येन गौणत्वाच्च तस्य **'गुण'** इति संज्ञा" (द्रव्यगुणादिविवेचनात्मकमभिभाषणम्, पृ. ९)। गुणका लक्षण इसी ग्रन्थमें पृ. ४१ पर देखें।

चरकने (सू. अ. १ में) "सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः" इस श्लोकमें ४१ गुण कहे हैं (देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ४२)। आयुर्वेदमें इनमेंसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच आकाशादि एक एक महाभूतके विशेष गुण होनेसे उनको **वैशेषिकगुण** कहते हैं। गुर्वादि द्रवान्त बीस गुणोंको **शारीरगुण** कहते हैं, क्योंकि इन गुणोंका शरीर और शरीरपर प्रयुक्त होनेवाले द्रव्योंसे ही विशेष संबन्ध है। बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये छः आत्माके गुण होनेसे इनको **आत्मगुण** कहते हैं। शेष परादि दश गुण महाभूत, शरीर तथा शरीरेतर सबके लिए सामान्य होनेसे उनको **सामान्यगुण** कहते हैं। द्रव्यगुणशास्त्रमें [2]४१ गुणोंमेंसे गुर्वादि द्रवान्त बीस शारीर गुणोंका ही मुख्यतया वर्णन आता है। **चरकाचार्यने** यजःपुरुषीयाध्याय(सू. अ. २५)में

---

१ "तत्राचिन्त्यक्रियाहेतुः 'प्रभाव' उच्यते, या द्रव्याणां **शक्तिरभिधीयते**" (क. **गङ्गाधरजी** च. सू. अ. १, श्लो. ५२ पर टीकामें)। २ "गुर्वादय इति गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-खर-मसृण-स्थूल-सूक्ष्म-सान्द्र-द्रवा इति विंशतिः **शारीरगुणाः** स्वयं वक्ष्यन्ते" (क. **गङ्गाधरजी** च. सू. अ. १, श्लोक ४९ परकी टीकामें)।

आहारके गुणोंका निर्देश करते हुए "विंशतिगुणः गुरु × × × द्रवानुगमात्" ऐसा लिखा है। **सुश्रुतने** सूत्रस्थानके ४६ वें अध्यायमें गुर्वादि बीस गुणोंके ही कर्म बताये हैं। रस भी गुण है, तथापि रसके विषयमें विशेष वक्तव्य होनेसे एक स्वतन्त्र अध्यायमें उसका निरूपण किया है। मृदु, तीक्ष्ण, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण और शीत ये आठ गुण जब उत्कृष्टशक्तिसंपन्न हों तब उनको **वीर्य** कहते हैं। वीर्योंके विषयमें भी विशेष वक्तव्य होनेसे उनका एक स्वतन्त्र अध्यायमें वर्णन दिया गया है। परंतु गुर्वादि गुण जब उत्कृष्टशक्तिरहित होते हैं तब इनको गुण ही माना जाता है, अतः गुणोंके प्रकरणमें भी उनका वर्णन किया गया है। **नागार्जुन** गुर्वादि आठ गुणोंको वीर्य **नहीं मानते**, परंतु छर्दनीय आदि कर्मलक्षण वीर्य मानते हैं; अतः उन्होंने शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, गुरु, लघु, मृदु और तीक्ष्ण इन दस गुणोंको **कर्मण्य** (कर्म करनेमें अधिक शक्तिसंपन्न) **गुण** माना है। द्रव्यगुणविज्ञानमें गुर्वादि बीस गुणोंका वर्णन विशेष आवश्यक होनेसे विस्तारसे तथा अन्य गुणोंका वर्णन संक्षेपमें किया गया है।

रस

यद्यपि आयुर्वेदमें **'रस'** शब्दका प्रयोग 'यो रसति अहरहर्गच्छति' स रसः=जो निरन्तर शरीरमें गति करता है वह **रस** कहाता है, इस निरुक्तिसे सप्त धातुओंके अन्तर्गत रसधातुमें; 'यो रसति सर्वान् लोहान्' स रसः=जो स्वर्णादि सब लोहोंको अपनेमें लीन कर लेता है वह **रस** कहाता है, इस निर्वचनसे पारदमें; 'यो रसति शरीरे आशु प्रसरति' स रसः=जो सारे शरीरमें शीघ्र फैल जाता है वह **रस** कहाता है, इस व्युत्पत्तिसे स्वरसादि कल्पोंमें तथा 'यो रस्यते आस्वाद्यते रसनेन' स रसः=जो रसनेन्द्रियसे ग्रहण किया जाता है वह **रस** कहाता है, इस निरुक्तिसे मधुरादि छः रसोंमें होता है; तथापि द्रव्यगुणाधिकारमें **'रस'** शब्द मधुरादि छः रसोंके अर्थमें हीं पारिभाषिक माना गया है। रसका लक्षण इसी ग्रन्थमें पृ. ५४ पर दिया है।

आयुर्वेदके मतानुसार सब द्रव्य पाञ्चभौतिक होनेसे कोई भी द्रव्य एक रसवाला नहीं किन्तु षड्रस है, तथापि जिस द्रव्यमें जो रस व्यक्त हो उस प्रधान रससे उस द्रव्यका यह मधुर है, यह अम्ल है, इत्यादि व्यपदेश होता है।

---

१ "गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः।" (**अष्टाङ्गसंग्रह सू. अ. १७**)। २ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ९०। ३ "परमात्मनीव सततं भवति लयो यत्र सर्वसत्त्वानाम्। एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते॥" (**रसहृदयतन्त्र**, १ अवबोध, १३ श्लोक)। ४ "तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसंभवात्।" (अ. हृ. सू. अ. ९)। ५ द्रव्योंमें जो रस व्यक्त हो उसको रस (प्रधान रस) और जो रस अव्यक्त हो या अन्तमें कुछ व्यक्त हो उसको अनुरस (अप्रधान रस) कहते हैं "तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः। अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते॥" (अ. हृ. सू. अ. ९)।

आयुर्वेदमें द्रव्योंके गुण लिखते समय यह द्रव्य मधुर है, यह अम्ल है, इत्यादि उनके रस लिखे हैं वहाँ केवल यह द्रव्य स्वादमें मधुर है, अम्ल है, इतना ही अर्थ न लेना चाहिये, परन्तु मधुरादि रसोंके जो गुण-कर्म लिखे हैं वे सब न्यूनाधिकांशमें उसमें हैं, इतना ही नहीं परन्तु मधुरादि रसोंके जो विपाक और रस-सहचर वीर्य लिखे हैं वे भी यदि रसके अनुकूल हों तो उसमें प्रायः विद्यमान हैं, इतना व्यापक अर्थ उससे समझना चाहिये। जिस द्रव्यमें प्रधान रसके विपरीत विपाक और वीर्य हों प्रायः वहाँ ही उस द्रव्यके विपाक और वीर्य स्पष्ट शब्दोंमें लिखे हैं। जहाँ विपाक और वीर्य रसके अनुकूल होनेपर भी स्पष्ट शब्दोंमें लिखे हों, वहाँ वे विशेष स्पष्टीकरणार्थ लिखे गये हैं ऐसा जानना चाहिये।

विपाक

आयुर्वेदमें खाए हुए द्रव्योंका दो प्रकारका पाक माना गया है—**अवस्थापाक** और **निष्ठापाक**। निष्ठापाकको **विपाक** कहते हैं। अवस्थापाकापेक्षया विशिष्टः पाको विपाकः=अवस्थापाककी अपेक्षया जो विशिष्ट (भिन्न–खास) पाक उसको विपाक कहते हैं। यद्यपि 'पाक' शब्द भाववाचक होनेसे पचनक्रियामात्रका द्योतक है, तथापि 'विपाक' शब्द आहारके अन्तिम पाकके समयमें आद्य रस धातुमें उत्पन्न गौरव या लाघवयुक्त मधुर, अम्ल और कटु–इन तीन रसोंमें लाक्षणिक है, ऐसा समझना चाहिये। इसी ग्रन्थमें पृ. ७८ पर विपाकका और पृ. ७९ में अवस्थापाकका निरूपण किया गया है। इससे मालूम होगा कि मुखसे लेकर बृहदन्त्रतक महास्रोतसमें तत्तत्स्थानमें मिले हुए मधुर, अम्ल और कटु (कटुक्षार) रसवाले द्रवों, प्राण और समान वायु (नाडियों–Nervesकी क्रियाओं) और शरीरस्थ ऊष्माके द्वारा महा-स्रोतसके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें जो आहारका पाक होता है उसको **अवस्थापाक** कहते हैं। अवस्थापाकको **आहारपाक** या **जठराग्निपाक** भी कहते हैं। अवस्था-पाककी प्रथम, द्वितीय और तृतीय ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। छहों रसोंवाला अन्न प्रथमपाकमें मधुरप्राय, द्वितीयपाकमें अम्लप्राय और तृतीयपाकमें कटुप्राय होता है। इन तीनों अवस्थापाकोंमें क्रमशः मल (कीटांश) रूप कफ, पित्त, वात, मूत्र और पुरीषकी उत्पत्ति होती है[३]। इन तीनों अवस्थापाकोंके अन्तमें जब आहारप्रसादरूप रसधातुकी

---

१ 'तत्र मधुरो रसः ××× स्निग्धः शीतो गुरुश्च; अम्लो रसः ××× लघुरुष्णः स्निग्धश्च' इत्यादि (देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ६३-६९)। २ 'पाकः पचनं द्रव्याणां स्वरूप-रसयोः परावृत्तिः। सा च स्वरूपान्तरत्वेन रसान्तरत्वेन च परिणतिः' **गङ्गाधर** कविराज। ३ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ७९–८० पर **अवस्थापाकनिरूपण**, म. म. **कविराज गणनाथसेनजीविरचित सिद्धान्तनिदान** २ खण्ड पृ. ३–६, तथा पृ. ८० में उद्धृत **जल्पकल्पतरुव्याख्या**।

उत्पत्ति होती है और धात्वग्निपाक प्रारम्भ होता है तब प्रायः मधुर और लवण रसका मधुर, अम्ल रसका अम्ल तथा कटु, तिक्त और कषाय रसका कटु विपाक होता है। मधुर विपाकसे प्रसादभूत कफ, अम्ल विपाकसे प्रसादभूत पित्त और कटु विपाकसे प्रसादभूत वायुकी उत्पत्ति होती है। ये प्रसादभूत वात-पित्त-कफ सूक्ष्मरूपसे रस धातुमें संचार करते हुए शरीरमें अपना-अपना कार्य करते हैं। धात्वग्निपाकमें भी रसके किट्टांशरूपमें कफकी और रक्तके किट्टांशरूपमें पित्तकी उत्पत्ति होती है[१]। अवस्थापाक प्रत्यक्षगम्य है और विपाक फल देखकर अनुमान किया जाता है। **वाग्भटने** मधुर, अम्ल और कटु विपाकको उन रसोंके तुल्यफल(गुण-कर्म)-वाला बताया है[२]। **चरक** और **सुश्रुतने** विपाकका फल स्वतन्त्ररूपसे भी लिखा है[३]। सुश्रुत और नागार्जुन मधुरादि रसोंको नहीं परन्तु पञ्चमहाभूतोंके गुरु और लघु इन दो गुणोंके रूपमें विपाक मानते हैं। परन्तु चरक और सुश्रुतके शब्दप्रयोगमें ही अन्तर है, विपाकके फलके विषयमें दोनोंके मतमें अन्तर नहीं है, यह पृ. ८७ पर स्पष्ट दिखाया गया है।

वीर्य और प्रभाव

'वीर' विक्रान्तौ (चु. आ. से.)=विक्रम (शक्तिसंपाद्य कार्य) करना, इस धातुसे 'वीरयते अनेन' इति वीर्य=द्रव्य जिसशक्तिके द्वारा कार्य करता है वह वीर्य है, इस व्युत्पत्तिसे 'वीर्य' शब्दका **शक्ति** यह अर्थ होता है। इस अर्थको लेकर **चरकने** द्रव्योंका पाञ्चभौतिक संगठन, रस, विपाक और गुर्वादि गुण इन सबकी अपनी अपनी क्रिया करनेकी जो शक्ति, उसको **वीर्य** माना है "वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया" (च. सू. अ. २६)। शक्ति दो प्रकारकी होती है—१ **चिन्त्य** और २ **अचिन्त्य**। चिन्त्य शक्तिको **वीर्य** और अचिन्त्य शक्तिको **प्रभाव** कहा जाता है। आयुर्वेदमें वीर्यके विषयमें तीन पक्ष पाये जाते हैं। पहला पक्ष शक्तिरूप वीर्य मानता है, इस मतवालोंको **शक्तिरूपवीर्यवादी** या **बहुवीर्यवादी** कहते हैं। चरक इस मतके अनुयायी हैं[४]। दूसरा पक्ष उत्कृष्टशक्तिसंपन्न गुर्वादि आठ या शीत और उष्ण दो गुणोंको ही वीर्य मानता है। इस मतवालोंको **पारिभाषिकवीर्यवादी या गुणवीर्य-वादी**[५] कहते हैं। सुश्रुत, वृद्धवाग्भट और वाग्भट इस मतके अनुयायी हैं। तीसरा पक्ष कर्मलक्षण वीर्य मानता है। यह नागार्जुनका मत है[६]। वीर्यका स्वरूप

---

१ "किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं, रसस्य तु कफोऽसृजः। पित्तं" (च. चि. अ. १५)। "रसस्य कफ इति रसे पच्यमाने किट्टं कफो भवति, प्रसादश्च रक्तं; एवं रक्तादिमलेऽपि ज्ञेयम्। × × × यथा कफोऽवस्थापाकाद्, रसमलतया च भवति" (च. द.)। २ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ८२। ३ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ८२–८३। ४ देखें इसी ग्रन्थमें ८७ पर वक्तव्य। ५ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ८९। ६ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ९०।

बताते हुए **शिवदाससेन** लिखते हैं कि-"वीर्यं शक्तिः, सा च पृथिव्यादीनां भूतानां यः सारभागस्तदतिशयरूपा बोध्या[१]=द्रव्यमें पृथिव्यादि भूतोंका जो अतिशय सार भाग जिसमें क्रिया करनेकी शक्ति हो, वह चाहे द्रव्योंके पाञ्चभौतिक संगठनरूप हो, रसरूप हो, विपाकरूप हो या गुर्वादि उत्कृष्टशक्तिसंपन्न गुणरूप हो, उसको वीर्य कहते हैं"। रसादिमें 'वीर्य' शब्दका प्रयोग धर्म-शक्ति और धर्मी-रसादि इनके अभेदोपचारसे होता है। वास्तवमें शक्ति और रसादि ये दोनों गुण हैं और गुण सर्वदा द्रव्यको आश्रय करके ही रहते हैं, अतः द्रव्यमें रहा हुआ जो क्रियाजननसमर्थ सारभाग जिसको आधुनिक वैज्ञानिकोंने ऍक्टिव प्रिन्सिपल्स (Active Principles) नाम दिया है उसको **वीर्य** नाम देना चाहिये, ऐसा जो परिशिष्टमें **डॉ. पाठकजीने** लिखा है वह ठीक मालूम होता है[२]। आयुर्वेदाचार्योंको द्रव्योंमें भूतप्रसादातिशयरूप सार भाग रहता है इस बातका ज्ञान था, परन्तु उस समय विश्लेषणक्रियाका विकास नहीं हुआ था, इसलिये उनका विशेष विवरण संहिताग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता। रसाचार्योंने धातुओं-(खनिजों)से विश्लेषण प्रक्रियाद्वारा स्वर्णादि लोह (मेटल्स Metals) अलग करके निकाले थे और उनको उन्होंने **सत्त्व** नाम दिया था। आजकल आधुनिक वैज्ञानिक द्रव्योंसे जो सारभाग निकालते हैं उनके लिये **'वीर्य'** या **'सत्त्व'** शब्दका प्रयोग करना ठीक होगा। आयुर्वेदमें द्रव्योंकी शरीरपर होनेवाली क्रियाओंकी मीमांसा या उपपत्ति उनके पञ्चभूतात्मक संगठन, रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभावकी सहायतासे की जाती है। अतः आधुनिक वैज्ञानिकोंके निकाले हुए कुनैन आदि सत्त्वोंके कर्मोंकी मीमांसा भी आयुर्वेदकी दृष्टिसे उनके पञ्चभूतात्मक संगठन, रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव द्वारा ही करनी चाहिये। आयुर्वेदमें यद्यपि वीर्य शक्तिरूप, उत्कृष्टशक्ति-संपन्न गुणरूप या कर्मलक्षण है-ये तीन मत पाये जाते हैं, तथापि द्रव्योंके गुण लिखते समय शीत, उष्ण आदि पारिभाषिक वीर्यवाचक शब्दोंका ही प्रयोग हुआ[३] है। सुश्रुत और नागार्जुनने **प्रभाव** नामके पदार्थका 'प्रभाव' नामसे उल्लेख नहीं किया है, परन्तु सुश्रुतने जो **अमीमांस्य** और **अचिन्त्य** भेषज[४] तथा नागार्जुनने **अचिन्त्य वीर्य**[५] लिखे हैं, वे प्रभाव ही हैं।

कर्म

यद्यपि पदार्थविज्ञानकी दृष्टिसे **वैशेषिकदर्शन**में कर्मपदार्थका "एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्" (१।१।१७) तथा **चरकने** "संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्। कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते॥" (सू. अ. १) यह लक्षण लिखा है, तथापि द्रव्यगुणाधिकारमें 'कर्म' शब्दका प्रयोग

१ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ८८ पर टिप्पणीमें शिवदाससेनकी व्याख्या। २ देखें इसी ग्रन्थमें परिशिष्ट २, पृ. १५६। ३ "शास्त्रे व्यवहारस्तु पारिभाषिकवीर्यनयेनैव" (शिवदाससेन)। ४ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ९५-९६। ५ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ९०।

'शरीरपर होनेवाली द्रव्योंकी वमन-विरेचन आदि क्रिया, इस अर्थमें होता है। चरकने लिखा है कि—"कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि" (सू. अ. २६)। यहां 'वमनादि' पदमें 'आदि' शब्दसे बृंहण-जीवन आदि द्रव्योंके सब कर्म लेने चाहिये="एतच्च (वमनादि) प्राधान्यादुच्यते, तेन बृंहणाद्यपि बोद्धव्यम्।" (**च. द.**)। सुश्रुतने भी "इहौषधकर्माणि ऊर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधन-संशमन-सांग्राहिकाग्निदीपन-पीडन-लेखन-बृंहण-रसायन-वाजीकरण-श्वयथुकर-विलयन-दहन-दारण-मादन-प्राणघ्न-विषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद्भवन्ति।" (इसी ग्रन्थमें पृ. ८९) इस सूत्रमें **वमन-विरेचन** आदिको **औषधकर्म** कहा है। **नागार्जुनने** कर्मप्राधान्य प्रकरणमें 'द्रव्योंका शरीर पर जो प्रयोग वह कर्म', ऐसा लिखा है="कर्म सर्वेषाम्।" (र. वै. अ. २, सू. ३८)। "द्रव्यादयः पदार्थाः सर्वे, तेषां कर्म प्रयोग इत्यर्थः। ××× । प्रयोगः कर्मसंज्ञितः षष्ठः पदार्थः" (**भा.**)।

प्राचीन कालमें हमारा द्रव्यगुणविज्ञान एक जीवित शास्त्र था। महर्षियोंने दीर्घकालके परिश्रम और अनुभवसे द्रव्यगुणविज्ञानके आधारभूत सिद्धान्त स्थापित किये थे। कोई भी नया द्रव्य उनके सामने आता था तो वे अपने सिद्धान्तानुसार मनुष्यशरीर पर उसका परीक्षण करके उसके पाञ्चभौतिक संगठन, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव और कर्म निश्चित करते थे और उपयुक्त सिद्ध होनेपर उस द्रव्यको ग्रन्थोंमें स्थान देते थे। परन्तु आजकल हमारा यह शास्त्र मूर्च्छितावस्थामें है। इन दिनोंमें किसी भी उपयोगी नवीन द्रव्यका हमारी आर्षपद्धतिसे परीक्षण करके द्रव्यगुणके ग्रन्थोंमें उसका समावेश कर लेनेका उदाहरण नहीं पाया जाता। हमारे संहिताग्रन्थ या निघंटुओंमें अनुक्त कुछ नवीन द्रव्योंका आजकल वैद्य लोग उपयोग करते हैं, परन्तु वह यूनानी या आधुनिक वैद्यकमें लिखे हुए उनके गुण-कर्मोंको देखकर तदनुसार या लोकमें प्रसिद्ध गुण-कर्मानुसार करते हैं। हमारी आर्षपद्धतिके अनुसार उनका परीक्षण करके द्रव्यगुणके ग्रन्थोंमें उनका समावेश करनेका यत्न नहीं किया जाता। यदि हम इस शास्त्रको पुनरुज्जीवित करना चाहते हैं तो हम लोगोंका कर्तव्य होगा कि अपने सामने आए हुए नवीन द्रव्योंका अपने सिद्धान्तानुसार परीक्षण करके उनको अपने ग्रन्थोंमें ले लें। प्राचीन ग्रन्थोंमें कई द्रव्योंके रस, गुण, वीर्य और विपाकके विषयमें विभिन्न मत पाये जाते हैं, उनका पुनः परीक्षण करके निश्चय करनेकी और उनमें एकवाक्यता लानेकी आवश्यकता है। आयुर्वेदमें प्रचलित कई द्रव्योंके गुण-कर्म यूनानी और पाश्चात्य वैद्यकमें हमारेसे अधिक लिखे हैं, उनका भी परीक्षणपूर्वक संग्रह कर लेना चाहिये। प्राचीन कालमें या आजकल वैद्योंने प्रायः औषधोंके गुण ग्रामीणों या अन्य देशवासियोंसे पहले जानकर पीछे उनका मनुष्यों या अन्य प्राणियोंपर प्रयोग करके परीक्षण किया है और परीक्षणसे प्राप्त ज्ञानके आधारपर उनके गुण-कर्मोंकी अपनी पद्धतिके अनुसार शास्त्रीय उपपत्ति लगानेका यत्न किया है। हम लोगोंको भी इस पद्धतिका अनुसरण करना चाहिये।

वैद्य जादवजी त्रिकमजी आचार्य

१

द्रव्यगुणविज्ञान-पूर्वार्धके अन्तर्गत विषयोंकी वर्णानुक्रमणिका।

इस ग्रन्थमें दिये हुए संकेतोंका परिचय

च. चरकसंहिता
सु. सुश्रुतसंहिता
अ. सं. अष्टाङ्गसंग्रह (वृद्धवाग्भट)
अ. हृ. अष्टाङ्गहृदय (वाग्भट)
र. वै. रसवैशेषिकसूत्र
भा. भावप्रकाश
भा. रसवैशेषिक सूत्रभाष्य
शा. शार्ङ्गधरसंहिता
वै. द. वैशेषिकदर्शन
न्या. द. न्यायदर्शन
च. द. चक्रपाणिदत्त (चरक और सुश्रुतके व्याख्याकार)
ग. गङ्गाधर कविराज (चरकव्याख्याकार)
यो. योगीन्द्रनाथसेन कविराज (चरकव्याख्याकार)
ड. डह्लण (सुश्रुतव्याख्याकार)
हा. हाराणचन्द्र कविराज (सुश्रुतव्याख्याकार)
इ. इन्दु (अष्टाङ्गसंग्रहव्याख्याकार)
अ. द. अरुणदत्त (अष्टाङ्गहृदयव्याख्याकार)
हे. हेमाद्रि (अष्टाङ्गहृदयव्याख्याकार)
शि. शिवदाससेन (चरकसंहिता और द्रव्यगुणसंग्रहके व्याख्याकार)
आ. आढमल्ल (शार्ङ्गधरसंहिताव्याख्याकार)
का. काशीराम (शार्ङ्गधरसंहिताव्याख्याकार)
डॉ. वा. ग. देसाई (डॉक्टर वामन गणेश देसाई औषधीसंग्रहकार)

द्रव्यगुणविज्ञान-पूर्वार्धका शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृ.	पं.
स्थर्य-	स्थैर्य-	४	२३
वर्णकरं-	वर्णकरं;	४	३३
जैसा	जैसे	६	२२
सोबड़के	सो बड़के	७	३३
स्वस्थवृत्तमें	आहारद्रव्यविज्ञानमें	१०	१३
देसाईने	देसाईने औषधीसंग्रहमें	१०	२१
स्नति	स्तुति	१६	२२
करें	करे	१८	१०
शी-तघ्नं	-शीतघ्नं	२५	२४
द्रव्यगुणविज्ञानशास्त्रमें	द्रव्यगुणविज्ञानमें	४०	२६
निर्गुणाः	निर्गुणा गुणाः	४१	२६
गुणोंके	गुणोंको	४२	४३
ये	ये क्रमशः	२३	११
चाम्लस्य	चाम्लस्य,	६३	२६
मज्जौज-	मज्जौजः-	६४	१९
श्वति	श्वेति	६८	२६
सौम्य	**विसर्ग-सौम्य**	८९	१५
च।	च;	८९	३२
लेहन,	लेहन, बृंहण,	९१	१२

द्रव्य-गुण-विज्ञान

(छात्रोपयोगी)



पूर्वार्ध

(द्रव्य-गुण-रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव-कर्म-विज्ञानात्मक)

'द्रव्यविज्ञानीय' नामक प्रथम अध्याय।

द्रव्यगुणविज्ञानप्रतिपाद्य द्रव्यका लक्षण—

आयुर्वेदमें द्रव्य-गुणविज्ञानके प्रकरणमें सब प्रकारके आहार और औषधरूपमें उपयुक्त पाञ्चभौतिक (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतोंके मेलसे बने हुए) गेहूं, चावल, गिलोय, सोंठ आदि कार्यद्रव्योंको **द्रव्य** कहते हैं[१]।

वक्तव्य—यद्यपि वैशेषिक दर्शन तथा आयुर्वेदमें अन्य प्रकरणोंमें **'द्रव्य'** शब्दसे **आकाश, वायु, तेज, अग्नि, जल, पृथ्वी, आत्मा, मन, काल** और **दिशा** इन नौका ग्रहण होता है,[२] तथापि द्रव्यगुणके प्रकरणमें **'द्रव्य'** शब्दसे पञ्चमहाभूतोंके मेलसे बने हुए आहार और औषधरूपमें उपयुक्त गेहूं, दूध, गिलोय, सोंठ आदि पाञ्चभौतिक कार्यद्रव्य ही अभिप्रेत हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतोंको **कारणद्रव्य** या **मूलद्रव्य** और इनके मेलसे उत्पन्न गेहूं, गिलोय, सोना आदिको **कार्यद्रव्य** कहते हैं।

द्रव्यका सामान्य लक्षण—

जिसमें संयोग-विभागका कारण परिस्पन्दलक्षण (चलनात्मक—गतिरूप) कर्म और रूपादि गुण समवाय (नित्य) संबन्धसे आश्रित हों तथा जो कार्यद्रव्यके प्रति समवायि (उपादान) कारण हो उसे **द्रव्य** कहते हैं[३]। जिसमें आश्रित होकर कार्य उत्पन्न होता है और जो कार्यसे या कार्य जिससे कदापि पृथक् नहीं रह सकता, उसे **समवायि कारण** कहते हैं। पञ्चमहाभूत सब कार्यद्रव्योंके समवायि कारण हैं, जैसे मिट्टी घड़ेका

---

१ "सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे।" (च. सू. अ. २६)। सर्वं द्रव्यमिति कार्यद्रव्यमाहारौषधरूपम्। अस्मिन्नर्थे इति अस्मिन् प्रकरणे, द्रव्यगुणाधिकारे इति यावत्। 'गुण'शब्देनात्र धर्मवाचिना रस-विपाक-वीर्य-प्रभावाणि सर्वाण्येव द्रव्यधर्माण्यभिधीयन्ते। २ "खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।" (च. सू. अ. १)। "पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।" (वै. द. १।१।५)। ३ "यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्। तद्द्रव्यं" (च. सू. अ. १)। "द्रव्यलक्षणं तु 'क्रियागुणवत् समवायिकारणम्' इति।" (सु. सू. अ. ४०)।

और तन्तु पट-वस्त्रका। यद्यपि यह लक्षण प्रधानतया कारण द्रव्यका है, तथापि द्रव्यगुणशास्त्रमें प्रतिपाद्य गुडूची-गोधूमादि कार्यद्रव्य भी गुण-कर्मके आश्रय तथा गुडूच्यादि मोदक आदिके समवायि कारण-उपादान होनेसे कार्यद्रव्यमें भी यह लक्षण लागू होता है ।

पञ्चमहाभूतोंसे कार्यद्रव्योंकी उत्पत्ति कैसे होती है ?—

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-इन पाँचोंके मेलसे सब कार्यद्रव्योंकी उत्पत्ति होती है । कार्यद्रव्योंकी उत्पत्तिमें पृथिवी उनका आश्रय-आधारभूत है, जल-योनिरूप[1] अर्थात् उनके अवयवों(अणुओं)का मिलानेवाला-संमिश्रण करनेवाला है तथा तेज, वायु और आकाशसे उनके स्वरूपकी उत्पत्ति तथा एक-दूसरेसे भिन्नता होती है। अर्थात् आहारौषधोपयुक्त गोधूम-गुडूच्यादि सब कार्यद्रव्योंकी उत्पत्तिमें पृथ्वी आधार रूपसे, जल उनके अवयवोंके संयोग करानेवालेके रूपसे, तेज काठिन्य-पाक और रूप-वर्ण उत्पादन करके, वायु काठिन्य तथा ऊर्ध्व-अधः और तिर्यक् विस्तार करके तथा आकाश अवकाश दानसे उनके संपूर्ण स्वरूप बनने और एक-दूसरेसे भिन्न होनेमें कारणरूप होता है । यद्यपि इस प्रकार कार्यद्रव्योंकी उत्पत्ति पाँचों महाभूतोंसे होती है तथापि उनके संमिश्रणके तारतम्यभेदसे (न्यूनाधिकभावसे संमिश्रण होनेसे) अनेक प्रकारके द्रव्य उत्पन्न होते हैं । द्रव्य सब पञ्चभूतात्मक होने पर भी उनमें पृथ्वी आदि एक-एक महाभूतकी अधिकतासे यह द्रव्य **पार्थिव** है, यह **आप्य** है, यह **तैजस** है-इत्यादि व्यपदेश होता है; अर्थात् जिन द्रव्योंमें पृथ्वीके गुण-कर्म अधिक हों वे **पार्थिव**, अप्-जलके गुण-कर्म अधिक हों वे **आप्य**, तेजके गुण-कर्म अधिक हों वे **तैजस**, वायुके गुण-कर्म अधिक हों वे **वायव्य** और नभस्-आकाशके गुण-कर्म अधिक हों वे **नाभस** कहे जाते हैं[2]

द्रव्योंके वर्गीकरणका हेतु—

सृष्टिमें द्रव्य अपरिमित-असंख्येय होनेसे शृङ्गग्राहिक न्यायसे 'यह इस नामका द्रव्य है' इस प्रकार सृष्टिके प्रत्येक द्रव्यका निर्देश करना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है । अतः उनके सामान्य ज्ञानके लिये जो द्रव्य समान धर्म (आकृति, गुण और कर्म) वाले हों उनके एक-एक वर्गकी कल्पना करके शास्त्रकार उनका उपदेश करते हैं । इससे समस्त (शास्त्रमें उक्त और अनुक्त सब) द्रव्योंका सामान्य ज्ञान सुकर हो जाता है ।

---

१ यहाँ 'यु' मिश्रणे-धातुसे 'यावयति मिश्रयति' इति **योनिः** इस-प्रकार 'योनि' शब्द बनाया गया है। यहाँ 'योनि' शब्द उत्पत्तिस्थानवाचक नहीं है। २ "तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद्द्रव्याभिनिर्वृत्तिः; उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति-इदं पार्थिवम्, इदमाप्यम्, इदं तैजसम्, इदं वायव्यम्, इदमाकाशीयमिति ।" (सु. सू. अ. ४१)। "इह हि द्रव्यं पञ्चभूतात्मकम्। तस्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिरुदकं, खानिलानलसमवायान्निर्वृत्ति-विशेषौ; उत्कर्षेण तु व्यपदेशः।" (अ. सं. सू. अ. १७)। "पञ्चभूतात्मकं तत्तु क्ष्मामधिष्ठाय जायते। अम्बुयोन्यग्नि-पवन-नभसां समवायतः॥ तन्निर्वृत्तिर्विशेषश्च, व्यपदेशस्तु भूयसा।" (अ. हृ. सू. अ. ९)।

आयुर्वेदमें द्रव्योंका **चेतन-अचेतन-पार्थिव-जङ्गम-उद्भिज्ज**-आदि स्वरूपभेदसे, रसादि गुणभेदसे तथा जीवन-बृंहण आदि कर्मभेदसे अनेक प्रकारका वर्गीकरण तन्त्रकारोंने किया है। इनमें प्रधान-प्रधान वर्ग आगे लिखे जाते हैं।

चेतन और अचेतन भेदसे द्रव्योंके दो वर्ग—

सब द्रव्य **चेतन** और **अचेतन** भेदसे दो प्रकारके होते हैं। अर्थात् समग्र सृष्टिके **चेतन** और **अचेतन** ये दो मुख्य वर्ग हैं। जो द्रव्य इन्द्रिययुक्त (सेन्द्रिय) होता है वह **चेतन** और जो द्रव्य इन्द्रियरहित (निरिन्द्रिय) होता है वह **अचेतन** होता है। जीवित शरीररूप (सजीव) द्रव्य सेन्द्रिय होनेसे **चेतन** होते हैं; जैसे-जीवित मनुष्य–गौ आदि प्राणी तथा वृक्ष-लता-गुल्म आदि उद्भिज्ज। जीवित शरीरको छोड़कर अन्य जितने द्रव्य हैं वे सब निरिन्द्रिय होनेसे अचेतन हैं; जैसे–स्फटिक, सुवर्ण आदि पार्थिव द्रव्य। इस प्रकार **चेतन (सेन्द्रिय–सजीव)** और **अचेतन (निरिन्द्रिय-निर्जीव)** भेदसे द्रव्यके दो वर्ग होते हैं[1]।

वक्तव्य—यहाँ इन्द्रियाँ आत्माका लिङ्ग (ज्ञापक) होनेसे तथा इन्द्रियोंद्वारा ही आत्माका चैतन्य अभिव्यक्त होता है इसलिये 'सेन्द्रिय' शब्दसे आत्माका भी ग्रहण होता है; इस कारण 'सेन्द्रिय' शब्दका 'सजीव शरीररूप सेन्द्रिय द्रव्य=सजीव प्राणी और उद्भिज्ज' यह अर्थ लेना चाहिये। इस विषय पर विशेष विवेचन इस ग्रन्थके उत्तरार्धके **औषधद्रव्यविज्ञान** नामक द्वितीय खण्डके प्रथम अध्यायमें **साशन** और **अनशन** शब्दकी व्याख्यामें किया जायगा।

एक-एक महाभूतकी अधिकतासे द्रव्योंके पार्थिव आदि पाँच भेद (वर्ग)—

जो द्रव्य गुरु, खर (खर स्पर्शवाले–खुरदरे), कठिन, मन्द (चिरकारी), स्थिर, विशद (पिच्छिलविपरीत), सान्द्र (द्रवविपरीत–गाढ़े), स्थूल (सूक्ष्मविपरीत मोटे), गन्धगुणकी अधिकतावाले **(च.)**, कुछ कषाय और प्रायः (बहुत करके) मधुर हों **(सु.)** वे **पार्थिव** हैं। उपयोग करनेसे वे शरीरमें उपचय (वृद्धि), संघात (काठिन्य), गौरव (भारीपन), स्थिरता (दृढता) **(च.)** तथा बल उत्पन्न करते हैं और विशेषतः अधोगति (नीचे गमन) करनेके स्वभाववाले होते हैं। जो द्रव्य द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु (मृदुस्पर्शवाले-कोमल), पिच्छिल (लुआबदार), **(च.)** स्तिमित (आर्द्र वा जड़), गुरु, सर (अनुलोमन) तथा सान्द्रगुणवाले, रसगुणकी अधिकतावाले; कुछ कषाय, अम्ल और लवण रसवाले तथा मधुर रसकी अधिकतावाले हों **(सु.)**, वे **आप्य** हैं। उपयोग करनेसे वे शरीरमें उपक्लेद (आर्द्रता–गीलापन), स्नेह (स्निग्धता), बन्ध (अवयवोंका परस्पर संयोजन–बाँधना), विष्यन्द (स्रोतोंसे द्रव झरना), मृदुता और प्रह्लाद (शरीर–इन्द्रियों और मनकी तुष्टि–तृप्ति)

---

१ "तत् (द्रव्यं) चेतनावदचेतनं च।" (च. सू. अ. २६)। "सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।" (च. सू. अ. १)।

उत्पन्न करते हैं। जो द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म (शरीरके सूक्ष्म स्रोतोंमें भी प्रवेश करनेवाले), लघु, रूक्ष, विशद, रूप गुणकी अधिकतावाले (**च.**), खर, कुछ अम्ल और लवण रसवाले तथा कटुरसकी अधिकतावाले (प्रायः कटु रसवाले) हों और विशेष करके ऊर्ध्वगतिस्वभाववाले हों, वे **आग्नेय (तैजस)** हैं। उपयोग करनेसे वे शरीरमें दाह (जलाना), पाक (पकाना-परिणाम), प्रभा (वर्णका प्रकाशन करनेवाली दीप्ति), प्रकाश, वर्ण (**च.**), दारण (फाड़ना-फोड़ना) तथा तपाना ये कर्म करते हैं। जो द्रव्य लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद और सूक्ष्म गुणवाले, स्पर्शगुणकी अधिकतावाले (**च.**), व्यवायी, विकाशी (**अ. सं.**) कुछ तिक्त रसवाले और विशेषतः कषायरसवाले हों (**सु.**), वे **वायव्य** हैं। उपयोग करनेसे वे शरीरमें रूक्षता, ग्लानि (हर्षक्षय-अतृप्यता), विचार (मनके अनेक प्रकारके विकल्प या नाना प्रकारकी गति), विशदता, लाघव (हलकापन) (**च., सु.**), शीघ्रता और कर्शन (**र. वै.**) उत्पन्न करते हैं। जो द्रव्य मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण (चिकने), शब्दगुणकी अधिकतावाले (**च.**), विशद, व्यवायी और विविक्त (पृथग्भूतावयव) गुणवाले तथा अव्यक्त रसवाले हों (**सु.**) वे **आकाशीय** हैं। उपयोग करनेसे वे शरीरमें मृदुता, सुषिरता (सच्छिद्रता) और लाघव उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार पार्थिव आदि भेदसे द्रव्यके पाँच वर्ग होते हैं[1]।

---

१ "तत्र द्रव्याणि गुरु-खर-कठिन-मन्द-स्थिर-विशद-सान्द्र-स्थूल-गन्धगुणबहुलानि पार्थिवानि, तान्युपचय-सङ्घात-गौरव-स्थैर्यकराणि; द्रव-स्निग्ध-शीत-मन्द-मृदु-पिच्छिल-रसगुणबहुलान्याप्यानि, तान्युपक्लेद-स्नेह-बन्ध-विष्यन्द-मार्दव-प्रह्लादकराणि; उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-लघु-रूक्ष-विशद-रूपगुणबहुलान्याग्नेयानि, तानि दाह-पाक-प्रभा-प्रकाश-वर्णकराणि; लघु-शीत-रूक्ष-खर-विशद-सूक्ष्म-स्पर्शगुणबहुलानि वायव्यानि, तानि रौक्ष्य-ग्लानि-विचार-वैशद्य-लाघवकराणि; मृदु-लघु-सूक्ष्म-श्लक्ष्ण-शब्दगुणबहुलान्याकाशात्मकानि, तानि मार्दव-सौषिर्य-लाघवकराणि।" (च. सू. अ. २६)। "तत्र स्थूल-सार-सान्द्र-मन्द-स्थिर-गुरु-कठिनं गन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवं, तत् स्थैर्य-बल-गौरव-संघातोपचयकरं विशेषतश्चाधोगतिस्वभावमिति; शीत-स्तिमित स्निग्ध-मन्द-गुरु-सर-सान्द्र-मृदु-पिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्ल-लवणं मधुररसप्रायमाप्यं, तत् स्नेहन-ह्लादन-क्लेदन-बन्धन-विष्यन्दनकरमिति; उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-रूक्ष-खर-लघु-विशदं रूपबहुलमीषदम्ल-लवणं कटुकरसप्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसं, तद्दहन-पचन-दारण-तापन-प्रकाशन-प्रभा-वर्णकरमिति; सूक्ष्म-रूक्ष-खर-शिशिर-लघु-विशदं स्पर्शबहुलमीषत्तिक्तं विशेषतः कषायमिति वायवीयं, तद्वैशद्य-लाघव-ग्लपन-विरूक्षण-विचारणकरमिति; श्लक्ष्ण-सूक्ष्म-मृदु-व्यवायि-विशद-विविक्तमव्यक्तरसं शब्दबहुलमाकाशीयं, तन्मार्दव-शौषिर्य-लाघवकरमिति।" (सु. सू. अ. ४१)। "तत्र द्रव्यं गुरु-कठिन-विशद-मन्द-सान्द्र-स्थूल-स्थिर-गन्धगुण-बहुलं पार्थिवम्, उपचय-गौरव-संघात-स्थैर्यकरं; द्रव-स्निग्ध-शीत-गुरु-मन्द-सान्द्र-सर-मृदु-पिच्छिल-रसगुणबहुलमौदकम्, उपक्लेद स्नेह-बन्ध-विष्यन्द-मार्दव-प्रह्लादकरं; तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-सूक्ष्म-लघु-विशद-रूप-गुणबहुलमाग्नेयं, दाह-पाक-प्रकाश-प्रभा-वर्णकरं-रूक्ष-सूक्ष्म-लघुविशद-विकाशि-व्यवायि-शीत-खर-स्पर्शगुणबहुलं वायव्यं, रौक्ष्य-लाघव-वैशद्य-ग्लानि-विचारकरं; सूक्ष्म-लघु-विशद-श्लक्ष्ण-व्यवायि-विविक्त-शब्दगुणबहुलमाकाशात्मकं, सौषिर्य-लाघवकरम्।" (अ. सं. सू. अ. १७)। "बृंहण-क्लेदन-पचन-कर्शन-विवरणानि, तेभ्यः संघात-ह्लादन-प्रकाश-रौक्ष्य-सौषिर्याणि च।" (र. वै. अ. २ सू. ४७)।

वक्तव्य—यहाँ आए हुए **गुरु, लघु, शीत, रूक्ष** आदि गुणवाचक शब्दोंकी विशेष व्याख्या (स्पष्टीकरण) इस ग्रन्थके **गुणविज्ञानीय** नामक दूसरे अध्यायमें देखें। यह द्रव्य **पार्थिव** है, यह **आप्य** है, यह **तैजस** है–इत्यादिका निर्णय उस द्रव्यमें स्थित ऊपर वर्णित गुण और उनके मनुष्य शरीर पर होनेवाले कर्मोंद्वारा होता है। द्रव्योंके पाञ्चभौतिक संगठनका '**आत्मप्रभाव**' या '**द्रव्यप्रभाव**' के नामसे शास्त्रमें निर्देश किया गया है।

सब द्रव्य औषधरूप हैं—

ऊपर पार्थिव आदि द्रव्योंके जो प्रतिनियत (अपने-अपने खास) गुण बताये गये हैं, उनसे विदित होगा कि–जगत्में कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं पाया जाता जो वमन-विरेचन-लङ्घन-बृंहण आदि प्रयोजनके लिए कषाय-स्नेह-प्रलेप-आसवादि योजनाओंसे प्रयुक्त होने पर औषधके रूपमें काममें न आ सकता हो। द्रव्य केवल गुणप्रभावसे ही कार्य करते हैं ऐसा नहीं है, किंतु द्रव्य अपने द्रव्यप्रभावसे (पाञ्चभौतिक रचनाविशेष-संगठन–के प्रभावसे), गुण-(मधुरादि रस, शीतोष्णादि वीर्य आदिके) प्रभावसे, अथवा द्रव्यप्रभाव और गुणप्रभाव दोनोंसे योग्य कालमें, योग्य अधिकरणमें, तत्तत् उद्देश्यके लिए, तत्तत् योजना (उपाय) से प्रयुक्त होने पर जो वमन-विरेचन-लङ्घन-बृंहण आदि करते हैं, वह उनका **कर्म** है; जिस शक्तिद्वारा कार्य करते हैं वह **वीर्य** है; जिस पञ्चमहाभूत-शरीरिसमुदायात्मक मनुष्यशरीरमें (समग्र शरीरमें या उसके एकदेशमें) कर्म करते हैं, वह **अधिकरण** है; जिस समय कर्म करते हैं, वह **काल** है; जिस प्रकार (कषायादि तथा वमन-विरेचन-बस्ति-नस्यादि योजना-युक्ति द्वारा) कर्म करते हैं, वह **उपाय** है; और जो रोगनिवृत्ति या स्वास्थ्यरक्षण करते हैं, वह **फल** है।

वक्तव्य—युक्ति अर्थात् कषायादिरूप योजना और अर्थ अर्थात् प्रयोजन–इन शब्दोंसे यह बताया है कि किसी विशेष प्रयोजनके लिये किसी विशेष उपाय (योजना) से प्रयुक्त द्रव्य ही औषधरूप होता है; चाहे जहाँ, चाहे जिस योजनासे प्रयुक्त द्रव्य औषधरूप नहीं हो सकता। इससे "वैरोधिक द्रव्य सदा अपथ्य होनेसे 'कोई भी द्रव्य अनौषध नहीं है' यह कहना विरुद्ध है" इस बातका परिहार–खण्डन हो जाता है। क्योंकि वैरोधिक द्रव्य संयोग-संस्कार-देश-काल आदिकी अपेक्षया विरुद्ध होते हैं। वैरोधिक संयोगादिके अभावमें वे भी पथ्य होते हैं। जो विषादि द्रव्य स्वभावसे ही अपथ्य हैं, उनका भी यदि रोगविशेषमें युक्तिपूर्वक उपयोग किया जाय, तो वे भी पथ्य होते हैं। जैसे–उदररोगाधिकारमें विषका प्रयोग लिखा गया है। तृण, वालुका आदि भी औषधार्थ स्वेदादिमें प्रयुक्त होते हैं, इसलिए वे भी प्रयोजन और युक्तिवश औषध होते हैं। मूत्र, मल आदि त्याज्य समझे जानेवाले द्रव्य भी औषधार्थ प्रयुक्त होते हैं। द्रव्यप्रभावसे द्रव्य औषधरूप होता है; जैसे–दन्ती अपने द्रव्यप्रभावसे विरेचन करती है। ज्वरमें तिक्त रस और शीतमें अग्नि अपने गुणप्रभावसे कार्य करते हैं। वाजीकरणाधिकारमें

कहा गया है कि-सोनेका कड़ा (या वरक) गायके दूधमें पकाकर पीनेसे वह दूध वाजीकर होता है। यहाँ मण्डल (कड़ेका गोल आकार) गुणयुक्त सुवर्ण ही कार्यकर माना जाता है अर्थात् यहाँ द्रव्यप्रभाव और गुण दोनों कार्य करते हैं। द्रव्य तत्तत् योजना आदिसे कार्य करते हैं, इसका उदाहरण-शिरोविरेचन द्रव्य जो शिरोविरेचन करते हैं, वह उनका **कर्म** है; जिस द्रव्यप्रभावसे, रससे, शीत-उष्ण आदि वीर्यसे, विपाकसे वा अन्य गुणोंसे शिरोविरेचनादि कर्म करते हैं, वह उनका **वीर्य** (शक्ति) है; वह शक्ति द्रव्यकी हो तो **प्रभाव** और गुणकी हो तो **वीर्य** कही जाती है। यहाँ **वीर्य** शब्द शीतोष्णादि पारिभाषिक वीर्यके अर्थमें नहीं है, किन्तु शक्तिमात्रके लिए है। जिस स्थानमें प्रयुक्त होनेपर वे द्रव्य शिरोविरेचन करते हैं, वह सिर उनका **अधिकरण** है (अन्य अधिकरणमें—शरीरके अन्य प्रदेशमें प्रयुक्त होनेपर शिरोविरेचन द्रव्य अपना कार्य नहीं करते)। जिस कालमें अर्थात् वसन्त आदि और शिरोगौरवयुक्त कालमें कार्य करते हैं, वह उनका **काल** है (अकालमें-शीतकालमें प्रयुक्त शिरोविरेचन स्तब्ध होकर अपना कार्य नहीं कर सकता है)। जिस प्रकारसे अर्थात् प्रधमन, अव-पीडन आदि तथा 'रोगीको चित लेटा कर, उसकी आँखें बन्द कराकर और सिर कुछ नीचा कराके शिरोविरेचन द्रव्यका प्रयोग करे' आदि जिस विधिसे शिरोविरेचन द्रव्य कार्य करते है, उसे **उपाय** कहते हैं। सिरका भारीपन, शूल आदि व्याधिकी जो शान्ति होती है, वह **फल** है। इस प्रकार वमनादि कर्मोंके लिए भी समझना चाहिए[१]।

प्रभावभेदसे द्रव्योंके तीन वर्ग—

प्रभावभेदसे द्रव्योंके (१) **दोषप्रशमन-शमन**, (२) **धातुप्रदूषण-कोपन** और (३) **स्वस्थवृत्तिमत-स्वस्थहित** ये तीन भेद-वर्ग होते हैं। जो द्रव्य अपने प्रभावसे वातादि दोष और वातादि दोषद्वारा दूषित रस-रक्त आदि धातु तथा पुरीष-मूत्र आदि मलोंका प्रशमन करते हैं उनको **दोषप्रशमन** या **शमन** कहते हैं, जैसा-आँवला। आँवलेमें स्थित अम्लादि रस अपने प्रभावसे पित्तादि दोषोंको दूषित न करके उनका शमन ही करते हैं। जो द्रव्य अपने प्रभावसे धातुओंको (समावस्थामें स्थित वातादि दोष शरीरका धारण करते हैं इसलिये **धातु** कहलाते हैं, उनको; रस रक्त-आदि धातु-ओंको तथा समावस्थामें स्थित मूत्र-पुरीष आदि मल भी शरीरको धारण करनेवाले

१ "अनेनोपदेशेन नानौषधिभूतं जगति किंचिद्द्रव्यमुपलभ्यते तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य। न तु केवलं गुणप्रभावादेव द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति; द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद्, गुणप्रभावाद्, द्रव्यगुणप्रभावाच्च तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्तदधिकरणमासाद्य तां तां च युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तत् कर्म; येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं; यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं; यदा कुर्वन्ति स कालः; यथा कुर्वन्ति स उपायः; यत् साधयन्ति तत् फलम्।" (च. सू. अ. २६)। "अनेन निदर्शनेन नानौषधीभूतं जगति किंचिद्द्रव्यमस्तीति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्य-गुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति। तानि यदा कुर्वन्ति स कालः, यत् कुर्वन्ति तत् कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं, यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यन्निष्पादयन्ति तत् फलमिति।" (सु. सू. अ. ४१)।

धातु होनेसे कहलाते हैं) उनको दूषित-कुपित करते हैं, उनको **धातुप्रदूषण** या **कोपन** कहते हैं; जैसे-विष। जो द्रव्य अपने प्रभावसे वातादि दोषोंका प्रशमन या धातुओंका दूषण-कोपन न करके केवल स्वस्थके लिये हितकर होते हैं, उनको **स्वस्थवृत्तिमत** या **स्वस्थहित** कहते है; जैसे-रक्तशालि, गेहूँ, दूध आदि[१]।

योनिभेदसे द्रव्योंके तीन वर्ग—

योनिभेदसे द्रव्योंके **जाङ्गम, औद्भिद** और **पार्थिव** ये तीन भेद-वर्ग होते हैं। जो एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन करते हैं उनको **जङ्गम** कहते हैं; जैसे मनुष्य-पशु-पक्षी आदि प्राणी। जङ्गम (प्राणियों)से मिलनेवाले गोरस, मधु, मांस, कस्तूरी, गोरोचन आदि द्रव्य **जाङ्गम** कहलाते हैं। जो पृथ्वीको फाड़कर उत्पन्न होते हैं उनको **उद्भिद्** या **उद्भिज्ज** कहते हैं; जैसे—वृक्ष-लता-गुल्म-आदि। उनसे मिलनेवाले मूल-त्वचा-पत्र-पुष्प-आदि द्रव्य **औद्भिद** कहलाते हैं। पृथ्वीसे मिलनेवाले द्रव्योंको **पार्थिव** या **भौम** कहते हैं; जैसे—सोना-चाँदी-सैन्धव आदि[२]।

उद्भिज्ज द्रव्योंके चार अवान्तर वर्ग—

चरक और **सुश्रुतने** उद्भिज्ज द्रव्योंके **वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध्** और **औषधि** ये चार अवान्तर भेद लिखे हैं। (१) जिनमें पुष्प (और फल) सूक्ष्म तथा कर्णिकाद्वारा आवृत होने(ढके रहने)के कारण बाहरसे दीखते नहीं[३] ऐसे अदृश्य (गुह्य) पुष्प उद्भिज्जोंको **वनस्पति** कहते हैं; जैसे बड़, गूलर आदि। (२) जिनमें पुष्प और फल प्रकट रूपसे दीखते हों उनको **वानस्पत्य** कहते हैं; जैसे—आम, जामुन आदि। (३) जिनकी लताएँ फैलती हैं या जो गुल्मके रूपमें उत्पन्न होते हैं उनको

---

१ "किञ्चिद्दोषप्रशमनं, किञ्चिद्धातुप्रदूषणम्। स्वस्थवृत्तौ मतं किञ्चित्त्रिविधं द्रव्यमुच्यते ॥' (च. सू. अ. १)। "शमनं, कोपनं, स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा।" (अ. सं., अ. हृ. सू. अ. १)। २ "तत् पुनस्त्रिविधं प्रोक्तं जाङ्गमं भौममौद्भिदम्।" (च. सू. अ. १)। ३ प्रसिद्ध वनस्पतिशास्त्री **स्व. वा. श्रीयुत जयकृष्ण इन्द्रजी** अपने गुजराती भाषामें लिखित **'वनस्पतिशास्त्र'** नामक ग्रन्थमें बड़के प्रकरणमें उसके फूलों और फलोंके विषयमें लिखते हैं कि—"इस वृक्षमें फूल और फल बहुत सूक्ष्म होते हैं। ये नीचेसे चौड़ी और नीचेसे ऊपरकी ओर गोलाई ली हुई **कर्णिका** (**पुष्पाधार**) पर स्थित होते हैं। इस कर्णिका या पुष्पाधारको ही बड़का फल समझा जाता है। परन्तु वास्तवमें तो बड़के फूल और फल इन कर्णिकाओं (Receptacles) के अन्दर सूक्ष्म रूपमें रहते हैं। ये कर्णिकाएँ बन्द होनेसे उन्हें खोले बिना उनके फूल और फल देखे नहीं जा सकते। प्रायः होता यह है कि जबतक बड़की कर्णिकाएँ पककर लाल नहीं हो जातीं तबतक उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। और जब वे पूर्णतः पक जाती हैं तब उनके फूल खुलकर फलमें परिणत हो गये होते हैं। इसी कारण पकी हुई कर्णिकाओंको जब हम खोलकर देखते हैं तो उनमें पके हुए सूक्ष्म बीजों जैसे फल दीख पड़ते हैं, जिन्हें हम 'बड़के बीज' कहते हैं। सो बड़के फूल देखने हों तो कच्ची कर्णिकाओंको चीर कर उसका बृहद्दर्शक काचसे निरीक्षण करना चाहिए''।

वीरुध् कहते हैं; जैसे–गिलोय (लताका उदाहरण), कनेर (गुल्मका उदाहरण) आदि । फल पक जानेपर या स्वयं (समग्र उद्भिज्ज) पक जानेपर जिनका नाश होता है उनको **औषधि** कहते हैं; जैसे–शालि-गोधूम-छत्राक आदि[१] ।

वक्तव्य—कई विद्वान् सुश्रुतमें "अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वानस्पत्याः" ऐसा पाठ मानकर उसका 'अपुष्पाः=विना पुष्पके, फलवन्तः=उत्पन्न होनेवाले सपुष्प उद्भिज्ज **वनस्पति** (जैसे–हंसराज) और पुष्पफलवन्तः=पुष्पसे उत्पन्न होनेवाले सपुष्प उद्भिज्ज (जैसे–आम-गिलोय आंदि) **वानस्पत्य** कहलाते हैं' यह अर्थ करते हैं और **वनस्पति** शब्दसे **अपुष्प** उद्भिज्ज तथा **वानस्पत्य** शब्दसे **सपुष्प** उद्भिज्ज शास्त्रकारको अभिप्रेत है ऐसा कहते हैं[२] ।

'उद्भिज्ज' शब्दकी निरुक्ति, उद्भिज्जोंके प्रधानभेद तथा उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गवाचक शब्दोंकी व्याख्या–इनका इस ग्रन्थके उत्तरार्धके **औषधद्रव्यविज्ञान** नामक द्वितीय खण्डके प्रथम अध्यायमें विस्तारसे वर्णन किया गया है । इन विषयोंको वहीं देखें ।

जङ्गमवर्गके अवान्तर भेद—

जङ्गमवर्गके आयुर्वेदमें चार अवान्तर भेद किये गये हैं—**जरायुज, अण्डज, स्वेदज** और **उद्भिज्ज**[३] । (१) जो प्राणी जरायु (उल्ब-आँवल)के द्वारा आवृत ही उत्पन्न होते हैं, उनको **जरायुज** कहते हैं; जैसे–पशु, मनुष्य आदि । (२) जो प्राणी अण्डेसे निकलते हैं, उनको **अण्डज** कहते हैं; जैसे–पक्षी, साँप आदि । (३) कृमि, कीट आदि जो प्राणी स्वेदसे (पृथ्वीके बाष्प तथा मनुष्यादि प्राणियोंके स्वेदसे) उत्पन्न होते हैं उनको **स्वेदज** कहते हैं । (४) बीरबहूटी, मेंडक आदि जो प्राणी पृथ्वीको फाड़कर बाहर आते हैं उनको **उद्भिज्ज** कहते हैं[४] ।

वक्तव्य—जङ्गम वर्गके जिन द्रव्योंका आहाररूपमें उपयोग होता है उनके भेद-वर्ग चरक-सुश्रुत आदिमें मांसवर्गमें दिये गये हैं । विषचिकित्साके प्रकरणमें सविष सर्प-कीट आदिका वर्गीकरण दिया है । उसे वहीं देखें ।

आहार और औषध भेदसे द्रव्योंके दो भेद—

द्रव्योंके **औषध** और **आहार** भेदसे दो भेद माने जाते हैं । जो द्रव्य वीर्यप्रधान

---

१ "तासां स्थावराश्चतुर्विधाः–वनस्पतयः, वृक्षाः, वीरुधः, ओषधय इति । तासु अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः, प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः, फलपाकनिष्ठा ओषधय इति ।" (सु. सू. अ. १) । "औद्भिदं तु चतुर्विधम् । वनस्पतिस्तथा वीरुद्वानस्पत्यस्तथौषधिः ॥ फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि । ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः ॥" (च. सू. अ. १) । २ देखें भिषग्रत्न **गंगाधर शास्त्री जोशी** विरचित **उद्भिज्जशास्त्र** भा. १, पृ. ५ । ३ यहाँ उद्भिज्ज शब्द जङ्गम वर्गके एक भेदके अर्थमें प्रयुक्त है, वनस्पतिवाचक नहीं है । ४ "जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः–जरायुजाण्डज-स्वेदजोद्भिज्जाः । तत्र पशु-मनुष्य-व्यालादयो जरायुजाः, खग-सर्प-सरीसृपादयोऽण्डजाः, कृमि-कीट-पिपीलिकादयः स्वेदजाः, इन्द्रगोप-मण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः ।" (सु. सू. अ. १)

हो अर्थात् जिसके उपयोगसे शरीरमें वीर्यसंज्ञक शीत-उष्ण आदि गुणोंकी उत्पत्ति प्रधानतया होती हो, शरीरके रस-रक्तादि धातुओंका पोषण जिसका प्रधान कार्य न हो, उसको **औषधद्रव्य** कहते हैं; जैसे-सौंठ, पीपल आदि। जो द्रव्य रसप्रधान हो **अर्थात्** जिसके उपयोगसे शरीरमें रस तथा रससे पुष्ट होनेवाले रक्तादि धातुओंका **पोषण** प्रधानतया होता हो, शीत-उष्ण आदि वीर्यसंज्ञक गुणोंकी उत्पत्ति (गुणोंका असर) प्रधानतया न होती हो, उसको **आहारद्रव्य** कहते हैं; जैसे-चावल, गेहूँ आदि। औषध द्रव्योंके (उनके) शीत-उष्ण आदि वीर्योंके तारतम्यभेदसे **तीक्ष्णवीर्य, मध्यवीर्य** और **मृदुवीर्य** ये तीन अवान्तर भेद होते हैं। उदाहरणार्थ—उष्णवीर्यके **उष्णतम** (तीक्ष्ण), **उष्णतर** (मध्य) और **उष्ण** (मृदु) ऐसे तीन भेद होते हैं[1]।

वक्तव्य—औषधद्रव्य वीर्यप्रधान होता है इसका तात्पर्य यह है कि-विदारीकन्द, असगन्ध, सालम पँजा आदि द्रव्योंमें रसादि धातुओंको पोषण करनेवाले तत्त्व भी होते हैं परन्तु वे गौणरूपमें होते हैं—उनमें वीर्यसंज्ञक शीतोष्णादि गुण या वीर्यसंज्ञक सत्त्वांशकी प्रधानता होती है, अतः वे औषध द्रव्य माने जाते हैं। इसी प्रकार चावल-गेहूँ-दूध आदिमें शीत-उष्ण आदि वीर्यसंज्ञक गुण भी रहते हैं, परन्तु वे गौणरूपमें होते हैं-उनमें रसादि धातुपोषक अंश अधिक प्रमाणमें होता है, अतः उनको रसप्रधान-आहार द्रव्य माना जाता है।

रसभेदसे द्रव्योंके छः वर्ग—

मधुर आदि छः रसोंके भेदसे द्रव्योंके **मधुरवर्ग, अम्लवर्ग, लवणवर्ग, कटुकवर्ग, तिक्तवर्ग** और **कषायवर्ग**—ये छः वर्ग होते हैं।

विपाकभेदसे द्रव्योंके भेद—

विपाकभेदसे द्रव्योंके चरकमतसे (१) **मधुरविपाक,** (२) **अम्लविपाक** तथा (३) **कटुविपाक** ये तीन और सुश्रुतमतसे (१) **गुरुविपाक** (**मधुरविपाक**) तथा (२) **लघुविपाक** (**कटुविपाक**) ये दो भेद होते हैं। विपाकके विषयमें विशेष विवरण इसी ग्रन्थमें **विपाकविज्ञानीय** नामके चतुर्थ अध्यायमें देखें।

वीर्यभेदसे द्रव्योंके भेद—

वीर्यभेदसे अष्टविधवीर्यवादियोंके मतसे (१) **गुरुवीर्य,** (२) **लघुवीर्य,** (३) **स्निग्धवीर्य,** (४) **रूक्षवीर्य,** (५) **मृदुवीर्य,** (६) **तीक्ष्णवीर्य,** (७) **शीतवीर्य** और (८) **उष्णवीर्य**-ये आठ तथा द्विविधवीर्यवादियोंके मतसे (१)

---

१ "द्रव्यं तावद्द्विविधं-वीर्यप्रधानमौषधद्रव्यं, रसप्रधानमाहारद्रव्यं च। तत्राप्यौषधद्रव्यं त्रिविधं वीर्यभेदात्-तीक्ष्णवीर्यं, मध्यवीर्यं, मृदुवीर्यं चेति।" (च. सू. अ. २. श्लो. १७ की व्याख्यामें **चक्रपाणिदत्त**)।

शीतवीर्य और (२) **उष्णवीर्य**–दो भेद होते हैं। वीर्यके विषयमें विशेष विवरण इसी ग्रन्थमें **वीर्यविज्ञानीय** नामके पाँचवें अध्यायमें देखें।

द्रव्योंका कर्मानुसार वर्गीकरण—

आयुर्वेदमें तन्त्रकारोंने द्रव्योंका उनके कर्मोंके (जीवित मानव शरीरपर होनेवाली उनकी क्रियाओंके) अनुसार अनेक प्रकारसे वर्गीकरण किया है। **चरकसंहितामें** सूत्रस्थानके दूसरे अध्यायमें तथा विमानस्थानके आठवें अध्यायमें **वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन** और **शिरोविरेचन**–इन पञ्चकर्मोंमें उपयुक्त द्रव्योंके पाँच वर्ग (गण) दिये हैं। सूत्रस्थानके चौथे अध्यायमें **पञ्चाशन्महाकषायके** नामसे दस-दस द्रव्योंका एक-एक गण ऐसे पचास गण दिये हैं। सूत्रस्थानके २२ वें अध्यायमें **लङ्घन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन** और **स्तम्भन** इन छः गणोंके कर्मोंकी व्याख्या लिखी है। ये गण औषधद्रव्योंके कर्मानुसार होनेसे इस प्रकरणमें उन वर्गोंकी व्याख्या और उदाहरण दिये हैं। आगे सूत्रस्थानके २७ वें अध्यायमें आहारोपयुक्त द्रव्योंके बारह वर्ग लिखे हैं। ये वर्ग आहारोपयोगी होनेसे इनको स्वस्थवृत्तमें स्थान मिलना चाहिये-ऐसा मान कर इन वर्गोंकी व्याख्या यहाँ नहीं दी गई है। चरक-सुश्रुत आदि तन्त्रोंमें **रसायन** और **वाजीकरण** की जो व्याख्या दी है वह यहाँ लिखी है। सुश्रुत सूत्रस्थानके ३९ वें अध्यायमें **वातसंशमन, पित्तसंशमन** तथा **श्लेष्मसंशमन** ये तीन वर्ग और सूत्रस्थानके मिश्रक चिकित्सिताध्यायमें शस्त्रकर्मोपयोगी **विम्लापन-पाचन** आदि आठ गण लिखे हैं उनकी व्याख्या और उदाहरण इस प्रकरणमें लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त शार्ङ्गधरमें तथा चरकसूत्रस्थान अध्याय २७ और सुश्रुत सूत्र-स्थान अध्याय ४५–४६ में अन्य जो द्रव्यकर्मवाचक शब्द आये हैं उनकी व्याख्या और उदाहरण इस प्रकरणमें दिये हैं। शेषमें **स्व. वा. डॉ. वामन गणेश देसाईने** चरक-सुश्रुतोक्त वर्गोंके अतिरिक्त कुछ अन्य वर्ग लिखे हैं उनकी व्याख्या दी है।

जीवनीय—

जो द्रव्य जीवन (प्राणधारण-आयुष्य) के लिये हितकर (उपयोगी) हो उसको **जीवनीय** या **जीवन** कहते हैं। जैसे–जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, मुलेठी आदि। जीवनीय द्रव्य पृथ्वी और जलके गुणोंकी अधिकतावाला होता है (पार्थिव और आप्य द्रव्योंके जो गुण-कर्म कहे गये हैं जीवनीय द्रव्य उन गुण-कर्मोंसे युक्त होता है)[१]।

---

१ जीवनम् आयुः "शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥" (च. सू. अ. १) इत्युक्तलक्षणं, तस्मै हितं जीवनीयम् (च. द., गं., यो.) "जीवनः प्राणधारणः।" (ड.)। "पृथिव्यपां गुणैर्युक्तं जीवनीयमिति स्थितिः।" (र. वै. अ. ४, सू. ३० भा.)। "जीवनीय द्रव्य स्वस्थावस्थामें रक्तमें या शरीरमें रहते हैं। रोगावस्थामें ये द्रव्य कम हुए होते हैं। उनकी कमीकी पूर्तिके लिए इनके सेवनकी आवश्यकता होती है। जैसे–लोह, जवाखार, फॉस्फॉरस, नमक। इन्हें अंग्रेजीमें Restoratives–रिस्टोरेटिव्स् कहते हैं" (डॉ. वा. ग. दे.)। सालममिश्रीके गुणोंमें डॉ. वा. ग. देसाई लिखते हैं कि–इसका एक

वक्तव्य—शरीरमें प्रतिक्षण धात्वग्नियोंकी परिपाक क्रियासे धातुओंका क्षय होता रहता है। उसकी पूर्तिके लिये जीवनीय द्रव्योंका प्रतिदिन प्रयोग करना आवश्यक है। यद्यपि चावल-गेहूँ-दूध आदि द्रव्य प्राणधारणोपयुक्त होनेसे जीवनीय हैं, तथापि वे आहार-द्रव्य होनेसे उनका यहाँ औषधद्रव्योंके गणमें संग्रह नहीं किया है। इसी प्रकार बृंहण आदि गणोंमें बृंहणकर्मप्रधान मांस आदिके न लिखनेमें हेतु जानना चाहिये। जीवनीय आदि गणोंमें दस-दस ही द्रव्य लिखनेका हेतु बताते हुए **भगवान् आत्रेय** कहते हैं कि–प्रत्येक गणमें उदाहरणरूपसे कहे गये दस-दस द्रव्य अल्पबुद्धियोंको चिकित्सा-व्यवहारके लिये पर्याप्त होंगे और इन द्रव्योंके लक्षणोंसे अन्य अनुक्त द्रव्यका अनुमान कर सकें ऐसे बुद्धिमानोंके लिये अनुक्त द्रव्योंके अनुमानके लिये होंगे। बुद्धिमान् लोग, जैसे यहाँ कहे हुए जीवकादि द्रव्य स्निग्ध-शीत-मधुर आदि गुणयुक्त होनेसे जीवनकर्म करते हैं वैसे ही द्राक्षा-दूध-विकारीकन्द आदि द्रव्य उन गुणोंसे युक्त होनेसे जीवन होने चाहिये, ऐसा अनुमान कर लेंगे।

बृंहणीय-बृंहण—

जो द्रव्य शरीरमें मोटापन लाता है (शरीरको पुष्ट करता है) उसे **बृंहणीय** या **बृंहण** कहते हैं। जो द्रव्य गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल (घन-गाढ़ा), स्थूल (संहतावयव–स्थूलावयव जैसे—लड्डू आदि), पिच्छिल (लुआबदार), मन्द (चिरकारी), स्थिर और श्लक्ष्ण गुणवाला हो वह प्रायः बृंहण होता है। जैसे—असगन्ध, काकोली आदि (**च.**)। बृंहण द्रव्य पृथिवी और जलके गुणोंकी अधिकतावाला होता है (पार्थिव और आप्य द्रव्यके जो गुण–कर्म कहे गये हैं, बृंहण द्रव्य उन गुण-कर्मोंसे युक्त होता है) (**सु.**)। **चरकने** सालम पँजा, विदारीकन्द, मुनक्का, खजूर, अंजीर, तालके फल, नारियल, बादाम, अखरोट, पिस्ता, चिलगोजा और खुरमानीको **बृंहण** कहा है। **सुश्रुतने** काकोल्यादिगणको **बृंहण** लिखा है। रोगादिसे क्षीण, व्रणवाले, कृश, वृद्ध, दुर्बल (अशक्त), नित्य चलनेवाले, नित्य स्त्री और मद्यका सेवन करनेवाले तथा ग्रीष्मऋतुमें सब मनुष्योंको बृंहण द्रव्य देने चाहिये[१]।

तोला चूर्ण प्रौढ मनुष्यके लिये २४ घंटेके लिये पूरा अन्न है। इतने अल्पप्रमाणमें जीवनको टिकानेवाला दूसरा अन्न नहीं है। इसलिये इसको **जीवन** कहना उचित है (**औ. सं.** पृ. ७०६)। पाश्चात्य वैद्यकमें **विटामिन थियरीका** आविष्कार होनेके बाद उस मतका हिन्दीमें अनुवाद करते समय **विटामिनोंके** लिए भी कई लेखक '**जीवनीय**' शब्दका प्रयोग करते हैं। जीवनीय द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **मुगज्जी** कहते हैं।

१ "बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम्। गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं स्थूल-पिच्छिलम्॥ प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते। क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा दुर्बला नित्यमध्वगाः। स्त्री-मद्यनित्या ग्रीष्मे च बृंहणीया नराः स्मृताः॥" (च. सू. अ. २२)। "बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्" (सु. सू. अ. ४१)। बृंहण द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **मुसम्मिन बदन** कहते हैं।

लेखनीय-लेखन —

जो द्रव्य शरीरमें मेद और कफको सुखाकर शरीरको कृश–पतला करे उसको **लेखनीय** या **लेखन** कहते हैं। लेखन द्रव्य वायु और अग्निके गुणोंकी अधिकतावाले होते हैं । शल्यतन्त्रमें लेखनका एक और भी अर्थ लिया गया है–व्रणके ऊपर उभरे हुए कठिन मांस आदिको शस्त्रसे छीलनेको **लेखन** कहते हैं। यह कार्य जिस औषधद्रव्यसे होता हो उसको भी **लेखन** कहा जाता है। क्षारद्रव्यसे लेखन–घर्षण-(छीलने)का कार्य होता है, अतः **सुश्रुत**ने क्षारको **लेखन** कहा है (सु. सू. अ. ११)। सुश्रुतने सालसारादि गणको **कफमेदोविशोषण** (कफ और मेदको सुखानेवाला)-**लेखन** लिखा है[१] ।

भेदनीय-भेदन—

जो द्रव्य शरीरके स्रोतोंमें जमे हुए कफादि दोष और आँतोंमें जमे हुए सूखे मल(सुद्दे)को तोड़ और पतला करके दस्तद्वारा बाहर निकाले उसको **भेदनीय-भेदन** कहते हैं। जैसे-निशोथ–कुटकी–एरण्ड आदि। भेदनको **अधोभागहर** वर्गका एक भेद समझना चाहिये[२] ।

सन्धानीय–सन्धान—

शरीरमें टूटे हुए या अलग हुए अस्थि-त्वचा रक्तवाहिनी आदिको जोड़नेवाले द्रव्यको **सन्धानीय** या **सन्धान** कहते हैं; जैसे–मुलेठी, पाठा, मोचरस, लोध आदि[३] ।

दीपनीय–दीपन–अग्निदीपन

जो द्रव्य जठराग्निको प्रदीप्त करता है (भूख उत्पन्न करता और बढ़ाता है) उसको **दीपनीय-दीपन** या **अग्निदीपन** कहते हैं; जैसे–छोटी पीपल, पीपलामूल, हींग, भाँग आदि। दीपन द्रव्य अग्निके गुणोंकी अधिकतावाला होता है—आग्नेय द्रव्यके जो गुण-कर्म लिखे हैं दीपन द्रव्य उनसे युक्त होता है । दीपन द्रव्य पित्तको उत्पन्न करनेवाले कटु, अम्ल और लवण रस तथा तीक्ष्ण, उष्ण और लघु गुणोंसे युक्त होता है[४] ।

---

१ लेखनं कर्शनं, तस्मै हितं लेखनीयम् (यो.)। "लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठम् ।" (सु. सू. अ. ४१)। "धातून् मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत् । लेखनं तद्यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः ॥ (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद्द्रव्यं धातून् रसादीन् मलान् वा, विशोष्य शुष्कान् कृत्वा, लेखयेत् स्थूलस्य कृशतां कारयेत्, तल्लेखनम्। शल्यतन्त्रे कठिनोत्सन्नमांसानां व्रणानां शस्त्रेण क्षौमादिभिर्वा घर्षणं लेखनमित्युच्यते । "क्षौमं प्लोतं पिचुं फेनं यावशूकं ससैन्धवम्। कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थे प्रदापयेत् ॥" (सु. चि. अ. १)। २ भेदनं पिण्डितमलानां द्रवीकृत्य बहिःसारणं, तस्मै हितम् (यो.) इति। ३ संधानाय भग्नसंयोजनाय हितं संधानीयम्। "संधानकं शरीरेऽन्तःसंहतिकरं भावानाम् ।" (इन्दुः) । ४ **कोष्ठवातप्रशमन**–ये द्रव्य आँतोंको उत्तेजित करते हैं, इनसे आँतोंकी शक्ति बढ़ती है, अधोवायु सरता है, डकार आती है और पेटका दर्द कम होता है । उदाहरण-सर्व सुगन्धि द्रव्य, सोंठ, त्रिकटु, तगर, हींग, कस्तूरी। इनको 'Carminatives-

पाचन और दीपनपाचन—

जो द्रव्य आम (अपक्व अन्न, रस और साम दोष–धातु तथा मलों) का पाचन करे उसको **पाचन** कहते हैं[१]; जैसे–नागकेशर, सौंफ, नागरमोथा आदि । पाचन द्रव्य अग्निके गुणोंकी अधिकतावाले होते हैं । जो द्रव्य जठराग्निको प्रदीप्त करे–भूख लगावे और आमका पाचन भी करे उसको **दीपनपाचन** कहते हैं; जैसे–चित्रक ।

वक्तव्य—जब अन्नका परिपाक ठीक होता हो परन्तु भूख न लगती हो तब **दीपन** द्रव्योंका, जब भूख लगती हो परन्तु अन्नका परिपाक ठीक न होता हो तब **पाचन** द्रव्योंका और जब भूख न लगती हो तथा खाये हुए अन्नका पाचन भी ठीक न होता हो तब **दीपनपाचन** द्रव्योंका प्रयोग करना चाहिये ।

बल्य-बलवर्धन—

शरीरके बल (शक्ति) को बढ़ानेवाले द्रव्यको **बल्य** या **बलवर्धन** कहते हैं। जैसे–कवाँच, शतावरी, असगन्ध आदि । **चरकने** सालम पँजा (मुञ्जातक), विदारीकन्द, पक्व आम, बादाम, पिस्ता, चिलगोझा (नेजा) और कछुएके मांसको **बलवर्धन**

कार्मिनेटिव्स्' और 'Aromatics-ॲरोमेटिक्स्' कहते हैं । इन द्रव्योंसे आमाशयकी भी शक्ति बढ़ती है, इसलिये **दीपनवर्गमें** इनकी गणना होती है (डॉ. वा. दे.) । लवंगके प्रकरणमें सुगन्धि द्रव्योंके विषयमें डॉ. देसाई लिखते हैं कि—"(१) सुगन्धि द्रव्योंसे भूख बढ़ती है, पाचक रस तैयार होता है और मनको आह्लाद होकर खावें ऐसी इच्छा मालूम होती है । इसलिये आयुर्वेदमें प्रायः सर्व योगोंमें सुगन्धि द्रव्योंका उपयोग किया गया है । (२) सुगन्धि द्रव्य आमाशय और आँतोंमें स्थित सूक्ष्म जन्तुओंका नाश करनेवाले और पूतिहर हैं । पेटका अफारा सूक्ष्म जन्तुओंसे होता है, वह इन सुगन्धि द्रव्योंसे नष्ट होता है । (३) सुगन्धि द्रव्योंसे रक्तस्थित श्वेत कण बढ़ते हैं । इससे आगन्तु सूक्ष्म जन्तु शरीरमें प्रविष्ट हुए हों तो उनका नाश होता है । आयुर्वेदके प्राचीन तन्त्रकारोंको सुगन्धि द्रव्योंके इन गुणोंका अच्छा ज्ञान था ऐसा मालूम होता है । इसलिये ज्वरके सर्व योगोंमें इनका प्रयोग किया गया है । (४) सुगन्धि द्रव्य चेतना लाते हैं । उनकी यह क्रिया हृदय, रक्ताभिसरण और श्वासोच्छ्वासकी क्रिया पर स्पष्ट होती है । इसलिये इनका उपयोग त्रिदोष-सन्निपातमें किया जाता है । (५) सुगन्धि द्रव्य शरीरके अन्दरकी दुर्गन्धका नाश करते हैं । इसलिये कफ, लाला आदिकी दुर्गन्ध नाश करनेके लिये इनका प्रयोग किया जाता है । (७) सुगन्धि द्रव्य मूत्रजनन हैं । इनसे गुर्देसे मूत्रद्वार पर्यन्त मार्गकी शुद्धि होती है । (८) सुगन्धि द्रव्योंको शरीरके बाहर लगाने पर चेतनाकारक, वेदनास्थापन, पूतिहर, व्रणशोधन और व्रणरोपण परिणाम होता है। सुगन्धि द्रव्योंके ऊपर लिखे हुए आठ गुण सर्व सुगन्धि द्रव्योंमें न्यूनाधिक प्रमाणमें देखनेमें आते हैं" । पाश्चात्य द्रव्यगुणमें लिखा हुआ कार्मिनेटिव् वर्ग शार्ङ्गधरोक्त **दीपनपाचन** वर्गके समान होनेसे उसको दीपनपाचन वर्गकी टिप्पणीमें लिखा है । कोष्ठवातप्रशमनको **यूनानीवैद्यकमें** **'कासिर रियाह'** कहते हैं ।

१ **पाचन**-ये द्रव्य आमाशय और पक्वाशयको अन्न पचन करनेमें सहायता देते हैं । जैसे-एरंड खरबूजे (पपीते) का दूध, जौका सत्त्व (मॉल्ट) आदि । इन्हें अंग्रेजीमें 'Digestives-डाईजेस्टिव्स्; Digestants-डाईजेस्टन्ट्स्' कहते हैं । (डॉ. वा. दे.) । **पाचनद्रव्यको** **यूनानीवैद्यकमें** **'हाजिम'** कहते हैं ।

लिखा है[१] (च. सू. अ. २७)।

वर्ण्य-वर्णप्रसादन-वर्चस्य—

शरीरके वर्ण (कान्ति) को सुधारनेवाले और रोगसे बिगड़े हुए वर्णको फिर स्वाभाविक अवस्थामें लानेवाले द्रव्यको **वर्ण्य-वर्णप्रसादन** या **वर्चस्य** कहते हैं। जैसे-चन्दन, पद्माख, मजीठ, अनन्तमूल आदि। **सुश्रुत**ने लोध्रादि गणको **वर्ण्य** और एलादि गणको **वर्णप्रसादन** लिखा है। **रसवैशेषिकसूत्रमें वर्ण्य**को **वर्चस्य** नाम दिया है[२]।

कण्ठ्य-स्वर्य—

कण्ठके स्वर (गलेके आवाज) के लिये हितकर (स्वरको सुधारनेवाले और रोगसे बिगड़े हुए स्वरको फिर स्वाभाविक अवस्थामें लानेवाले) द्रव्यको **कण्ठ्य-स्वर्य** कहते हैं। जैसे-अनन्तमूल, मुलेठी, हंसराज आदि। **सुश्रुतने** अदरखको **स्वर्य** लिखा है[३]।

हृद्य—

जो द्रव्य हृदय अर्थात् मनको हित-प्रिय हो उसको **हृद्य** कहते हैं। जैसे आम, अनार (दाड़िम), बिजोरा आदि। हृदयके लिये बलकारक द्रव्यको भी **हृद्य** कहते हैं। जैसे-अर्जुनकी छाल, अम्बर आदि।

तृप्तिघ्न—

चालीस श्लेष्मविकारोंमें **तृप्ति** नामका श्लेष्मरोग कहा गया है। इससे मनुष्य अपनेको तृप्त (पेट भरे हुए) जैसा अनुभव करता है अथवा तृप्ति याने अन्न खानेकी इच्छा न होना-अरुचि; इस रोगको नष्ट करनेवाले द्रव्यको **तृप्तिघ्न** कहते हैं। जैसे-सोंठ, गिलोय, बच, मोथा आदि[४]।

अर्शोघ्न—

अर्श (बवासीर) को नष्ट करनेवाले द्रव्यको **अर्शोघ्न** कहते हैं; जैसे-कुड़ा, बेल, हरड़, दारुहल्दी, नागकेसर आदि।

---

१ बलाय हितं बल्यम् (ग., यो.)। आयुर्वेदमें अनुत्पन्न रोगोंका प्रतिबन्ध करनेवाली और उत्पन्न रोगको दूर करनेवाली शक्तिको भी बल (Vitality-वाइटेलिटि) नाम दिया है—"बलं ह्यलं निग्रहाय रोगाणां=बल रोगोंका निग्रह करनेके लिए समर्थ है" (च. चि. अ. ३)। "**बल्य**-ये द्रव्य जिन-जिन अवयवोंपर क्रिया करते हैं उनका बल बढ़ाते हैं किंवा उनको स्वस्थ करते हैं। जैसे-आमाशयके लिए तिक्त और दीपन द्रव्य; सुषुम्णाकाण्डके लिए कुचला; हृदयके लिए अर्जुन और डिजिटेलिस; नाडीसंस्थानके लिए तगर; पेशियोंके लिए कषायाम्ल (टेनिक ऍसिड) युक्त द्रव्य; और रक्तके लिए लोह। इन्हें अंग्रेजीमें 'Tonics-टॉनिक्स' कहते हैं। (**डॉ. वा. दे.**)।

२ वर्णाय हितं वर्ण्यम् (ग., यो.)। "वर्चसे प्रभायै हितं वर्चस्यम्" (**र. वै. पृ. १८१**)।

३ कण्ठस्थितस्वराय हितं कण्ठ्यम् (**ग.**)। ये द्रव्य मुखमें रख कर धीरे धीरे चूसनेसे श्वासनली और कण्ठसे कफको बाहर लाते हैं। जैसे-नौसादर, सेन्धा नमक, गोंद, मुलेठी। इन्हें अंग्रेजीमें 'Ciliary excitant-सिलिअरी एक्साइटन्ट्' कहते हैं (**डॉ. वा. दे.**)।

४ तृप्तिः श्लेष्मविकारः, येन तृप्तमिवात्मानं मन्यते (**च. द.**); अन्नाभिनन्दनात् तृप्तिरिव तृप्तिररोचकः (**यो.**) तद्घ्नं तृप्तिघ्नम्।

कुष्ठघ्न—

कुष्ठ (त्वग्दोष-त्वचाके रोगों)को नष्ट करनेवाले द्रव्यको **कुष्ठघ्न** कहते हैं; जैसे-खैर, हरड़, आँवला, अमलतास, तुवरकतैल आदि।

कण्डूघ्न-कण्डूनाशन—

कण्डू (खाज-खुजली) को नष्ट करनेवाले द्रव्यको **कण्डूघ्न** कहते हैं; जैसे-चन्दन, अमलतास, करञ्ज, नीम आदि।

कृमिघ्न-कृमिहर—

शरीरमें उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकारके आभ्यन्तर और बाह्य कृमि तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले लक्षणों और उपद्रवोंको नष्ट करनेवाले द्रव्यको **कृ(क्रि) मिघ्न-कृमिप्रशमन-कृमिसूदन-कृमिहर** कहते हैं। जैसे-सहिंजना, वायविडंग, संभालू आदि[१]।

विषघ्न-अगद-विषप्रशमन—

नाना प्रकारके विष और उनसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंको नष्ट करनेवाले द्रव्यको **विषघ्न, विषप्रशमन** या **अगद** कहते हैं; जैसे-हल्दी, मजीठ, छोटी इलायची, चन्दन, निर्मली आदि। **सुश्रुतने लोध्रादि, अर्कादि, एलादि, पटोलादि, उत्पलादि** और **त्र्यप्वादि** गणको **विषघ्न** लिखा है[२]।

स्तन्यजनन-स्तन्यवृद्धिकर—

स्त्रियोंके स्तन्य(दूध)को उत्पन्न करने और बढ़ानेवाले द्रव्यको **स्तन्यजनन** या **स्तन्यवृद्धिकर** कहते हैं। जैसे-शालि (चावल), गन्नेके मूल, विदारीकन्द, शतावरी आदि। **सुश्रुतने काकोल्यादि** गणको **स्तन्यजनन** लिखा है[३]।

---

१ **कृमिघ्न**—ये द्रव्य आँतोंके अन्दरके कृमियोंको मारते हैं या उन्हें बाहर निकालनेमें सहायता करते हैं। जैसे-(१) किरमाणी अजवायन (और पलाशबीज) गोल कृमि (केंचुए—Round worm) के लिए; (२) वायविडंग, कमीला, सुपारी और अनारके मूलकी छाल फीते जैसे चपटे कृमि (Tape worm) के लिए; (३) नमक, चूना और फिटकिरीके घोल(तथा कलुम्बाके क्वाथ)की आस्थापनबस्ति सूत जैसे कृमि (Thread worm) के लिए; (४) अजवायनके फूल बडिशकृमि (Hookworm)के लिए। इन्हें अंग्रेजीमें 'Anthelmintics—ॲन्थेल्मिन्टिक्स्'; 'Vermifuge—वर्मिफ्युज्'; 'Vermicides—वर्मिसाइड्स्'; 'Antiscoliac—ॲन्टिस्कॉलिआक्' कहते हैं। जो द्रव्य बाहरके (त्वचा आदिके) कृमियोंको मारते हैं वे **बाह्यकृमिघ्न** कहाते हैं। जैसे-कायफल, बच, निमोलीका तेल आदि। इन्हें अंग्रेजीमें 'Insecticides—इन्सेक्टिसाइड्स्' कहते हैं **(डॉ. वा. दे.)**। कृमिघ्न औषधको यूनानी वैद्यकमें **'कातिल दीदान'** और **'मुखरिज दीदान'** कहते हैं। २ ये द्रव्य विषके लक्षणोंको कम या दूर करते हैं (उतार, वारण)। जैसे-द्रावकाम्लके लिए चूना, तमाखूके लिए कुचला, फिरङ्गोपदंशके विषके लिए पारा, सर्पविषके लिए सोना आदि। इन्हें अंग्रेजीमें 'Antidotes—एन्टिडोट्स्' कहते हैं **(डॉ. वा. दे.)**। ३ जैसे-बकरीका दूध, एरण्डकी पत्ती, सौंफ, गिलोय। इन्हें अंग्रेजीमें 'Galactogogue-गॅलॅक्टॅगॉग्' कहते हैं **(डॉ. वा. दे.)**।

स्तन्यशोधन-स्तन्यशुद्धिकर—

दूषित (विगड़े हुए) स्त्रियोंके स्तन्य(दूध)को शुद्ध करनेवाले द्रव्यको **स्तन्यशोधन** कहते हैं। जैसे-पाठा, सोंठ, नागरमोथा, गिलोय, अनन्तमूल आदि । **सुश्रुतने वचादि, हरिद्रादि** और **मुस्तादि** गणको **स्तन्यशोधन** लिखा है ।

शुक्रजनन-शुक्रल-वाजीकर-वृष्य—

जो द्रव्य पुरुषके शुक्र धातु(वीर्य)को उत्पन्न करने और बढ़ानेवाला हो उसको **शुक्रजनन** या **शुक्रल** कहते हैं । यह वर्ग **वाजीकर** वर्गका एक भेद है । जिस द्रव्यके सेवनसे सुरत (मैथुन) में पुरुष (और स्त्री) को अधिक हर्ष-आनन्द उत्पन्न हो तथा पुरुष बलवान् होकर बिना रुकावटके स्त्रीगमनमें समर्थ हो उसे **वाजीकरण, वाजीकर** या **वृष्य** कहते हैं। इस वर्गके चार अवान्तर भेद-वर्ग हैं। (१) जिस द्रव्यसे शुक्र(वीर्य)की उत्पत्ति और वृद्धि हो उसको **शुक्रजनन, शुक्रल** या **शुक्र-वर्धन** कहते हैं; जैसे-वृषण, कवाँचके बीज, विदारीकन्द, शतावरी, सालम पंजा, गायका घी आदि। इस वर्गका प्रधान कार्य शुक्रको उत्पन्न करना और बढ़ाना है (देह-बलकर) । ये द्रव्य साक्षात् कामोत्तेजक होते हैं या नहीं भी होते । (२) **शुक्र-स्रुतिकर-शुक्रप्रवर्तक-कामोत्तेजक**-ये द्रव्य साक्षात् शुक्रकी वृद्धि नहीं करते, परन्तु कामोत्तेजन करते हैं (मनोबलकर); जैसे स्त्रीस्पर्श, अकरकरहा, मकरध्वज, कस्तूरी आदि। (३) कुछ द्रव्य शुक्रजनक और प्रवर्तक दोनों होते हैं (देहमनोबलकर); जैसे-दूध, उड़द, भिलावेका मग्ज आदि । इनको **शुक्रस्रुति-वृद्धिकर** कहते हैं। (४) **शुक्रस्तम्भन**-ये द्रव्य शुक्रधातुका स्तम्भन करके सुरतकालको दीर्घ करते हैं; जैसे-जायफल, अफीम आदि[१] ।

---

१ "येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीव लभते नरः। व्रजेच्चाप्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥" (च. चि. अ. २. पा. ४)। शुक्रस्रुतिकरं किञ्चित् किञ्चिच्छुक्रविवर्धनम्। स्रुतिवृद्धिकरं किञ्चित्त्रि-विधं वृष्यमुच्यते ॥ सेव्यमानो यदौचित्याद्वाजीवात्यर्थवेगवान्। नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरण-मुच्यते ॥" (सु. चि. अ. २६)। "तत् त्रिविधं-जनकं, प्रवर्तकं, जनकप्रवर्तकं चेति। तत्र जनकं मांसघृतादिकं, ××××× प्रवर्तकमुच्चटाचूर्णादिकं, ××× जनकप्रवर्तकं तु गव्यघृत-गोधूम-माष-नक्राण्डादिकम् । केवलं देहबलकरं जनकं गोधूमादिकं, केवलमनोबलकरं संकल्पादिकं तु प्रवर्तकं, घृत-क्षीरादि देहमनोबलकरं सदुभयार्थकर(जनक-प्रवर्तक) मिति **(ड)**। **"यस्माद्द्रव्या-द्भवेत्** स्त्रीषु हर्षो वाजीकरं तु तत्। यथा नागबलाद्याः स्युर्बीजं च कपिकच्छुजम् ॥ यस्माच्छुक्रस्य वृद्धिः स्याच्छुक्रलं तु तदुच्यते। यथाऽश्वगन्धा मुसली शर्करा च शतावरी ॥ दुग्धं माषाश्च भल्लात-फलमज्जाऽऽमलानि च। प्रवर्तकानि कथ्यन्ते जनकानि च रेतसः॥ प्रवर्तनी स्त्री शुक्रस्य रेचनं बृहतीफलम्। जातीफलं स्तम्भकं च" (शा. प्र. खं. अ. ४) । **वाजीकर**—ये द्रव्य मैथुनेच्छा और शिश्नेन्द्रियकी शक्तिको बढ़ाते हैं। जैसे-कुचला, भाँग, फॉस्फॉरस, कॅन्थॅरिडिस् । इनमें (१) कई द्रव्य शिश्नेन्द्रियकी नाड़ीके केन्द्रपर प्रत्यक्ष क्रिया करते हैं; जैसे कुचला। (२) कई द्रव्य मूत्राशय और मूत्रनलिकाका क्षोभ करके अप्रत्यक्ष रीतिसे यह क्रिया करते हैं; जैसे-कॅन्थॅरि-डिस्। इस वाजीकर वर्गके तीन अवान्तर भेद किये जाते हैं—(१) **स्तम्भन—शुक्रस्रावके**

स्नेहोपग—

जो द्रव्य घृत-तैल आदि स्नेहन द्रव्योंके साथ पान-आदिमें प्रयुक्त किये जानेपर उनकी स्नेहन शक्तिको बढ़ाता है उसे **स्नेहोपग** कहते हैं;[१] जैसे-मुनक्का, मुलेठी, मेदा, विदारीकन्द आदि।

स्वेदोपग—

जो द्रव्य अग्नि आदिकी स्वेदन क्रियामें सहायक रूपमें प्रयुक्त किये जानेपर स्वेद (पसीना) लानेमें सहायक होते हैं, उनको **स्वेदोपग** कहते हैं; जैसे-सहिंजना, आक, एरण्ड, तिल आदि।

वमनोपग—

जो द्रव्य मैनफल आदि वमन द्रव्योंके साथ सहायक रूपमें प्रयुक्त किये जानेपर उनकी शक्तिको बढ़ाता है, उसको **वमनोपग** कहते हैं; जैसे-शहद, मधु, मुलेठी, सैंधव लवण आदि।

विरेचनोपग—

जो द्रव्य निशोथ आदि विरेचन द्रव्योंके साथ सहायक रूपमें प्रयुक्त किये जानेपर उनकी शक्तिको बढ़ाता है, उसको **विरेचनोपग** कहते हैं; जैसे-मुनक्का, गंभारीके फल, उन्नाब आदि।

आस्थापनोपग—

जो द्रव्य पाटला (पाड़र) आदि आस्थापन द्रव्योंके साथ सहायकरूपमें प्रयुक्त किये जानेपर उनकी शक्तिको बढ़ाता है, उसको **आस्थापनोपग** कहते हैं; जैसे-बेल, सर्षप, बच, इन्द्रयव, सौंफ, मुलेठी आदि।

अनुवासनोपग—

जो द्रव्य अनुवासन (अनुवासन बस्तिमें उपयोगी स्नेह) द्रव्योंके साथ सहायक रूपमें प्रयुक्त होनेपर उनकी शक्तिको बढ़ाता है, उसको **अनुवासनोपग** कहते हैं; जैसे-रास्ना, देवदार, बेल, मैनफल, सौंफ, पुनर्नवा आदि।

समयको बढ़ानेवाले द्रव्य; जैसे-जायफल। (२) **वृष्य**—हर्ष (कामेच्छा) बढ़ानेवाले और वीर्यको बढ़ा कर गाढ़ा करनेवाले द्रव्य; जैसे-**वृषण**। (३) **वाजीकर**—मैथुनशक्ति बढ़ानेवाले तथा मैथुनके अनन्तर होनेवाली थकानको रोकनेवाले द्रव्य (जैसे-सालम पंजा)। इन्हें अंग्रेजीमें 'Aphrodisiac—ॲफ्रॉडिसिॲक्' कहते हैं" (डॉ. वा. दे.)। यूनानी वैद्यकमें वाजीकर द्रव्यको '**मुकव्वी बाह**' और '**मुन्ही**', शुक्रजननको '**मुवल्लिद मनी**' और शुक्रस्तम्भनको '**मुमसिक मनी**' कहते हैं।

१ स्नेहनस्य सर्पिरादेः स्नेहनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति स्नेहोपगम् (एवं स्वेदोपगादयः)। मृद्वीकादिस्नेहोपगयुक्तस्य सर्पिरादेः स्नेहने प्रकर्षवती शक्तिर्भवतीत्यर्थः।

शिरोविरेचनोपग—

शिरोविरेचनके लिये उपयोगी द्रव्योंको **शिरोविरेचनोपग** कहते हैं; जैसे-मालकंगनी, नकछिंकनी, काली मिर्च, सहिंजना आदि[१] ।

छर्दिनिग्रहण-वमिहर—

जो द्रव्य वमन(उलटी)को तथा उसके कारणभूत दोषको शान्त करे, उसे **छर्दिनिग्रहण** या **वमिहर** कहते हैं; जैसे-जामुन और आमकी कोंपल, दाडिम, खस, धानका लावा, कपूरकचरी, मयूरपिच्छकी भस्म (मसी) आदि । **सुश्रुतने** आरग्वधादि, पटोलादि और गुडूच्यादि गणको **वमिहर** लिखा है[२] (सु. सू. अ. ३८) ।

तृष्णानिग्रहण-पिपासाहर-तृट्प्रशमन—

जो द्रव्य तृषा(प्यास)को बंद करें और उसके कारणभूत दोषको शान्त करे, उसको **तृष्णानिग्रहण, पिपासाहर** या **तृट्प्रशमन** कहते हैं; जैसे-धमासा, नागरमोथा, चन्दन, धनिया आदि । **सुश्रुतने** सारिवादि, उत्पलादि तथा त्र्प्वादि गणको **पिपासाहर** लिखा है । (सु. सू. अ. ३८) ।

हिक्कानिग्रहण-हिक्काघ्न—

जो द्रव्य हिक्का(हिचकी)को दूर करे और उसके निमित्तभूत दोषको शान्त करे उसको **हिक्कानिग्रहण** कहते हैं; जैसे कचूर, पुष्करमूल, छोटी पीपल, ककड़ासिंगी आदि । जो द्रव्य वमनको वंद करते हैं वे प्रायः हिचकीको भी बंद करते हैं ।

पुरीषसंग्रहणीय, सांग्राहिक, संग्राही, ग्राही—

जो द्रव्य पतले तथा बार-बार और अति मात्रामें सरनेवाले पुरीष(मल)को बाँधें, उन्हें **पुरीषसंग्रहणीय विड्ग्रहण, सांग्राहिक, संग्राही या ग्राही,** कहते हैं । जैसे—आमकी गुठली, सोनापाठा, मोचरस, लोध, धायके फूल आदि (**च.**) । जो द्रव्य दीपन हो, आमादिकका पाचन करनेवाला हो और उष्णवीर्य होनेसे द्रवरूप मलादिकोंका शोषण करनेवाला हो, उसे **ग्राही** कहते हैं; जैसे—सोंठ, जीरा, गजपीपल (**शा.**) । **सुश्रुतने** न्यग्रोधादिगणको **संग्राही,** रोध्रादि गणको **स्तम्भन** तथा

---

१ चरकसंहितामें स्नेहोपग, स्वेदोपग, वमनोपग, विरेचनोपग और आस्थापनोपग गणोंमें जो द्रव्य आये हैं वे स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन और आस्थापनके प्रधान द्रव्योंसे भिन्न हैं । स्नेहोपग आदि द्रव्य प्रधानतया स्नेहन आदि कर्म नहीं करते, किंतु स्नेहन आदि द्रव्योंकी शक्ति बढ़ाकर उनकी क्रियाओंमें सहायता करते हैं । शिरोविरेचनोपग गणमें शिरोविरेचनमें सहायक द्रव्य नहीं, किंतु प्रधान शिरोविरेचन द्रव्य ही लिये गये हैं । **शिरोविरेचन**—(Errhines—एर्‌हाइन्स) ये द्रव्य नाकमें श्लेष्माको बढ़ाते हैं । इनसे छींकें नहीं आतीं; जैसे-अॅमोनिया, सिरकेकी भाफ **छिक्काजनन** (Sternutatories—स्टर्न्युटॅटरीज़)—ये द्रव्य सूँघनेसे छींकें आती हैं; जैसे-तमाखू, कुटकी, सोंठ, मिर्चे, एपिकाक्युआना, कायफलकी छाल । (**डॉ. वा. दे.**) । छिक्काजनन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुअत्तिस्'** कहते हैं । २ **छर्दिनिग्रहण**-'Anti-emetic—अॅन्टिइमेटिक्' (**डॉ. वा. दे.**) । छर्दिनिग्रहण द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुसक्किन कै'** कहते हैं ।

प्रियङ्ग्वादि और अम्बष्ठादि गणको **पक्वातिसारनाशन** लिखा है। सांग्राहिक द्रव्य वायुके गुणोंकी अधिकतावाले होते हैं, क्योंकि वायु शोषण करनेवाला है (**सु.**)। **रसवैशेषिक सूत्रमें** सांग्राहिक द्रव्यको लवण रस तथा तीक्ष्ण और उष्ण गुणको छोड़ कर अन्य रस-गुणवाला तथा पृथिवी और वायुके गुणोंकी अधिकतावाला कहा है। **शार्ङ्गधरने** शोषण क्रियाका हेतु 'उष्ण होनेसे' यह दिया है। **सुश्रुतने** इसका कारण वायु कहा है। इस मतभेदका समाधान करते हुए **आढमल्ल** कहते हैं कि, संग्राहक द्रव्योंके दो भेद हैं—**पक्वसंग्राहक** और **आमसंग्राहक**। इनमें जो द्रव्य ग्रहणीमें आमको पका, जठराग्निको प्रदीप्त कर और वहाँ स्थित द्रव मलका शोषण करके संग्रहण करता (मलको बाँधता) है, उसे **उष्णसंग्राहक** कहते हैं। जो द्रव्य अतिसारादिमें पक्व मल आदिका स्तम्भन करके संग्रहण करता है, उसे **शीतसंग्राहक** कहते हैं। ये पिछले द्रव्य वातगुणकी अधिकतावाले होते हैं।

वक्तव्य—अतिसार और ग्रहणी रोगमें जब पतले दस्त आते हों तब **पुरीषसंग्रहणीय** द्रव्योंका प्रयोग किया जाता है। जब मल आमलक्षणयुक्त आता हो तब सोंठ, जीरा, सोंफ, जायफल आदि **उष्णसंग्राहक** द्रव्योंका तथा जब मल पक्वलक्षणयुक्त आता हो तब लोध्र, मोचरस, धातकीपुष्प आदि **शीतसंग्राहक** द्रव्योंका प्रयोग करना चाहिये। **चरकके** उदाहरणरूप लिखे हुए द्रव्य **शीतसंग्राहक** तथा **शार्ङ्गधरके** उदाहरणरूप लिखे हुए द्रव्य **उष्णसंग्राहक** हैं[1]।

---

१ पुरीषस्यातिसरतः संग्रहणं संग्रहः, तत्र हितं पुरीषसंग्रहणीयम् (**यो.**)। "सांग्राहिकमनिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्।" (सु. सू. अ. ४१)। "सांग्राहिकं विजानीयात् पृथिव्यनिलसंभवम्।" (र. वै. पृ. १८७)। "लवण-तीक्ष्णोष्णेभ्योऽन्यत् सांग्राहिकं, तत् पार्थिववायव्यम्" ॥ (र. वै. पृ. १७९)। "दीपनं पाचनं यत् स्यादुष्णत्वाद्द्रवशोषकम्। ग्राहि तच्च यथा शुण्ठी जीरकं गजपिप्पली।" (शा. प्र. ख. अ. ४)। ननु संग्राहकमनिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्, तत् कथमुक्तम्—उष्णत्वादिति। उच्यते—पक्वामसंग्राहकत्वेन द्विविधं हि संग्राहकम्। तत्र यद्ग्रहण्यामामं संपाच्य वह्निं कृत्वा तत्रस्थं द्रवं च शोषयित्वा स्तम्भनं करोति तदुष्णसंग्राहकं ज्ञेयं, यद्द्रव्यमतीसारादौ पक्वमलादिकं संस्तभ्य संग्रहं करोति तच्छीतसंग्राहकं ज्ञेयम्, एतदनिलगुणभूयिष्ठमित्यदोषः (**आ.**)। "**स्तम्भन, ग्राही, संग्राहक** (Astringents—ॲस्ट्रिन्जन्ट्स्)—(१) **स्तम्भन**—रूक्ष, कषाय और शीतगुणके कारण आँतोंमें रहे हुए पतले द्रव्यों और स्रावोंको रोकनेवाले द्रव्य। ये द्रव्य शीघ्र और जोरदार क्रिया करते हैं; जैसे-अफीम, कुड़ेकी छाल, सोनापाठा। (२ अ) **ग्राही**—अग्निको प्रदीप्त और आमका पचन करके आँतोंके पतले द्रवोंको गाढ़ा किंवा शुष्क करनेवाले द्रव्य। ये द्रव्य उष्णवीर्य होते हैं; इनकी क्रिया धीरे-धीरे होती है। जैसे-सोंठ, जीरा, बड़ी पीपल; (Carminatives—कार्मिनेटिव्स्; Aromatics—ॲरोमटिक्स्)। (२ ब) **संग्राहक**—कषाय गुणके कारण पेशियोंका संकोच करनेवाले तथा संयोगको प्राप्त अङ्गोंमें रूक्षता लानेवाले द्रव्य। ये आँतोंकी लसीका या स्रावको कम करके उनको गाढ़ा करते हैं। जैसे-माजूफल, तथा माजूफलमें स्थित कषायाम्ल जिन-जिन द्रव्योंमें हो वे द्रव्य, द्रावकाम्ल, फिटकिरी" (**डॉ. वा. दे.**)। **यूनानी वैद्यकमें संग्राहक** औषधको '**काबिज**' और स्तम्भनको '**हाबिस**' कहते हैं।

पुरीषविरजनीय—

जो द्रव्य दोषदूषित पुरीष(मल)के दोषको दूर करके उसका वर्ण स्वाभाविक कर दे, उसको **पुरीषविरजनीय** (मलका स्वाभाविक रंग लानेवाले द्रव्य) कहते हैं; जैसे—जामुन, कवाँच, कमल, मुलेठी, गन्धाबिरोजा आदि ।

मूत्रसंग्रहणीय-मूत्रसंग्रहण—

जो द्रव्य बार-बार अतिप्रमाणमें आनेवाले मूत्रको रोके (कम करे), उसको **मूत्र-संग्रहणीय** या **मूत्रसंग्रहण** कहते हैं; जैसे—जामुन, आम-बड-गूलर-पीपल इन वृक्षोंकी छाल, भिलावा आदि[१] ।

मूत्रविरजनीय-मूत्रविरजन—

जो द्रव्य दोषदूषित मूत्रके दोषको दूर करके उसका वर्ण-रंग स्वाभाविक कर दे, उसको **मूत्रविरजनीय** कहते हैं; जैसे—कमलके फूल, मुलेठी, धायके फूल आदि ।

मूत्रविरेचनीय—

जो द्रव्य मूत्रका विरेचन (प्रवृत्ति-खुलासा) करे, उसे **मूत्रविरेचनीय, मूत्रविरेचन, बस्तिशोधन** या **मूत्रल** कहते हैं; जैसे—बाँदा, ककड़ी, विदारीकन्द, गोखरू, पाषाण-भेद, दर्भके मूल, पुनर्नवा, कलमी शोरा आदि । **सुश्रुत**ने परूषकादि और तृणपञ्चमूल इन दो गणोंको **मूत्रदोषहर** लिखा है[२] (सु. सू. अ. ३८) ।

कासहर—

जो द्रव्य कास(खाँसी)को नष्ट करे, उसे **कासहर** कहते हैं; जैसे—मुनक्का, हरड, ककड़ासिंग, अडूसा आदि[३] ।

---

१ **मूत्रसंग्रहणीय** (Urine diminisher—यूरिन डिमिनिशर्)—ये द्रव्य मूत्रको कम करते हैं; जैसे—अफीम, जस्तकी भस्म, तगर (**डॉ. वा. दे.**)। २ **मूत्रजनन** (Diuretics—डाइयुरेटिक्स्)—ये द्रव्य मूत्रग्रन्थियोंके उत्तेजक तथा मूत्रको बढ़ानेवाले होते हैं । (१) कई द्रव्य मूत्रग्रन्थियोंको साक्षात् उत्तेजित करते हैं; जैसे—कबाबचीनी, काली मिर्च, अनन्तमूल, हाउबेर, गन्धाबिरोजा, कॅन्थॅरिडिस्, मद्य । इन्हें **मूत्रजनन** (Stimulating diuretics—स्टिम्युलेटिंग डाइयुरेटिक्स्) कहते हैं । (२) कई द्रव्य मूत्रग्रन्थियोंमें रक्तका आयात और रक्तका दबाव बढ़ाते हैं; जैसे—जंगली प्याज, कहवा (कॉफी), डिजिटेलिस, पुनर्नवा । इन्हें **मूत्रविरेचनीय** (Hydragogue diuretics—हाईड्रॅगॉग् डाइयुरेटिक्स्) कहते हैं। ये मूत्र जोरसे (बलात्) उत्पन्न करनेवाले द्रव्य हैं जैसे—बांदा, गोखरू, खस, बिसखपरा, पाखाणभेद, डाभ, काँस, रोहिषघासके मूल । (३) कई द्रव्य मूत्रग्रन्थियोंको धो डालते हैं; जैसे—पानी, चावलका माँड, जौखार । इनको **मूत्रविरजनीय** (Refrigerant diuretics—रिफ्रिजरन्ट् डाइयुरेटिक्स्) कहते हैं; मूत्रका स्वाभाविक रंग लानेवाले द्रव्य (**डॉ. वा. दे.**) । मूत्रविरेचनीय द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुदिर्रबौल'** कहते हैं । ३ कासहर द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **मुजय्यल सुर्फा'** कहते हैं।

श्वासहर—

जो द्रव्य श्वास रोगको नष्ट करे, उसे **श्वासहर** कहते हैं; जैसे-कचोरा, पुष्करमूल, हींग, अगर, तुलसी, सोम आदि। **सुश्रुतने** विदारिगन्धादि, सुरसादि और दशमूल-इन गणोंको **श्वासहर** लिखा है (सु. सू. अ. ३८)।

शोथहर-श्वयथुविलयन—

जो द्रव्य शोथ(सूजन)को दूर करे, उसे **शोथहर** कहते हैं; जैसे-दशमूल, पुनर्नवा आदि।

श्वयथुकर-शोथजनन—

जो द्रव्य शोथ उत्पन्न करे उसे, **श्वयथुकर** या **शोथजनन** कहते हैं; जैसे-भिलावां। **नागार्जुनने** श्वयथुकर द्रव्यको मधुर और कषाय रस छोड़कर अन्य चार (अम्ल, लवण, कटु और तिक्त) रस वाला, तीक्ष्ण-उष्ण और रूक्ष-इन गुणोंवाला एवं अग्नि और वायु महाभूतकी अधिकतावाला बताया है।

ज्वरहर[1]—

जो द्रव्य ज्वरके वेग और सन्तापको कम करे, उसे **ज्वरहर** या **ज्वरप्रशमन** कहते हैं; जैसे-अनन्तमूल, चीनी, मजीठ, त्रिफला, पित्तपापड़ा आदि।

श्रमहर—

श्रम(थकान)को दूर करनेवाले द्रव्यको **श्रमहर** कहते हैं; जैसे-मुनक्का, खजूर, चिरौंजी, अनार (दाड़िम), अंजीर, फालसा, गन्ना आदि।

दाहप्रशमन[2]—

जो द्रव्य बाह्य या आभ्यन्तर दाह(जलन और उष्णता)को शान्त करे, उसको

---

१ **ज्वरहर** (Antipyretics—ॲन्टिपाइरेटिक्स्; Antifebrile—ॲन्टिफेब्राइल; Febrifuge—फेब्रिफ्युज्)-ये द्रव्य ज्वरमें किंवा किसी भी रोगमें उष्णता कम करते हैं। इनकी शरीरपर क्रिया अनेक प्रकारसे होती हैं। (१) कई त्वचासे उष्णताका अपहरण करते हैं; जैसे-ठण्ढे जलसे अङ्ग धोना, स्वेदन द्रव्य। (२) कई त्वचाकी केशिकाओंको विकसित करते हैं, जिससे परिणामरूपमें उष्णता स्वयं बाहर निकलती है; जैसे-मद्य, सुरमा, बछनाग। (३) कई ज्वर उत्पन्न करनेवाले विषका नाश करते हैं; जैसे-सोमल। (४) कई उष्णताके केन्द्रोंपर शामक क्रिया करते हैं, जिससे उष्णता उत्पन्न नहीं होती; जैसे-कुनैन, वेदमुश्क। ज्वरहर द्रव्योंका एक भेद **कालज (नियतकालिक) ज्वरनाशन** (Anti-periodics—ॲन्टिपीरिओडिक्स्) है। ये द्रव्य बारीसें आनेवाले रोगोंका विष नष्ट करते हैं, इनसे ज्वर भी कम होता है; जैसे-कुनैन, सोमल (**डॉ. वा. दे.**)। ज्वरहर द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'दाफिअ हुम्मा'** कहते हैं। नियतकालिकज्वरनाशनको यूनानी वैद्यकमें **'मानिअ नौबत हुम्मा'** कहते हैं।

२ **दाहप्रशमन** (Refrigerants-रिफ्रिजरन्ट्स्)—ये द्रव्य ज्वरमें उष्णता कम करते हैं और गले तथा मुखमें आर्द्रता ला कर तृषाको शान्त करते हैं। जैसे-फलोंका रस, बहुत हल्का द्रावकाम्ल, स्वेदजनक द्रव्य (**डॉ. वा. दे.**)। दाहप्रशमन औषधको यूनानी वैद्यकमें **'मुत्फी'**, **'मुबर्रिद'** **'तक्लील हरारत'** और **'मुसक्किन हरारत'** कहते हैं।

दाहप्रशमन या **निर्वापण** कहते हैं; जैसे—धानका लावा (लाजा), चन्दन, चीनी, कमल, अनन्तमूल, गिलोय, खस आदि । **सुश्रुतने** सारिवादि, अञ्जनादि, न्यग्रोधादि, गुडूच्यादि और उत्पलादि गणको **दाहनाशन** लिखा है (सु. सू. अ. ३८) ।

दहन—

जो द्रव्य अग्निकी तरह त्वचा-मांस आदिको जला दे, उसको **दहन** कहते हैं; जैसे-क्षार ।

शीतप्रशमन—

जो द्रव्य शीत (ठण्ड लगने) को दूर करे और रोके, उसे **शीतप्रशमन** कहते हैं; जैसे-तगर, अगर, अजवायन, बच, कूठ, चोरा आदि ।

उदर्दप्रशमन-कोठनाशन—

उदर्द (पित्ती-ददोड़े उठने) को शान्त करनेवाले द्रव्यको **उदर्दप्रशमन-कोठनाशन** कहते हैं; जैसे-चिरौंजी, सप्तपर्ण, अर्जुन, विजयसार आदि ।

अङ्गमर्दप्रशमन—

जो द्रव्य अङ्गमर्द (शरीर दबाने जैसी पीड़ा) को शान्त करे, उसे **अङ्गमर्दप्रशमन** कहते हैं; जैसे-सरिवन, पिठवन, एरण्ड आदि ।

शूलप्रशमन—

जो द्रव्य शूल रोगको शान्त करे, उसको **शूलप्रशमन** कहते हैं; जैसे-पीपल, पीपलामूल, सोंठ, अजमोद, जीरा आदि ।

शोणित(ता)स्थापन[१]—

जो द्रव्य रक्तस्रावको रोके, उसे **शोणितास्थापन** कहते हैं **(ड., यो.)**; रुधिरकी

---

१ शोणितस्य दुष्टस्य दुष्टिमपहृत्य तत् प्रकृतौ स्थापयतीति शोणितस्थापनम् (च. द.) । शोणितं स्थापयति अतिप्रवृत्तं स्तम्भयतीति शोणितस्थापनम्, एवं वेदनास्थापनादयः (यो.) । रुधिरसंस्थापनं पुरुषस्य रुधिरवृद्धि-स्थैर्यकरम् (इ.) । शोणितास्थापनं शोणितातिप्रवृत्तिस्तम्भनम्, (सु. चि. १।४८ ड.) । "**शोणितास्थापन** (Hœmatinics—हिमॅटिनिक्स्; Hœmatics—हिमॅटिक्स्; Blood tonics—ब्लड् टॉनिक्स्) रक्तको पूर्व स्थितिपर लानेवाले द्रव्य । ये द्रव्य रक्तकी लाली बढ़ाते हैं, रक्तको बढ़ाते हैं और इनके द्वारा रक्तकण अच्छे होते हैं; जैसे-लोह, प्रवाल, जवाखार, साबरसींगकी भस्म, कैल्शियम् (सुधा-चूना) के बने द्रव्य, कोयलेका पत्थर (Manganese—मॅग्नॅनीझ्), फॉस्फॉरस्, फॉस्फॉरस्के चूनेके मेलसे बने क्षार, मच्छीका तेल । **रक्तस्कन्दन** (सु. सू. अ. १४. श्लो. ३३) (Styptics—स्टिप्टिक्स्)—ये द्रव्य चुपड़े जानेपर अपने कषाय गुणके कारण तथा प्रत्यक्ष संयोगसे रक्तका स्राव बंद करते हैं, ये रक्तको जमाते हैं किंवा केशिकाओंको संकुचित करते हैं; जैसे-फिटकिरी, माजूफल, कसीस । ये केशिकाओंको संकुचित करके स्रावको बन्द करते हैं **(स्कन्दन)** । कषाय द्रव्य रक्तको जमा करके स्राव बन्द करते हैं **(संधान)** । **रक्तसंग्राहिक** (Hæmostatics—हिमॉस्टॅटिक्स्) ये द्रव्य पेटमें पहुँचकर सिराओं द्वारा बहते हुए रक्तस्रावको रोकते हैं । जैसे-कैल्शियम् क्लोराइड्, अर्गट, माजूफल, गंधाविरोजा, सीसा, रानघेवडा (जंगली सेम) के मूल ।" **(डॉ. वा. दे.)** ।

वृद्धि और स्थिरता करनेवाले द्रव्यको **शोणितास्थापन** कहते हैं (इन्दु); जो द्रव्य दूषित रक्तकी दुष्टि (विकृति) को दूर करके उसको स्वाभाविक स्थितिमें लावे उसको **शोणितस्थापन** कहते हैं (च. द.); जैसे–मुलेठी, केशर, मोचरस, लोध, गेरू आदि। यहाँ **शोणितस्थापन** शब्दसे टीकाकारोंने तीन वर्ग लिये हैं—(१) दुष्ट रक्तको शुद्ध करनेवाले (**रक्तशोधक-रक्तप्रसादन**), (२) **रक्तस्तम्भन** और (३) **रक्तवर्धक** द्रव्य।

वेदनास्थापन[1]—

जो द्रव्य वेदना (पीड़ा) को नष्ट-शान्त करे, उसे **वेदनास्थापन** कहते हैं; जैसे–शाल (सखुआ), कायफलकी छाल, पद्माक, अशोक आदि।

संज्ञास्थापन—

जो द्रव्य नष्ट हुई संज्ञा (ज्ञान-होश) को पुनः लानेवाला हो, उसको **संज्ञास्थापन** कहते हैं; जैसे–हींग, बच, चोरा, ब्राह्मी, जटामांसी, गूगल आदि।

प्रजास्थापन[2] गर्भस्थापन—

जो द्रव्य प्रजा (गर्भ) की उत्पत्ति या स्थितिमें बाधक दोषको नष्ट करके प्रजाकी उत्पत्ति करे (गर्भधारण कराए), उसको **प्रजास्थापन** कहते हैं; जैसे–ब्राह्मी, दूर्वा (दूब) आदि।

वयःस्थापन–वयस्य[3]—

जो द्रव्य वय–तरुणावस्था (जवानी) को स्थिर रखे, उसे **वयःस्थापन** कहते हैं; जैसे–गिलोय, हरड़, आँवला आदि। जरावस्थाको रोक कर यौवनकी रक्षा करे उसे **वयस्य** कहते हैं (र. वै.)।

लङ्घन[4]—

जो द्रव्य (गुण और कर्म भी) शरीरमें हलकापन लाता है, उसे **लङ्घन** कहते हैं। **लङ्घन** द्रव्य प्रायः लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर और कठिन–इन नौ

---

१ **वेदनास्थापन** (Anodynes–ॲनोडाइन्स्; Analgesics—ॲनल्जेसिक्स्)—ये द्रव्य वेदना कम करते हैं। इनकी क्रिया मस्तिष्क किंवा ज्ञाननाड़ियों पर होती है। जैसे–अफीम, गाँजा, बेलाडोना, बछनाग (डॉ. वा. दे.)। २ **प्रजास्थापन**—ये द्रव्य प्रजा (सन्तान) का प्रतिबन्ध करनेवाले रोगको दूर करके प्रजोत्पत्तिमें सहायता देते हैं; जैसे–फिरङ्गोपदंशमें सोना, पूयमेहमें चांदी इत्यादि (डॉ. वा. दे.)। ३ "वयसे हितं वयस्यम्। जरामभिहत्य यौवनं रक्षति।" (र. वै. पृ. १८३)। **वयःस्थापन** (Youth preserver—यूथ प्रिझर्वर; Youth restorer—यूथ रिस्टोरर)—बुढ़ापेको प्रकट न होने देनेवाले द्रव्य (डॉ. वा. दे.)। ४ "यत्किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्। लघूष्ण-तीक्ष्ण-विशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं सरम्॥ कठिनं चैव यद्द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम्।" (च. सू. अ. २२)। "चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्।" (च. सू. अ. २२)। "शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम्।" (अ. हृ. अ. ४)।

गुणोंसे युक्त होता है। 'प्रायः' कहनेका तात्पर्य यह है कि-ऐसे गुणोंवाला होनेपर भी कोई द्रव्य लङ्घन नहीं होता; जैसे—छोटी पीपल वृष्य होनेसे उसका संतर्पण कार्य देखा जाता है। इसी प्रकार **बृंहण** आदिमें भी 'प्रायः' शब्दका तात्पर्य जानना चाहिए। जैसे--कँगनी और सामा शीत होने पर भी शरीरका कर्शन करनेवाले हैं। लङ्घन द्रव्य अग्नि, वायु और आकाश महाभूतकी अधिकतावाले होते हैं। लङ्घन द्रव्योंका कोई विशेष गण-वर्ग नहीं बनाया गया है, परन्तु उसे **चरकने** छः प्रकारके उपक्रमोंमें तथा **वाग्भटने** दो प्रकारके उपक्रमोंमें अन्यतम उपक्रम बताया है। **चरकने** चार प्रकारका शोधन (वमन-विरेचन-आस्थापन-शिरोविरेचन), तृषाको रोकना (जल कम पीना), शुद्ध वायु तथा धूपका सेवन, पाचन और उपवास-ये दस प्रकारके लङ्घन लिखे हैं। इनमें चार प्रकारके शोधन (वमन-विरेचन-आस्थापन-शिरोविरेचन) और पाचन ये द्रव्यरूप हैं और शेष अद्रव्यरूप हैं। **वाग्भटने** शोधन और शमन दो प्रकारका लङ्घन लिखा है। उन्होंने शोधनमें रक्तमोक्षण और द्रव्यरूप लङ्घनमें दीपन अधिक बताया है।

रूक्षण[1]—

जो द्रव्य शरीरमें रूक्षता, खरता तथा विशदता (पिच्छिलताका अभाव) लाता है, उसे **रूक्षण** कहते हैं। जो द्रव्य रूक्ष, लघु, खर, तीक्ष्ण, उष्ण, स्थिर तथा अपिच्छिल हो, वह प्रायः **रूक्षण** होता है। 'प्रायः' कहनेका प्रयोजन यह है कि कोई द्रव्य इन गुणोंवाला होता हुआ भी रूक्षण नहीं होता। जैसे-सरसोंका तेल तथा बकरीका दूध लघु होते हुए भी स्नेहन हैं। स्नेहन द्रव्यके विवरणमें आये हुए 'प्रायः' शब्दका भी यही प्रयोजन जानना चाहिए। जैसे-यव तथा लोबिया गुरु, शीत, सर आदि गुणयुक्त होता हुआ भी रूक्षण होता है। यहाँ यह जानना चाहिए कि लङ्घन द्रव्यके जो गुण कहे हैं वही रूक्षण द्रव्यके भी होते हैं, परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है कि-लङ्घन द्रव्यमें लघु गुणकी प्रधानता होती है और रूक्षण द्रव्यमें रूक्ष गुणकी प्रधानता होती है।

स्नेहन—

जो द्रव्य शरीरमें स्निग्धता, द्रवपना अथवा स्नेहका क्षरण (शरीरसे स्नेह चूना-टपकना सा), मृदुता तथा क्लेद उत्पन्न करे, उसे **स्नेहन** कहते हैं। जो द्रव्य द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीतल, मन्द तथा मृदु गुणवाला हो, वह प्रायः **स्नेहन** होता है; जैसे-घृत, तैल, वसा, मज्जा आदि।[2]

---

१ "रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत् कुर्यात्तद्धि रूक्षणम्। रूक्षं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम् ॥ प्रायशः कठिनं चैव यद्द्रव्यं तद्धि रूक्षणम्।" (च. सू. अ. २२)। रूक्षण द्रव्यको यूनानीवैद्यकमें '**मुजफिफ**' कहते हैं। २ "स्नेहनं स्नेह-विष्यन्द-मार्दव-क्लेदकारकम्। द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम् ॥ प्रायो मन्दं मृदु च यद्द्रव्यं तत् स्नेहनं स्मृतम्।"

स्वेदन—

जो द्रव्य स्तम्भ (अङ्गोंकी निश्चेष्टता-जकड़नासा), गौरव तथा शीतको नष्ट करे और पसीना लावे, उसे **स्वेदन** कहते हैं। जो द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, स्निग्ध वा रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, सर वा स्थिर तथा गुरु हो, वह प्रायः **स्वेदन** होता है[1]।

स्तम्भन—

वमन, अतिसार, रक्तपित्त, अतिस्वेद आदिके रूपमें शरीरसे निकलनेवाले द्रव पदार्थको रोकनेवाला द्रव्य **स्तम्भन** कहलाता है। जो द्रव्य शीत, मन्द, मृदु, श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर तथा लघु—इन नौ गुणोंवाला हो, वह प्रायः **स्तम्भन** होता है **(च.)**। जो द्रव्य रूक्ष, शीत, कषाय रसवाला और वातकर हो, वह **स्तम्भन** होता है; जैसे-कुड़ा और सोनापाठा **(शा.)**। **सुश्रुतने** लोध्रादिगणको **स्तम्भी-स्तम्भन** कहा है।[2]

संशमन—

जो द्रव्य सम अवस्थामें स्थित दोषोंका वमन-विरेचनादिके द्वारा शोधन नहीं करता, एवं उन्हें बढ़ाता भी नहीं—उनका प्रकोपण भी नहीं करता, किंतु बढ़े हुए दोषोंको शरीरके भीतर ही शान्त करता है—पुनः साम्यावस्थामें लाता है, उसे **संशमन** या **शमन** कहते हैं। जैसे-गिलोय। 'दोष' शब्दसे दुष्ट वातादि और उनके कार्यभूत व्याधि दोनों लिये जाते हैं। दोषशब्दसे वातादिदोषपक्षमें अर्थ ऊपर दिया है। व्याधिपक्षमें—'उत्पन्न व्याधिका शमन करनेवाला और अनुत्पन्न व्याधिको उत्पन्न न करनेवाला' यह अर्थ लेना चाहिए **(शा.)**। संशमन द्रव्य आकाशगुणकी अधिकता-

---

(च. सू. अ. २२)। **स्नेहन**-(Demulcents—डिमल्सन्ट्स्)—**इन** औषधोंका स्पर्श जिस जिस भागसे होता है, उस उस भागका ये द्रव्य रक्षण करते हैं। ये स्निग्ध-तैलयुक्त होते हैं; जैसे-अलसी, बादाम, निशास्ता, मुलेठी **(डॉ. वा. दे.)**। स्नेहन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुरत्तिब'** कहते हैं।

१ "स्तम्भ-गौरवशी-तघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्। उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्॥ द्रव्यं गुरु च यत् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते॥" (च. सू. अ. २२)। स्वेदन—इन द्रव्योंसे पसीना छुटता है। इनकी क्रिया अनेक प्रकारसे होती है (१) सुषुम्णाकाण्डके स्वेदकेंद्रको उत्तेजित करके; (२) त्वचाकी रक्तवाहिनियोंको विकसित करके, जैसे—सुरमा—इपिक्युआना आदि द्रव्य; (३) स्वेदग्रन्थियोंमें स्थित नाड़ियोंके सिरोंको उत्तेजित करके **(डॉ. वा. दे.)**। स्वेदन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुअरिक** कहते हैं। २ "स्तम्भनं स्तम्भयति यद्गतिमन्तं चलं ध्रुवम्। शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्॥ यद्द्रव्यं लघु चोदिष्टं प्रायस्तत् स्तम्भनं स्मृतम्।" (च. सू. अ. २२)। "रौक्ष्याच्छैत्यात् कषायत्वाल्लघुपाकाच्च यद्भवेत्। वातकृत् स्तम्भनं तत् स्याद्यथा वत्सकटुण्टुकौ॥" (शा. प्र. खं. अ. ४)।

वाला होता है (सु.) । संशमन द्रव्य वायु, जल और पृथिवीके गुणोंकी अधिकतावाला होता है[1] (र. वै. भाष्य) ।

संशमन द्रव्यके **वातसंशमन, पित्तसंशमन** और **कफसंशमन** ये तीन भेद करके उनके उदाहरणार्थ तीन वर्ग सु. सू. अ. ३८, अ. सं. सू. अ. १४, तथा अ. हृ. सू. अ. १५ में दिये गये हैं । वे जिज्ञासुओंको वहीं देखने चाहिएँ । यहाँ विस्तारभयसे नहीं दिये गये हैं ।

आयुर्वेदमें सब प्रकारके औषधद्रव्योंका **शोधन** और **शमन** इन दो वर्गोंमें अन्तर्भाव माना गया है ("शोधन-शमनव्यतिरिक्तस्यौषधस्याभावात्" **हे.**) जो द्रव्य प्रकुपित दोषोंको वमन, विरेचन आदि द्वारा शरीरसे बाहर निकाले उनको **शोधन** और जो द्रव्य दोषोंको बाहर न निकाले परन्तु उनको शरीरके भीतर ही शान्त करके पुनः समावस्थामें लावे उसे **शमन** कहते हैं । शमनके विषयमें थोड़ा कहनेका होनेसे शमनकी व्याख्या पहले देकर अब शोधनके भेद और उनकी व्याख्या दी जाती है ।

वमन[2]–ऊर्ध्वभागहर–छर्दनीय—

जो द्रव्य ऊर्ध्वभाग(मुख)से दोषोंको बाहर निकाले उसे **वमन, ऊर्ध्वभागहर** या **छर्दनीय** कहते हैं । वमन द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी और विकाशी गुणोंवाले होते हैं । वे अपने वीर्य(शक्ति–प्रभाव)से हृदयमें जा, वहाँसे अपने सूक्ष्म और व्यवायी गुणसे धमनियोंद्वारा समग्र शरीरमें पहुँच, स्थूल–सूक्ष्म सब स्रोतोंसे दोषोंको अपने आग्नेय (उष्ण) गुणसे द्रवीभूत और तीक्ष्णतासे विच्छिन्न करते हैं (उखाड़ते हैं) । वह द्रवीभूत और विच्छिन्न (अपने स्थानसे हटा हुआ) दोष (अपक्व पित्त, कफ तथा अन्न) वमनसे पूर्व शरीरके स्नेहभावित किये जानेके कारण, जैसे स्नेह लगाये हुए पात्रमें शहद नहीं चिपकता इस प्रकार शरीरमें कहीं भी न चिपकता हुआ वमन द्रव्यके सूक्ष्मस्रोतोनुसरण और आमाशयगमनोन्मुख प्रभावसे आमाशय(आमाशयोर्ध्वभाग)में आकर और उदान वायुसे प्रेरित होकर, वमन द्रव्यके ऊर्ध्वभागसे दोष निकालनेके प्रभाव और अग्नि तथा वायुके गुणोंकी अधिकतासे मुखमार्गसे बाहर निकलता है **(च., सु.)** । जो द्रव्य अपक्व पित्त, कफ या दोनों और अन्नको मुखद्वारा बाहर निकाले, उसे **वमन** कहते हैं; जैसे–मैनफल **(शा.)** । यद्यपि

---

१ "न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि । समीकरोति विषमाञ्छमनं तच्च सप्तधा ॥ पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्-व्यायामातप-मारुताः । बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च ।" (अ. हृ. सू. अ. १४) । "न शोधयति न द्वेष्टि समान् दोषांस्तथोद्धतान् । समीकरोति विषमाञ्छमनं तद्यथाऽमृता ॥" (शा. प्र. खं. अ. ४) । २ "दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम् ।" (च. क. अ. १) । "तत्रोष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-व्यवायि-विकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाग्नेयत्वाद् विष्यन्दयन्ति, तैक्ष्ण्याद्

कफके लिये वमन और पित्तके लिये विरेचनको प्रधान शोधन कहा गया है, तथापि अपक्व पित्तका वमनसे ही निर्हरण होता है। इसी लिये अम्लपित्तचिकित्सामें प्रारम्भमें वमनका उपदेश किया गया है।

वक्तव्य—वमन द्रव्य पूर्ण मात्रामें देनेसे वमन कराते हैं, सूक्ष्म मात्रामें देनेसे कफको ढीला करके निकालते हैं और अति सूक्ष्म (होमिओपेथिक) मात्रामें देनेसे वमनको वंद करते हैं।

[1]रेचन-विरेचन-अधोभागहर-अनुलोमनीय—

जो द्रव्य अधोभाग(गुद)से दोषोंका निर्हरण करे, उसे **रेचन, विरेचन, अनुलोमनीय** या **अधोभागहर** कहते हैं। उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी, विकाशी (**च.**) तथा सर (**सु.**) गुणयुक्त विरेचन द्रव्य अपनी शक्ति(प्रभाव)से हृदयमें पहुँच, वहाँसे अपने सूक्ष्म और व्यवायी गुणसे धमनियोंद्वारा स्थूल और अणु स्रोतोंमें

विच्छिन्दन्ति, स विच्छिन्नः परिप्लवन् (वः) स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणुप्रवणभावादामाशयमागम्योदानप्रणुन्नोऽग्नि-वाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावाच्चौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते (सलिल-पृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याधः प्रवर्तते, उभयतश्चोभयगुणत्वात्)। इति लक्षणोद्देशः।" (च. क. अ. १)। "तत्रोष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-व्यवायि-विकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य सौक्ष्म्याद् व्यवायित्वाच्च धमनीरनुसृत्य स्नेहेन मृदूकृतेऽन्तःशरीरे स्वेदोष्मणाऽऽर्द्रदारुवद्विष्यण्णे स्थूलाणुस्रोतोभ्यः सकलमपि दोषसङ्घातमौष्ण्यात् पुनर्विष्यन्दयन्ति, तैक्ष्ण्याद्विकाशित्वाच्च विच्छिन्दयन्ति; स विष्यण्ण-विच्छिन्नो दोषसङ्घातः परिप्लवः स्नेहाक्तभाजनस्थ इवोदकाञ्जलिरसज्जन्नणुप्रवणभावादामाशयमनुगम्य उदानप्रणुन्नोऽग्नि-वाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावाच्चौषधस्योर्ध्वं प्रवर्तते, सलिल-पृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याधः, उभयतश्चोभयगुणात्मकत्वादुभयभागप्रभावाच्च।" (अ. सं. सू. अ. २६)। "वमनद्रव्याण्यग्नि-वायुगुणभूयिष्ठानि, अग्निवायू हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, तस्माद्वमनमूर्ध्वगुणभूयिष्ठम्।" (सु. सू. अ. ४१)। "अपक्वपित्तश्लेष्माण्चयमूर्ध्वं नयेत्तु यत्। वमनं तद्धि विज्ञेयं मदनस्य फलं यथा॥" (शा. प्र. खं. अ. ४)। "वमनं श्लेष्महराणां (श्रेष्ठम्)।" (च. सू. अ. २५)। **वामक** (Emetics—एमेटिक्स)—इन द्रव्योंसे उलटी होकर आमाशय खाली हो जाता है। इनके दो भेद हैं—(१) **प्रत्यक्ष**—ये द्रव्य आमाशयमें क्षोभ या दाह उत्पन्न कर वमन कराते हैं; जैसे-नीलाथोथा, राई, बाबुनाका गर्म फाण्ट, नमक, फिटकिरी। (२)**अप्रत्यक्ष**—ये रक्तमें मिल, रक्त द्वारा वमनकेन्द्रमें पहुँच कर उसे क्षुभित करते हैं और इस प्रकार वमन कराते हैं; जैसे-सुरमा, इपिकाक्युआना, अडूसा, जंगली प्याज। इस वर्गके बहुतसे द्रव्य रक्तके साथ बहते हुए आमाशयकी कलाद्वारा बाहर पड़ते हैं और उसे उत्तेजित करते हैं (**डॉ. वा. दे.**)। यूनानी वैद्यकमें वमन द्रव्यको '**मुकई**' कहते हैं।

१ "दोषहरणमधोभागं विरेचनसंज्ञकम्।" (च. क. अ. १)। अधो गुदेन दोषनिर्हरणं भजत इत्यधोभागम् (**च. द.**)। "तत्रोष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-व्यवायि-विकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य ('सौक्ष्म्याद् व्यवायित्वाच्च' **वृ. वा.**) धमनीरनुसृत्य स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाग्नेयत्वाद्विष्यन्दयन्ति, तैक्ष्ण्याद्विच्छिन्दन्ति, स विच्छिन्नः परिप्लवन् (वः) स्नेहभाविते

काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जदणुप्रवणभावादामाशयमागम्य ××× सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्यापानप्रणुन्नोऽधः प्रवर्तते ।" (च. क. अ. १) । "विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि, पृथिव्यापो गुर्व्यः, ता गुरुत्वादधो गच्छन्ति; तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात् ।" (सु. सू. अ. ४१) । गुरुत्वादिति गुरुत्वं चेह प्रभावविशेषाधिष्ठितं त्रिवृतादिसमवेतं ग्राह्यं, न तु गुरुत्वमात्रम्; अन्यथा मत्स्य-पिष्टान्न-मसूरादीनां विरेचकत्वं स्यात् (च. द.)। "विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत् । रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा ॥" (शा. प्र. अ. ४) । "विरेचनं पित्तहराणाम् (श्रेष्ठम्) । त्रिवृत् सुखविरेचनानां, चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानां, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम् ।" (च. सू. अ. २५) । **रेचन** (Purgatives—पर्गेटिव्स्)—इन द्रव्योंसे शौच (पखाना) जल्दी होता है किंवा अधिक होता है । न्यूनाधिक क्रियाके अनुसार इन द्रव्योंके पाँच भेद हैं । (१) **आनुलोमिक (च.), सर (सु.)** (Laxatives—लॅक्सॅटिव्स्)—मल और वायुकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके उत्तेजक । इनसे मल नरम होता है और आँतोंकी हलन-चलनकी क्रिया (पेरिस्टालिसस्) कुछ बढ़कर शौच होता है । इनसे अपक्व मल नहीं आता । जैसे-यासशर्करा (तुरंजबीन), गंधक, सूखे अंजीर, आलूबुखारा, जैतूनका तेल (ऑलिव ओइल), हरड़ । (२) **स्रंसन (च.)** (Simple Purgatives—सिंपल पर्गेटिव्स्)—इनसे आँतोंकी हलन-चलन क्रिया बढ़ती है, आँतोंकी ग्रन्थियोंको कुछ उत्तेजन मिलता है और इस कारण साधारण पतला-ढीला शौच होता है । इनसे पक्व और अपक्व मल और मलकी गाँठें निकलती हैं । जैसे-एरंडतैल, सनाय, पारा, एलुआ । (३) **भेदन (च.)** (Drastic Purgatives—ड्रॅस्टिक् पर्गेटिव्स्)—ये द्रव्य स्रंसन द्रव्योंके समान किंतु उनकी अपेक्षया जोरदार क्रिया करते हैं । इनसे आँतोंमें थोड़ा दाह होता है और ऐंठन होकर पतला शौच होता है । जैसे-निशोथ, इन्द्रायन, रेवंदचीनी, पोडोफिलम (पाप्रा) । स्रंसन द्रव्य अधिक मात्रामें दिये जानेसे भेदन होते हैं । (४) **विरेचन (च.)** (Hydragogue Purgatives—हाइड्रॅगॉग् पर्गेटिव्स्; Hydragogues—हाइड्रॅगॉग्स्)—इनसे आँतोंमें बहुत सा द्रव उत्पन्न होता है और पानी जैसा शौच होता है । ये रक्तमेंसे पुष्कल रक्तद्रवका विरेचन कराते हैं । भेदनवर्गीय द्रव्य अधिक मात्रामें दिये जानेपर विरेचन क्रिया करते हैं । जैसे-जमालगोटा, कंटीली इन्द्रायन । कुछ लवण विरेचन हैं; जैसे-सैन्धा नमक, खारी नमक (सोडियम् सल्फेट्), द्राक्षाक्षार (पोटॅशियम् टार्टरेट्) । **पित्तविरेचन** (Cholagogue Purgatives—कॉलॅगॉग् पर्गेटिव्स्)—ये द्रव्य शौचद्वारा पित्तको निकालते हैं । इनसे हरे रंगका पतला शौच होता है । इनकी यकृत् और ग्रहणीपर उत्तेजक क्रिया होती है । यकृत्के उत्तेजनसे पित्तस्राव अधिक होता है और ग्रहणीके उत्तेजनसे उसमें स्रुत हुआ पित्त शीघ्र नीचे (पक्वाशयमें) चला जाता है । जैसे-पारा, पाप्रा-यकृत्के उत्तेजक; पारा, एलुआ और रेवंदचीनी-ग्रहणीके उत्तेजक हैं । ये द्रव्य अल्प मात्रामें पित्तसारक हैं । **चरकने विरेचनके** तीन विभाग किये हैं—(१) **मृदुविरेचन**—जैसे-एरंडतेल=आनुलोमिक; (२) **सुखविरेचन**—जैसे-निशोथ=स्रंसन, पित्तविरेचन; (३) **तीक्ष्णविरेचन**—जैसे-थुहरका दूध=भेदन विरेचन (डॉ. वा. दे.) । यूनानी वैद्यकमें मृदुविरेचनको **'मुलय्यिन'** और तीक्ष्ण विरेचनको **'मुसहिल'** कहते हैं । इन दोनोंका भेद बताते हुए यूनानी द्रव्यगुणविज्ञानमें लिखा है कि-वह औषध जिससे कब्ज निवारण होकर सरलतापूर्वक मलोत्सर्ग हो जाय और केवल आमाशय और अन्त्रस्थ दोष विसर्जित हो जाय, उसे **'मुलय्यिन'** कहते हैं; और जो द्रव्य संपूर्ण शरीरस्थ दोषका मलमार्गसे निर्हरण करे, उसे **'मुसहिल'** कहते हैं ।

होकर समस्त शरीरमें पहुँचता है और समग्र शरीरमें स्थित दोषोंके संघातको अपने आग्नेय गुणके कारण विलीन (द्रवीभूत) करता है तथा तीक्ष्णताके कारण विच्छिन्न करता है (उखाड़ता है) । वह द्रवीभूत तथा विच्छिन्न हुआ दोषसंघात सारे शरीरमें भ्रमण करता हुआ विरेचनके पूर्व शरीरके स्नेहसे भावित किये होनेके कारण जैसे स्नेहसे लिप्त पात्रमें शहद नहीं चिपकता उसी प्रकार शरीरावयवोंमें कहीं भी न चिपकता हुआ अणुप्रवण (अणु-सूक्ष्म-स्रोतोंमें संचार करनेवाले) तथा कोष्ठाभिमुखगमन स्वभाववाला होनेसे आमाशय(आमाशयाधोभाग)में आता है । विरेचन द्रव्य अधोगमन और अधोभागहरत्वरूपप्रभावविशिष्ट पृथिवी तथा जलके गुणों(गुरुत्व-स्थिरत्व-अधोगति)की अधिकतावाले होते हैं । अपने इस विशेष प्रभाव तथा गुणोंके कारण नीचेकी ओर गमन करते हुए अपने साथ अपान वायुद्वारा प्रेरित पच्यमान दोषोंको बलात् नीचेकी ओर ले जाकर बाहर निकालते हैं **(च., सु.)** । जो द्रव्य पक्व या अपक्व मलादिको द्रव करके विरेचनके द्वारा बाहर निकाले, उसे **रेचन** कहते हैं; जैसे–निशोथ **(शा.)** ।

चरकमें पचास कषायवर्गोंमें केवल **भेदनीय** (या **भेदन**) गण दिया गया है, विरेचन गण नहीं दिया है । **चरकने** विरेचन द्रव्यके तीन भेद बताये हैं—१ **सुखविरेचन,** जैसे–निशोथ; **मृदुविरेचन,** जैसे–अमलतास; **तीक्ष्णविरेचन,** जैसे थूहरका दूध ।

अनुलोमन–सर—

जो द्रव्य मल और दोषोंको पका और उनके विबन्धको तोड़ कर उन्हें अधोमार्गद्वारा बाहर निकालता है, उसको **अनुलोमन** या **सर** (सारक) कहते हैं; जैसे–हरड़ । (मल–मूत्र और वातकी अप्रवृत्ति–रुकावट–को **विबन्ध** कहते हैं) । यह अधोभागहर वर्गका ही एक भेद है ।[1]

स्रंसन—

जो द्रव्य कोष्ठ(पेट)के अन्दर चिपके हुए पच्यमाग (पकते हुए) मलादिकोंको पकाये विना ही बाहर निकाल देता है, उसे **स्रंसन** कहते हैं; जैसे–अमलतास । यह अधोभागहर वर्गका ही एक भेद है । **शार्ङ्गधरने 'स्रंसन'** वर्गको किसी तन्त्रान्तरसे लेकर भिन्न बताया है; **चरकने** 'विरेचन' द्रव्यके लिये ही 'स्रंसन' शब्दका प्रयोग किया है[2] ।

---

१ "कृत्वा पाकं मलानां यद्भित्त्वा बन्धमधो नयेत् । तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी ॥" (शा. प्र. खं. अ. ४) । "सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः" (सु. सू. अ. ४६) । २ "पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम् । नयत्यधः स्रंसनं तद्यथा स्यात् कृतमालकः ॥" (शा. प्र. खं. अ. ४) । "पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत् । स्रंसनं" (च. चि. अ. ३) ।

शोधन-संशोधन-उभयतोभागहर—

जो द्रव्य ऊर्ध्वभाग(मुख) और अधोभाग (गुद) दोनों मार्गोंसे दोषोंको निकाले, उसे **संशोधन, शोधन** या **उभयतोभाग(हर)** कहते हैं । संशोधन द्रव्य भी वमन और विरेचन द्रव्योंके समान तीक्ष्णत्वादि गुणोंवाले होते हैं । इनकी पूर्वोक्त क्रियासे दोषसंघात आमाशय(आमाशयके ऊर्ध्व और अधोभाग)में आकर उपस्थित होता है । संशोधन द्रव्य उभयतोभागहरत्वरूप प्रभावसे विशिष्ट पृथिवी, जल, अग्नि और वायुके गुणोंकी अधिकतावाले होते हैं । ये दोनों मार्गोंसे निकलते हुए अपने साथ उदान और अपानसे प्रेरित दोषोंका भी ऊर्ध्वाधोभागसे बलात् निर्हरण करते हैं (**च., सु.**) । जो द्रव्य मलों(पुरीष और दोषों)के संचयको अपने स्थानसे हटाकर ऊपर और नीचे दोनों मार्गोंसे बाहर निकाल दे, उसको **देहसंशोधन** कहते हैं; जैसे-बन्दाल (**शा.**) । वमन और विरेचन दोनों एक साथ करानेवाले द्रव्यको **संशोधन** कहते हैं[1] ।

छेदन-छेदनीय—

जो द्रव्य शरीरमें संचित और चिपके हुए कफादि दोषोंको अपने प्रभाव-शक्तिसे अपने स्थानसे उखाड़ दे (पृथक् कर दे), उसको **छेदन** या **छेदनीय** कहते हैं; जैसे-क्षार, काली मिर्च, शिलाजीत, हींग आदि ।[2]

रसायन—

जिस द्रव्यसे प्रशस्त रस-रक्त आदि धातु, स्मरणशक्ति, बुद्धि, आरोग्य, तरुणवय (जवानी), प्रभा, अच्छा वर्ण, उत्तम स्वर, शरीर और इन्द्रियोंका उत्तम बल और वाक्सिद्धि प्राप्त हो तथा अकालमें उत्पन्न जरावस्था (वृद्धावस्था) और व्याधियोंका नाश हो, उसे **रसायन** कहते हैं । **चरक**के पचास महाकषायोंमें कहे हुए **जीवनीय** और **वयःस्थापन** ये दो गण भी रसायनके ही भेद हैं[3] ।

---

१ "स्थानाद्बहिर्नयेदूर्ध्वमधो वा दोषसंचयम् । देहसंशोधनं तत्स्याद्देवदालीफलं यथा ॥" (शा. प्र. खं. अ. ४) । २ "श्लिष्टान् कफादिकान् दोषानुन्मूलयति यद्बलात् । छेदनं तद्यथा क्षारा मरिचानि शिलाजतु ॥" (शा. प्र. खं. अ. ४) । ३ "दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः । प्रभा-वर्ण-स्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम् ॥ वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिं लभते ना रसायनात् । लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥" (च. चि. अ. १, पा. १) । "रसायनतन्त्रं (रसायनं) नाम वयःस्थापनमायुर्मेधा-बलकरं रोगापहरणसमर्थं च ।" (सु. सू. अ. १) । "रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम् ।" (शा. प्र. खं. अ. ४) । **रसायन** (Alterative—ऑल्टरेटिव्)—ये द्रव्य वैद्यकीय मात्रामें देनेसे शरीरपर उनकी क्रिया प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती, परंतु इनसे रोग दूर होता है । इनसे शरीरकी धातुपाक (मेटाबॉलिज्म)की क्रिया सुधरती है और शरीर पूर्वस्थिति प्राप्त करता है (अन्य औषधोंसे अच्छे न होनेवाले रोगोंको अच्छा करनेवाले द्रव्य); जैसे-सोना, सुरंजान, सुरमा, पारा, सोमल (**डॉ. वा. दे.**) । यूनानी वैद्यकमें रसायन औषधको **'अक्सीरुल् बदन'** कहते हैं ।

सूक्ष्म—

जो द्रव्य शरीरके सूक्ष्म स्रोतों (मार्गों–छिद्रों)में प्रवेश कर सके उसको **सूक्ष्म** कहते हैं; जैसे–सैंधव लवण, मधु, तैल आदि[१]।

व्यवायि—

जो द्रव्य जठराग्निके द्वारा परिपक्व होनेके पूर्व ही अपने प्रभावसे समग्र शरीरमें व्याप्त होकर अपने गुण-कर्म दिखलाते हैं, उनको **व्यवायि** कहते हैं; जैसे–भाँग, अफीम, वत्सनाभ आदि[२]।

विकाशि(सि)—

जो द्रव्य जठराग्निके द्वारा पाक होनेके पहले ही धातुओंसे ओजको पृथक् करके सन्धियोंके बन्धनों और धातुओंको शिथिल कर देते हैं, उनको विकाशि(सि) कहते हैं; जैसे–कच्ची और ताजी सुपारी तथा कोदों[३]।

मद्य-मादक—

जो द्रव्य तमोगुण (और रजोगुण)की अधिकतावाला होनेसे बुद्धिका नाश करके मद (नशा) उत्पन्न करता है उसे **मद्य, मदकारि, मदनीय, मादन** और **मादक** कहते हैं; जैसे–नाना प्रकारके सुरा आदि मद्य (**शा.**)। मादक द्रव्य लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायी, आशुग (आशुकारी), रूक्ष, विकाशि और विशद—इन

---

१ "सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः।" (सु. सू. अ. ४६)। "देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद्यत् सूक्ष्ममुच्यते। तद्यथा सैन्धवं क्षौद्रं निम्बस्तैलं रुबूद्भवम्॥" (शा. प्र. खं. अ. ४)।
२ "व्यवायि चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते।" (सु. सू. अ. ४६)। "पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकं च गच्छति। व्ययायि तद्यथा भङ्गा फेनं चाहिसमुद्भवम्॥" (शा. प्र. खं. अ. ४)।
३ "विकासि विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत्।" (सु. सू. अ. ४६)। "सन्धिबन्धांस्तु शिथिलान् यत् करोति विकाशि तत्। विश्लिष्यौजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवाः॥" (शा. प्र. खं. अ. ४)। **विकाशिन्** (Antispasmodic—ॲन्टिस्पॅझ्मॉडिक्स्)—इस वर्गके द्रव्योंकी क्रिया अनेक प्रकारोंसे होती है। जैसे–(१) कई द्रव्य कर्मके केन्द्रोंपर या चेष्टावह नाड़ियोंपर शामक (अवसादक) क्रिया करते हैं। (२) कई सारे शरीरपर अत्यन्त जोरदार शामक क्रिया करते हैं, जिसके कारण शरीरके सब अवयव शिथिल हो जाते हैं; जैसे–तमाखू, बछनाग, देवनल, कुटकी, पद्मकाष्ठ आदि **अवसादक** दव्य। (३) कई आँतोंकी शक्ति बढ़ाते हैं, जिससे अधोवायु छूटता है और उदरशूल शान्त होता है; जैसे–हींग, कस्तूरी, तगर और सुगन्धि द्रव्य। इस प्रकारके द्रव्योंको Aromatics—**ॲरोमॅटिक्स्** या Carminatives—**कार्मिनेटिव्स्** कहते हैं। (४) कई द्रव्य अपस्तम्भशाखा (श्वासनलिका) के संकोच–विकासको कम करते हैं; जैसे–धतूरा, खुरासानी अजवायन, बेलाडोना (**डॉ. वा. दे.**)। ३ कोदोंकी एक जाति जो मादक होती है, वह यहाँ 'कोदों' शब्दसे अभिप्रेत है। ४ "मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान्। दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्॥ लघूष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्मा

दस गुणोंवाला होता है। **ओज** गुरु, शीत, मृदु, श्लक्ष्ण, बहल (सान्द्र), मधुर, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल और स्निग्ध-इन दस गुणोंवाला होता है। मद्य हृदयमें प्रविष्ट होकर अपने दस गुणोंसे ओजके ऊपर लिखे हुए दस गुणोंको उनसे विपरीत गुणवाला होनेसे क्षुभित और नष्ट करके हृदयको विकृत कर देता है तथा उसके आश्रित सत्त्व(मन)को भी क्षुभित करके मद उत्पन्न करता है। मद्य अपने लघु गुणसे ओजके गुरु गुणका, उष्णसे शीतका, अम्लसे मधुरका, तीक्ष्णसे मृदुका, आशुकारितासे प्रसादका, रूक्षसे स्नेहका, व्यवायीसे स्थिरका, विकासीसे श्लक्ष्णका, विशदसे पिच्छिलका और सूक्ष्मसे सान्द्र गुणका नाश करता है (च.)। मद्य सर्व रसवाला तथा तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, लघु और विशद गुणवाला तथा आग्नेय और वायव्य होता है (र. वै.)।

विष-प्राणहर—

विषद्रव्य लघु, रूक्ष, आशु (आशुकारी), विशद, व्यवायी, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण तथा अव्यक्त रस-इन दस गुणोंवाला होता है। विषद्रव्य अपने रूक्ष गुणके कारण वायुको, उष्णताके कारण पित्तको, सूक्ष्मताके कारण रक्तको तथा अव्यक्त रसके कारण कफको कुपित करता है; आशुकारी होनेसे अन्नरसका शीघ्र अनुसरण करता है, व्यवायी होनेसे शीघ्र ही संपूर्ण शरीरमें व्याप्त हो जाता है, तीक्ष्ण होनेके कारण मर्मघ्न होता है, विकासी (हिंसनशील) होनेसे प्राणहर होता है, लघु (अनवस्थित-चञ्चल) होनेके कारण दुश्चिकित्स्य होता है, विशद (अपिच्छिल) होनेसे दोषोंमें उसकी गति निर्बाध (अटके विना) होती है। इन कारणोंसे विषद्रव्य दोषों, उनके स्थानों और वातादि प्रकृतिको प्राप्त होकर सर्व दोषोंको विकृत कर देता है (च.)। विष सर्व रसवाला तथा शीघ्र, सुषिर, व्यवायी और विकासी गुणवाला तथा आग्नेय होता है। विष अपने उष्ण गुणसे धातुओंको पकाता है, तीक्ष्ण गुणसे मर्मोंका छेदन करता है, सूक्ष्म और विकासी गुणसे धातुओंमें फैल जाता है, विशद गुणसे धातुओंसे ओजको अलग करता है, लघु गुणसे संधियोंमें प्रवेश करता है, व्यवायी गुणसे समग्र शरीरमें व्याप्त होता है, रूक्ष गुणसे शरीरके स्नेहका नाश करता है और शीघ्र गुणसे शीघ्र मारता है।

म्ल-व्यवाय्याशुगमेव च। रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्॥ गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्। प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्॥ गुरुत्वं लाघवाच्छैत्यमौष्ण्यादम्लस्वभावतः। माधुर्यं, मार्दवं तैक्ष्ण्यात्, प्रसादं चाशुभावनात्॥ रौक्ष्यात् स्नेहं, व्यवायित्वात् स्थिरत्वं, श्लक्ष्णतामपि। विकासिभावात्, पैच्छिल्यं वैशद्यात्, सान्द्रतां तथा। सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजसः स्वगुणैर्गुणान्। सत्त्वं तदाश्रयं चाशु संक्षोभ्य जनयेन्मदम्॥" (च. चि. अ. २४)। "बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं **मदकारि** तदुच्यते। तमोगुणप्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम्॥" (शा. प्र. खं. अ. ४)। **मदकारि** (डिलिरिकेशिअन्ट्स-इन द्रव्योंसे प्रारम्भमें मद उत्पन्न होता है और पीछे बेहोशी आती है; जैसे गाँजा, बेलाडोना, खुरासानी अजवायन (डॉ. वा. दसाई)। मादक द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुस्किर'** कहते हैं।

(र. वै.)। जो द्रव्य व्यवायी, विकाशी, सूक्ष्म, छेदी (छेदन), मादक, आग्नेय, योगवाही और प्राणहर हो, उसे **विष, प्राणहर** या **प्राणघ्न** कहते हैं[1] (**शा.**)।

प्रमाथि—

जो द्रव्य अपनी शक्तिसे स्रोतोंसे अर्थात् रस-रक्तादिका वहन करनेवाले मार्गों तथा कर्ण, मुख, नासिका आदिके छिद्रोंसे दोषोंके संचयको दूर करे, उसे **प्रमाथि** कहते हैं; जैसे-काली मिर्च और बच[2]।

अभिष्यन्दि—

जो द्रव्य अपनी पिच्छिलता तथा गौरव (गुरु गुण या गुरु विपाक) से रसवह सिराओंको रुद्ध करके शरीरमें गौरव-भारीपन उत्पन्न करे और कफका प्रकोप करे, वह **अभिष्यन्दि** कहाता है; जैसे-कच्चा दही[3]।

विदाहि—

जो द्रव्य अपने द्रव्यस्वभावसे अथवा पचनेमें भारी होनेसे देरमें हजम हो और पकते समय पित्तका प्रकोप करके अन्नवह नलीमें जलन, खट्टी डकार आदि उत्पन्न करे, उसे **विदाहि** कहते हैं[4]।

योगवाहि—

जो द्रव्य अपने गुणोंको न छोड़ता हुआ अपने साथ संसर्गमें आनेवाले द्रव्यके गुणोंको बढ़ावे, उसे **योगवाहि** कहते हैं; जैसे-मधु, पारद आदि[5]।

षाण्ढ्यकर-पुंस्त्वोपघाति—

जो द्रव्य वीर्यका क्षय करके षण्ढता (नपुंसकता) लावे (पुरुषत्वका नाश करे), उसको **षाण्ढ्यकर** या **पुंस्त्वोपघाति** कहते हैं; जैसे-क्षार[6]।

---

१ "लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च। उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥ रौक्ष्याद्वातमशैत्यात् पित्तं, सौक्ष्म्यादसृक् प्रकोपयति। कफमव्यक्तरसत्वादन्नरसांश्चानुवर्तते शीघ्रम्॥ शीघ्रं व्यवायिभावादाशु व्याप्नोति केवलं देहम्। तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नं प्राणघ्नं तद्विकासित्वात्॥ दुरुपक्रमं लघुत्वाद्वैशद्यात् स्यादसक्तगतिदोषम्। दोषस्थानप्रकृतीः प्राप्यान्यतमं ह्युदीरयति॥" (च. चि. अ. २३)। "व्यवायि च विकाशि स्यात् सूक्ष्मं छेदि मदावहम्। आग्नेयं जीवितहरं योगवाहि स्मृतं विषम्॥" (शा. प्र. खं. अ. ४)। यूनानी वैद्यकमें विषको **'सम्मी'** और **'कातिल'** कहते हैं। २ "निजवीर्येण यद्द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसञ्चयम्। निरस्यति प्रमाथि स्यात्तद्यथा मरिचं वचा॥" (शा. प्र. खं. अ. ४)। प्रमाथि द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुफत्तिह'** कहते हैं। ३ "पैच्छिल्याद्गौरवाद्द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः सिराः। धत्ते यद्गौरवं तत् स्यादभिष्यन्दि यथा दधि॥" (शा. प्र. खं. अ. ४)। ४ "द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद्वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात्। पित्तप्रकोपं विदधत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि॥" (सु. सू. अ. ४५ श्लो. २५२ की निबन्धसंग्रहव्याख्यामें उद्धृत तन्त्रान्तरीय वचन)। ५ "गृह्णाति योगवाहि द्रव्यं संसर्गिवस्तुगुणान्।" (**भा.**) ६ "क्षारः पुंस्त्वोपघातिनाम्।" (च. सू. अ. २५)। **षाण्ढ्यकर**-(Anaphrodisiac—ॲनेफ्रॉडिझिआक्) इन द्रव्योंसे संभोगशक्ति कम होती है जैसे-कपूर, तमाखू (**डॉ. वा. दे.**)। यूनानी वैद्यकमें षाण्ढ्यकर द्रव्यको **'कातिय बाह'** कहते हैं।

स्वप्नजनन-निद्राकारक—

जो द्रव्य निद्रा लावे, उसको **स्वप्नजनन** कहते हैं; जैसे-खुरासानी अजवायन, पीपलामूल, सर्पगन्धा आदि[१] ।

स्वेदापनयन—

जो द्रव्य स्वेद(पसीने)की अति प्रवृत्तिको रोके, उसे **स्वेदापनयन** कहते हैं[२] । **चरकने** खसके प्रलेपको स्वेदापनयन द्रव्योंमें श्रेष्ठ बताया है[२] (उशीरं ×× स्वेदापनयनप्रलेपनानाम् ।" (च. सू. अ. २५) ।

सौमनस्यजनन—

जो द्रव्य मनको प्रसन्न (आनन्दित) करे, उसको **सौमनस्यजनन** या **मनःप्रसादकर** कहते हैं; जैसे-मात्रा और विधिसे पीया हुआ मद्य[३] ।

चक्षुष्य—

जो द्रव्य नेत्र (दर्शनशक्ति) के लिये हितकर हो, उसे **चक्षुष्य** कहते हैं; जैसे-मुलेठी, त्रिफला, गायका घी आदि[४] ।

केश्य—

जो द्रव्य बालोंको स्थिर रखने और बढ़ानेवाला हो, उसको **केश्य** कहते हैं; जैसे-मुलेठी, गंभारीका फल, भँगरा आदि ।

मेध्य—

जो द्रव्य मेधा(स्मरण शक्ति या बुद्धि)को बढ़ानेवाला हो, उसको **मेध्य** कहते हैं; जैसे-ब्राह्मी, शङ्खपुष्पी, सुवर्ण आदि ।

पुरीषजनन—

जो द्रव्य अधिक प्रमाणमें मल उत्पन्न करे, उसे **पुरीषजनन** कहते हैं; जैसे-उड़द, जव, पत्रशाक आदि ।

---

१ **स्वप्नजनन**—ये द्रव्य प्रारम्भमें मद उत्पन्न किये विना ही निद्रा लाते हैं (Hypnotics—हिप्नॉटिक्स् या Soporifics—सोपोरिफिक्स्) **(डॉ. वा. दे.)** । यूनानी वैद्यकमें निद्राकारक औषधको **'मुनव्विम'** और **'मुसब्बित'** कहते हैं । २ ये द्रव्य अत्यन्त पसीना आता हो तो उसको बन्द करते हैं । इनमेंसे (१) कई रक्ताभिसरणपर, (२) कई स्वेदग्रन्थियोंपर, (३) कई स्वेदकेन्द्रपर, और (४) कई स्वेदग्रन्थियोंमें जानेवाली नाड़ियोंके अन्तिम भागोंपर क्रिया करते हैं; जैसे-बेलाडोना, खुरासानी अजवायन, धतूरा, कुनैन (स्वल्प प्रमाणमें); जस्त, कषाय द्रव्य आदि (Anhydrotics—ॲनूहाइड्रोटिक्स्) **(डॉ. वा. दे.)** । यूनानी वैद्यकमें स्वेदापनयन औषधको **'मानिअ अरक'** कहते हैं । ३ "मद्यं सौमनस्यजननानाम् ।" (च. सू. अ. २५) । Exhilerents—एग्झिलन्टस् **(डॉ. वा. दे.)** । सौमनस्यजननको यूनानी वैद्यकमें **'मुफर्रह'** कहते हैं । ४ चक्षुष्य औषधको यूनानी वैद्यकमें **'मुकव्वी बसर'** कहते हैं ।

अब सुश्रुतके कहे हुए विम्लापनादि वर्गोंकी व्याख्या दी जाती है।

विम्लापन[1]—

जो द्रव्य व्रणशोथकी प्रारम्भावस्थामें ही प्रलेपके रूपमें प्रयुक्त होनेपर व्रणशोथको विना पकाए ही बैठा देते हैं, उनको **विम्लापन** कहते हैं। सु. सू. अ. ३७ में वातज, पित्तज, कफज और सान्निपातिक व्रणशोथके विम्लापनार्थ प्रलेप लिखे हैं।

पाचन-व्रणशोथपाचन[2]—

जो द्रव्य पकने लगे हुए व्रणशोथको शीघ्र पकाते हैं, उनको **पाचन-व्रणशोथ-पाचन** कहते हैं; जैसे-सन-मूली और सहिंजनेके बीज, तिल, सरसों, सत्तू, किण्व (सुराबीज), अलसी-तिसी और उष्णवीर्य द्रव्य (सु. सू. अ. ३७)। इन द्रव्योंका उपनाह (पोल्टिस) के रूपमें व्रणशोथ पर बाँधनेमें प्रयोग होता है।

दारण[3]-प्रदरण—

पकनेपर भी अपने आप न फूटनेवाले व्रणशोथको जो द्रव्य फोड़ दें, उनको **दारण** या **प्रदरण** कहते हैं; जैसे-चित्रक, कबूतरकी बीट, क्षार, जंगाल आदि। दारण द्रव्य पित्तकर रस (कटु-अम्ल-लवण) और गुण (तीक्ष्ण-उष्ण) वाला तथा पृथ्वी और अग्निके गुणोंकी अधिकतावाला होता है **(र. वै.)**।

प्रपीडन—

जो द्रव्य पककर फूटे हुए परन्तु मुख सूक्ष्म होनेके कारण जिनसे पूय अच्छी तरह न निकलता हो उन व्रणोंको दबा कर पूयको निकालते हैं, उनको **प्रपीडन** कहते हैं। **प्रपीडन**के लिये सेमल आदि पिच्छिल वृक्षोंकी छाल और मूल, जौ, गेहूँ तथा उड़दका आटा-इनका कल्क पूययुक्त सूक्ष्म मुखवाले तथा किसी मर्मस्थानके समीपवर्ती

---

१ **विम्लापन**-ये द्रव्य व्रणशोथको बैठाते हैं; जैसे-पारा, बछनाग, सुरमा, कुटकी आदि (Antiphlogestic—ॲन्टिफ्लॉजेस्टिक्)। **ग्रन्थिविलयन** (Resolvents—रिझॉल्वन्ट्स्; Disentient—डिसेन्शिअन्ट्)—ये द्रव्य व्रणशोथ किंवा सूजी हुई ग्रन्थियोंको ठीक करते हैं; ये रसग्रन्थियोंको उत्तेजन देते हैं; जैसे-उषक, कुन्दरु, अमरकन्द, पारा। इनसे पूय उत्पन्न हुए विना शोथ बैठ जाता है **(डॉ. वा. दे.)**। यूनानी वैद्यकमें विम्लापन औषधको **'मुहल्लिल वरम'** कहते हैं। २ यूनानी वैद्यकमें व्रणशोथ-पाचनद्रव्यको **'मुन्‌जिज वरम्'** या **'मुकय्यिह'** कहते हैं। ३ "पित्तलान् रसान् गुणांश्च प्रदरणम्। तत् पार्थिवमाग्नेयं च।" (र. वै. अ. ४।१५,१६)। पित्तलान् कटुकाम्ल-लवणान् रसान्, तीक्ष्णोष्णौ च गुणावाश्रितं प्रदरणम्। तत् पृथिव्यग्निभ्यां निर्मितम्। पृथिवी खलु रौक्ष्यात् तत्रस्थं स्नेहमपास्य पृथिवीपरमाणूनामप्संग्रहमपाकरोति; ततस्तैक्ष्ण्यादग्निर्विदारयति **(भा.)**। **"दारण**-ये द्रव्य जहाँ लगाये जायँ उस भागके अन्दरके जलको सुखाकर उसका नाश करते हैं। जैसे द्रावकाम्ल, क्षार, सोमल-संखिया; (Escharotic—एस्कॅरॉटिक्; Caustic—कॉस्टिक्)" **(डॉ. वा. दे.)**। यूनानी वैद्यकमें दारण औषधको **'मुफजिर वर्म'** कहते हैं।

व्रणोंके चारों ओर प्रलेपके रूपमें लगाया जाता है। इस प्रलेपको सूखने देना चाहिये, तथा इनका लेप व्रणके मुखको छोड़कर चारों ओर करना चाहिये।

शोधन-व्रणशोधन—

जो द्रव्य अपने आप फूटे हुए या शस्त्रसे भेदन किये हुए व्रणोंको शुद्ध करते हैं, उन द्रव्योंको **शोधन (व्रणशोधन)** कहते हैं। इनका उपयोग कषाय, वर्ति, कल्क, घृत, तैल, रसक्रिया, चूर्ण और धूपनके रूपमें आठ प्रकारसे होता है। उनका विस्तार सु. सू. अ. ३७ तथा चि. अ. १ में देखें।

रोपण—

जो द्रव्य व्रणका रोपण करते हैं (व्रणको भर लाते हैं), उनको **रोपण** कहते हैं। इनका उपयोग कषाय, वर्ति, कल्क, घृत, तैल, रसक्रिया, धूपन और चूर्णके रूपमें आठ प्रकारसे होता है। रोपण द्रव्योंका विस्तृत वर्णन सु. सू. अ. ३७ तथा चि. अ. १ में देखें[१]।

उत्सादन—

जो द्रव्य शुष्क, अल्प मांसवाले तथा गहरे व्रणोंमें मांसकी वृद्धि करके उन्हें ऊँचे लाते हैं (समतल करते हैं), उनको **उत्सादन** कहते हैं।

अवसादन—जो द्रव्य उभरे हुए कोमल मांसवाले व्रणोंको बैठाकर समतल करते हैं, उन्हें **अवसादन** कहते हैं; जैसे—कसीस, सैन्धव लवण, मैनसिल आदि।

उपशोषण[२]—

जो द्रव्य शरीरमें आर्द्रता (गीलापन) को सुखाते हैं, उनको **उपशोषण** कहते हैं; जैसे—कुड़ाकी छाल।

रो(लो)मशातन—

जो द्रव्य त्वचा पर लगानेसे शरीरके बालोंको निकाल दें, उनको **रो(लो)मशातन** कहते हैं;[३] जैसे-हरताल और चूनेका लेप।

रो(लो)मसंजनन—

जो द्रव्य जहाँसे बाल निकल गये हों वहाँ प्रलेप करनेसे बालोंको उत्पन्न करें,

---

१ रोपण द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुदम्यिल'** और **'मुलहिय'** कहते हैं। २ **उपशोषण-ये** द्रव्य शरीरपरके लसीका, पूय आदि दुःखदायक और दाहजनक मल पदार्थोंका शोषण करते हैं किंवा महास्रोतसके अन्दरके वायुका शोषण करते हैं; जैसे-लकड़ीका कोयला, विशेष प्रक्रियासे तैयार की हुई शोषक रूई (ॲब्सोर्बन्ट-कोटन)। **व्रणलेखन (सु.)**। "कुटजत्वक् उपशोषणानाम्।" (च. सू. अ. २५)। उपशोषण द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'नाशिफ'** या **'मुनश्शिफ'** कहते हैं। ३ रोमशातन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'हालिक'** कहते हैं।

उनको **रो(लो)मसंजनन** कहते हैं;[१]-जैसे हाथीके दाँतकी मसी मिलाई हुई रसौंतका लेप।

रक्षोघ्न—

जो द्रव्य धूपन आदिसे राक्षसों (रोगोत्पादक जन्तुओं)का नाश करें, उन्हें **रक्षोघ्न** कहते हैं; जैसे-गूगल, अगर, सरसों, वच, अजवायन, नीमकी पत्ती आदि।

वक्तव्य—स्व. वा. **डॉ. वामन गणेश देसाईने ओषधिसंग्रह** नामके मराठी ग्रन्थमें द्रव्योंके कुछ और वर्ग लिखे हैं, वे आगे दिये जाते है—

स्वाप[२](सुप्ति)जनन—(Anœsthetics—ॲनेस्थेटिक्स्)—ये द्रव्य मस्तिष्क तथा सुषुम्णाकाण्डमें स्थित नाडीकेन्द्रों पर क्रिया करते हैं और बेहोशी, संज्ञानाश तथा स्पर्शनाश उत्पन्न करते हैं। ये द्रव्य उड़नेवाले होते हैं। इस वर्गमें मद्य, अफीम आदि मादक द्रव्योंका अन्तर्भाव नहीं होता। जैसे-क्लोरोफार्म। कई द्रव्य त्वचा किंवा क्षत पर लगानेसे शून्यता उत्पन्न करते हैं। इनकी क्रिया प्रत्यक्ष ज्ञानतन्तुओंके सिरोंपर होती है। इनसे जहाँ लगाये जाते हैं, उस स्थानपर क्षति नहीं होती; जैसे-जटामांसी, तगर, बर्फ आदि **(डॉ. वा. दे.)**।

विरुद्ध—(Antagonists—ॲन्टॅगोनिस्ट्स्)—ये द्रव्य एक-दूसरेके विरुद्ध क्रिया करते हैं, कोई वीर्यविरुद्ध और कोई संयोगविरुद्ध; जैसे-मद्य और कुचला; अफीम और बेलाडोना। इनकी क्रिया परस्पर विरुद्ध होती है, अतः इनका संयोग नहीं होता; जैसे-बेलाडोना और घारीकून, धतूरा और पद्मकाष्ठ **(डॉ. वा. दे.)**।

स्तन्यनाशन—(Latcifuge—लॅक्टिफ्युज्)—स्त्रियोंके स्तन्य(दूध)को उड़ानेवाले द्रव्य; जैसे-पानका पत्ता, मोगरेके फूल, कपूरका पत्ता **(डॉ. वा. दे.)**।

अश्मरीनाशन[३]—(सु. सू. अ. ३८) (Antilithics—ॲन्टिलिथिक्स्); **शर्करानाशन** (Lithontriptics—लिथोन्ट्रिप्टिक्स्)—ये द्रव्य शरीरमें बनी हुई या संचित पथरियोंको पिघला देते हैं; जैसे-द्रावकाम्ल फॉस्फोरसकी पथरीको, क्षार लाल रंगकी पथरीको, सोडा सेलिसिलेट पित्ताश्मरीको पिघलाते हैं। (Antilithics—ॲन्टिलिथिक्स्—पथरीका बनना रोकनेवाले द्रव्य) **(डॉ. वा. दे.)**।

कोथप्रशमन (ॲन्टिसेप्टिक्स्)—ये द्रव्य सूक्ष्म जंतुओंकी वृद्धिका नाश करते हैं और इन जन्तुओंकी वृद्धिसे होनेवाली सड़नेकी क्रिया(कोथ)को रोकते हैं। ये रोगजन्तुघ्न और दुर्गन्धिनाशन वर्गसे भिन्न हैं; जैसे-लवंगका तैल, सुहागा, पोदीनेका सत्त्व, पारा, सर्व सुगन्धि तैल **(डॉ. वा. दे.)**।

---

१ रोमसंजनन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुंबित शअर'** कहते हैं। २ यूनानी वैद्यकमें स्वापजनन द्रव्यको **'मुखद्दिर'** कहते हैं। ३ यूनानी वैद्यकमें अश्मरीनाशन औषधको **'मुफत्तित हसात'** कहते हैं।

पित्तसारक—(Cholagogues—कॉलॅगॉग्स्)—ये द्रव्य यकृत्को उत्तेजित करके पित्तका स्राव बढ़ाते हैं; जैसे-नौसादर, सज्जीखार, पारा, पोडोफिलम (पापरा), रेवन्दचीनी, एलुआ (डॉ. वा. दे.)।

दुर्गन्धहर—(Deodoranta—डिओडरन्ट्स्)—ये द्रव्य दुर्गन्धका नाश करते हैं; जैसे-कोयला (डॉ. वा. दे.)।

रोगजन्तुघ्न—(Disinfectants—डिसिन्फेक्टन्टस्)—ये द्रव्य रोग उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्म जन्तुओंका नाश करते हैं; जैसे-कार्बोलिक ॲसिड, गर्म हवा (डॉ. वा. दे.)।

गर्भपाति—(Ecbolics—एक्बॉलिक्स्; Abortifacients—ॲबॉर्टिफॅश्यन्ट्स्) ये द्रव्य गर्भाशयकी पेशियोंका संकोच करते हैं; जैसे-सर्पगन्धा, इशरमूल, गाँजा, टंकण, सताप, कुनैन, अर्गट । ये द्रव्य अल्प प्रमाणमें लेनेसे आर्तवको बढ़ाते हैं, अधिक प्रमाणमें लेनेसे गर्भको गिराते हैं (डॉ. वा. दे.)।

आर्तवजनन—(Emmenagogues—एमेनॅगॉग्स्)—ये द्रव्य आर्तव बढ़ाते हैं। इनकी क्रिया दो प्रकारसे होती है—(१) प्रत्यक्ष गर्भाशयको उत्तेजित करके आर्तवस्राव कराते हैं; जैसे-अर्गट, सताप, कपासकी जड़ । (२) जिस कारणसे आर्तव बन्द हो उसे दूर करते हैं; जैसे-लोह, कुचला, एलुआ, कीड़ाभारी (डॉ. वा. दे.)।

मार्दवकर—(Emollients—इमॉलिअन्ट्स्; Protectives—प्रोटेक्टिव्स्) ये द्रव्य जहाँ लगाये जाते हैं उस भागमें मृदुता लाते हैं तथा हवासे उसकी रक्षा करते हैं; जैसे-तेल, चर्बी, निशास्ता (डॉ. वा. दे.)।

श्लेष्मनिःसारक[१]—(Expectorant—एक्स्पेक्टोरन्ट्) श्वासनलिका और फेफड़ोंसे कफको बाहर लानेवाले द्रव्य । इनकी क्रिया अनेक प्रकारसे होती है; (१) **श्वासहर**—ये श्वासनलिकाके संकोच-विकासको कम करते हैं; जैसे-देवनल, तमाखू, धतूरा। (२) **उत्क्लेशक**—इनसे जी मिचलाकर तथा उलटीकी इच्छा सी होकर कफ निकलता है; इनसे कफ पतला भी होता है; अधिक मात्रामें देनेसे ये द्रव्य उलटी कराते हैं; जैसे-सुरमा। (३) **उल्लेखन**—ये श्वासनलिकाकी कलाका शोथ कम करते हैं तथा कफका स्राव कराते हैं। सब वमन द्रव्य अल्प मात्रामें देनेसे उनकी इसी प्रकार क्रिया होती है। इन्हें Nauseating or depressant expectorant—नॉशिएटिंग् एक्स्पेक्टोरन्ट्, या डिप्रेसन्ट् एक्सपेक्टोरन्ट् कहते हैं; जैसे-सुरमा, खड़की रास्ना, इपिकाक्युआना । (४) **छेदन**—ये श्वासनलिकाकी

१ श्लेष्मनिःसारक द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुनफ्फिस बलगम'** और **'मुखरिज बलगम'** कहते हैं।

कलाको उत्तेजित करते हैं तथा कफको पतला करते हैं। कफका लेस कम होनेसे वह खाँसते ही बाहर पड़ता है। इन्हें Stimulating expectorant—स्टिम्युलेटिंग् एक्स्पेक्टोरन्ट् कहते हैं; जैसे-नौसादर, उषक, प्याज, शिलारस, हींग, गन्धाबिरोजा, अडूसा। (५) **उद्धंसिकाहर**—ये श्वासक्रियाके केन्द्रोंको शान्त करते हैं। खाँसीके साथ कफ पड़ना चाहिए, कफ न पड़नेसे जो बहुत ही दुःखदायी खाँसी होती है, वह इन द्रव्योंसे कम होती है। ये द्रव्य बहुत भयंकर और अवसादक होनेसे सावधानीसे बरतने चाहिए। ये केवल सूखी खाँसी कम करते हैं; जैसे-अफीम। (६) **स्नेहन**—ये द्रव्य गले और श्वासनलिकाके द्वारोंमें स्निग्धता लाते हैं; जैसे-गोंद, मिश्री, मुलेठी। (७) **उत्तेजक**—ये श्वासक्रियाके केन्द्रोंमें स्फूर्ति लाते हैं, उनको उत्तेजन मिलनेसे खाँसनेकी शक्ति बढ़ती है और जोरसे खाँसनेके साथ कफ ठीक पड़ता है; जैसे-कुचला, बेलाडोना, पुष्करमूल (**डॉ. वा. दे.**)।

तारकाविकासि[1]—(Mydriatics—मिड्रिएटिक्स्) ये द्रव्य कनीनिका (आँखकी पुतली) को विकसित करते हैं, इनसे कनीनिकाकी पेशी दुर्बल होती हैं और कुछ काल दिखना कम होता है; जैसे-धतूरा, बेलाडोना (**डॉ. वा. दे.**)।

तारकासंकोचन—(Myotics—मायोटिक्स्) इन द्रव्योंसे कनीनिकाका संकोचन होता है और आँखोंका तनाव कम होता है; जैसे-अफीम (**डॉ. वा. दे.**)।

मोहजनन—(Narcotics—नार्कोटिक्स्) ये द्रव्य मस्तिष्कपर क्रिया करते और निद्रा लाते हैं, इनसे आरम्भमें थोड़ा-बहुत मद उत्पन्न होता है; जैसे-अफीम, गाँजा, मद्य। ये द्रव्य स्वप्नजनन वर्गसे भिन्न हैं; कारण, स्वप्नजनन वर्गसे प्रारम्भमें मद नहीं होता (**डॉ. वा. दे.**)।

आविजनन[2]—(Oxytocics—ऑक्सिटॉसिक्स्)—ये द्रव्य प्रसूतिके समय या प्रसूतिके पीछे गर्भाशयकी संकोचन क्रिया बढ़ानेके लिए दिये जाते हैं; जैसे-कुनैन, अर्गट (**डॉ. वा. दे.**)।

शोणितोत्क्लेशक[3]—(Rubefacients—रुबिफेशिअन्ट्स्)—ये द्रव्य त्वचा पर लगानेसे त्वचा लाल हो जाती है; जैसे-राई, हुलहुल, चित्रक, पीलु, कॅन्थॅरिडीस्। किन्हींसे त्वचा लाल होती है और किन्हींसे छाले उठते हैं (**डॉ. वा. दे.**)।

स्फोटजनन[4]—(Vesicant—वेसिकन्ट्)। जैसे-कॅन्थॅरिडिस्, राई, चित्रकमूल (**डॉ. वा. दे.**)।

---

१ तारकाविकासि द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें '**मुफत्तिह सुक्बहे इनबिय्या**' कहते हैं। २ आविजनन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें '**मुखरिज जनीन व मशीना**' कहते हैं। ३ शोणितोत्क्लेशक द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें '**मुहम्मिर**' कहते हैं। ४ स्फोटजनन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें '**मुकर्रह**' कहते हैं।

अवसादक[1](Sedatives—सिडेटिव्स्; Depressants—डिप्रेसन्ट्स्)—ये द्रव्य शरीरके विभिन्न अवयवोंका अवसाद करते हैं। मात्रा अधिक हो तो वह भाग दुर्बल हो जाता है। (१) नाड़ीसंस्थानके केन्द्रोंके अवसादक; जैसे-तमाखू, देवनल। (२) रक्ताभिसरणके अवसादक; जैसे-बछनाग, सुरमा, पद्मकाष्ठ (**डॉ. वा. दे.**)।

लालाप्रसेकापनयन(Antisialagogues—ॲन्टिसाएलॅगोग्स्)—ये द्रव्य लालाका स्राव कम करते हैं; जैसे-बेलाडोना (**डॉ. वा. दे.**)।

लालाप्रसेकजनन[2](Sialagogues—साएलॅगॉग्स्)—ये द्रव्य लालास्रावको बढ़ाते हैं। (१) कई द्रव्य मुखमें रखने पर लालाग्रन्थियोंको उत्तेजित करते हैं और लार बढ़ाते हैं; जैसे-अकरकरा, तमाखू, राई, लाल मिर्च। (२) कई द्रव्य रक्तमें मिश्रित होकर लालाद्वारा बाहर निकलते हैं और लालास्रावको बढ़ाते हैं; जैसे-पारा (**डॉ. वा. दे.**)।

उत्तेजक[3](Stimulants—स्टिम्युलन्ट्स्)—इन द्रव्योंसे अङ्गोंमें उत्तेजना आती है चाहे इन्हें मुखद्वारा लिया जाय अथवा त्वचा पर मसला जाय। इनकी क्रिया विभिन्न अवयवोंपर होती है। (१) सुषुम्णाकाण्डके उत्तेजक; जैसे-कुचला, फॉस्फरस। (२) यकृत्के उत्तेजक; जैसे-नौसादर, पित्तसारक वर्ग। (३) आँतोंके उत्तेजक; जैसे-रस-कपूर। (४) रक्ताभिसरणके उत्तेजक; जैसे-डिजिटेलिस, बेलाडोना, कपूर। (५) आमाशयके उत्तेजक; जैसे-सुगन्धि द्रव्य, मसाले। (६) त्वचाके उत्तेजक; जैसे-राई। (७) नेत्रोंके उत्तेजक; जैसे-रसौंत। (८) व्रणशोथ किंवा व्रणके उत्तेजक; जैसे-नीमकी पत्ती, संभालूकी पत्ती। **हृदयोत्तेजक** (Cordial—कॉर्डिअल्)—सुगन्धि और उष्ण द्रव्य। ये रक्ताभिसरणकी गतिको बढ़ाते हैं (**डॉ. वा. दे.**)।

द्रव्यविज्ञानीय नामक प्रथम अध्याय समाप्त ॥

'गुणविज्ञानीय' नामक द्वितीय अध्याय।

पहले अध्यायमें द्रव्यका स्वरूप और भेद विस्तारसे कहे गये हैं। आगे रस, विपाक और वीर्यका निरूपण करना है। रस, विपाक और वीर्य ये भी गुणविशेष ही हैं। अतः उनका व्याख्यान करनेके पहले आयुर्वेदोक्त समग्र गुणोंका निरूपण करना आवश्यक है। इसलिए **गुणविज्ञानीय** अध्यायका आरम्भ किया जाता है। द्रव्यगुणविज्ञानशास्त्रमें रस, विपाक, वीर्य ये गुणरूप होने पर भी विशेष ज्ञातव्य विषय हैं और उनके विषयमें बहुत

---

१ अवसादक द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुसकिन'** कहते हैं। २ लालाप्रसेकजनन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुद्दिर्रे लुआब दहन'** कहते हैं। ३ उत्तेजक द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें **'मुहर्रिक'** और **'मुनब्बिह'** कहते हैं।

कहनेका है, अतः उनका निरूपण एक-एक स्वतन्त्र अध्यायमें ही किया जायगा। इस अध्यायमें शेष गुणोंमेंसे जो आयुर्वेदमें विशेष ज्ञातव्य हैं उनका विस्तारसे और अन्योंका संक्षेपसे निरूपण किया जायगा।

गुणका लक्षण—

जो द्रव्यमें आधेय[1] (आश्रित) रूपसे रहनेवाला (द्रव्याश्रयी) हो, निष्क्रिय हो (जिससे किसी प्रकारकी क्रिया संयोग-विभागरूप कर्म) न होती हो, जो निर्गुण–गुणरहित हो (जिसमें अन्य गुण–गुणान्तर न रहता हो[2]) और जो स्वसमान गुणकी उत्पत्तिमें कारण हो[3] उसको **गुण** कहते हैं[4]। **रसवैशेषिकसूत्र**में गुणका और ही प्रकारका लक्षण कहा गया है; जैसे–जिनका लक्षण विश्व (विकीर्ण–भिन्न) हो, वे **गुण** हैं। गुणको छोड़कर अन्य पदार्थ द्रव्य, रस, वीर्य, विपाक और कर्म इन प्रत्येकका एक-एक लक्षणमें अवरोध–अन्तर्भाव होता है। जैसे–शब्दादिकोंका जो आश्रय वह **द्रव्य**, रसनेन्द्रियसे जिसका ग्रहण हो वह **रस**, कर्मलक्षण **वीर्य**, परिणामलक्षण **विपाक**; इन लक्षणोंमें जैसे समस्त द्रव्यभेद, रसभेद वीर्यभेद, और विपाकभेदोंका अवरोध होता है, ऐसा गुणका कोई एक लक्षण नहीं है जिसमें सब गुणोंका अन्तर्भाव होता हो। क्यों कि शीतोष्णादि स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य हैं, स्निग्ध और रूक्ष चक्षुर्ग्राह्य या स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य हैं; इस प्रकार सब गुणोंका एक ऐसा लक्षण नहीं बन सकता, जिसमें सब गुणोंका अवरोध होता हो। अतः वे विश्वलक्षण—भिन्न लक्षणवाले हैं, और वही उनका लक्षण है[5]।

---

१ द्रव्य और गुणका जो परस्पर संबन्ध है, उसको **समवाय संबन्ध** कहते हैं "समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।" (च. सू. अ. १) (पृथिव्यादिका गुणोंके साथ जो अपृथग्भाव–नित्य साथ रहना, उसको **समवाय संबन्ध** कहते हैं)। गुण द्रव्यमें समवाय संबन्धसे रहता है (समवायाधेयः) (**च. द.**)। द्रव्य और गुणके समवायमें **द्रव्य आधाररूपसे** और गुण आधेय(आश्रित) **रूपसे** रहता है। २ गुण द्रव्योंमें रहते हैं, गुणोंमें गुण नहीं रहते "गुणा गुणाश्रया नोक्ताः" (च. सू. अ. २६)। ३ "द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते, गुणाश्च गुणान्तरम्।" (वै. द. १।१।१०)। ४ "समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः।" (च. सू. अ. १)। "द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।" (वै. द. १।१।१६) "अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निष्क्रिया निर्गुणाः।" (**कारिकावली गुणग्रन्थ**)। "**विश्वलक्षणा गुणाः।**" (र. वै. अ. १, सू. १६८)। "विश्वं विकीर्णं भिन्नं लक्षणं येषां ते विश्वलक्षणा गुणाः। इदमत्रोक्तं भवति—शेषाणां पञ्चानां (द्रव्य-रस-वीर्य-विपाक-कर्मणां) पदार्थानामेकलक्षणावरोधो विद्यते। यथा—शब्दादीनामाश्रयत्वं सर्वद्रव्यभेदानां तुल्यम्, आस्वादग्राह्यावरोधश्च रसभेदानां, कर्मलक्षणावरोधत्वं वीर्याणां, विपाकयोश्च परिणामलक्षणावरोधस्तुल्यः; गुणानामेवमेकलक्षणावरोधो नास्ति। यथा—शीतोष्णादयः स्पर्शनेन्द्रियग्राह्याः, स्निग्ध-रूक्षौ चक्षुर्ग्राह्यौ स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यौ वा; एवं सर्वे एकलक्षणावरोधं न गच्छन्ति गुणाः। यस्मादेवमेकलक्षणावरोधं न गच्छन्ति तस्मादेवैतेषामतुल्यं विकीर्णलक्षणत्वमेव लक्षणमिति। चतुर्षु वासस्सु स्थितेषु त्रीणि चिह्नितान्येकमचिह्नितं, तदेव तस्याचिह्नितत्वं तेषु चिह्नं भवति, तद्वदिहापीति।" (**भा.**)।

गुण-संख्या—

अर्थ (श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियोंके पाँच विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), सूत्रस्थानके यज्जःपुरुषीय (२५ वें) अध्यायमें कहे हुए गुरु आदि बीस गुण (गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र, द्रव), बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास-ये ४१ **गुण** हैं[1]।

वक्तव्य—इनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच **वैशेषिक गुण** कहलाते हैं; क्योंकि शब्दादि क्रमसे आकाशादि पाँच भूतोंके एक-एक विशेष गुण हैं। एकके गुण जो दूसरे भूतमें देखे जाते हैं वे भूतान्तरके अनुप्रवेशसे होते हैं। गुर्वादि द्रवान्त बीस **सामान्य गुण**[2] कहलाते हैं, क्योंकि ये पृथिव्यादि पाँचों महाभूतोंमें सामान्यतया रहते हैं। 'बुद्धि' शब्दसे स्मृति, चेतना, धृति, अहंकार आदि बुद्धिविशेषोंका भी ग्रहण होता है। बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये छः **आत्मगुण** कहलाते हैं। परत्वादि दस भी **सामान्य गुण** हैं, परन्तु गुर्वादिकी अपेक्षया आयुर्वेदमें कम उपयुक्त होनेसे वे अन्तमें कहे गये हैं (च. द.)। **कविराज योगीन्द्रनाथ सेन**जीने पाँच इन्द्रियोंके पाँच विषयोंके साथ छठे मनके अर्थ चिन्त्य-विचार्य आदिका भी अर्थोंमें ग्रहण किया है; क्योंकि "मनो मनोऽर्थौ बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्य-गुण-संग्रहः" (च. सू. अ. ८) इस सूत्रमें मनके अर्थोंका भी अध्यात्मगुणोंमें उल्लेख है। इस प्रकार 'मनोऽर्थ'को लेकर योगीन्द्रनाथसेनजीके मतमें गुणोंकी संख्या ४२ होती है।

---

१ "सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः" (च. सू. अ. १)। "अनेन त्रिविधा अपि वैशेषिकाः, सामान्याः, आत्मगुणाश्चोद्दिष्टाः। तत्रार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। यदुक्तम्—"अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः।" (च. शा. अ. १) इति। एते च वैशेषिकाः; यत आकाशस्यैव शब्दः प्राधान्येन, वायोरेव स्पर्शः प्राधान्येन, एवमग्न्यादिषु रूपादयः। अन्यगुणानां चान्यत्र दर्शनं भूतान्तरानुप्रवेशात्। वचनं हि—"विष्टं ह्यपरं परेण।" (न्या. द. अ. ३, आ. १., सू. ६६) इति। गुर्वादयस्तु गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-श्लक्ष्ण-खर-स्थूल-सूक्ष्म-सान्द्र-द्रवा विंशतिः। एते च सामान्यगुणाः, पृथिव्यादीनां साधारणत्वात्। एते यज्जःपुरुषीये प्राय आयुर्वेदोपयुक्तत्वात् परादिभ्यः पृथक् पठिताः। बुद्धिः ज्ञानम्; अनेन च स्मृति-चेतना-धृत्यहङ्कारादीनां बुद्धिविशेषाणां ग्रहणम्। प्रयत्नोऽन्ते येषां निर्देशे ते प्रयत्नान्ताः; एतेन चेच्छा-द्वेष-सुख-दुःख-प्रयत्नानां ग्रहणम्। वचनं हि—"इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः॥" (च. शा. अ. १) इति। परादयो यथा—"परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च॥ संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ताः परादयः।" (च. सू. अ. २६)। २ कविराज **गङ्गाधरजीने** गुर्वादि द्रवान्त बीस गुणोंको **शारीर गुण** कहा है; क्योंकि इन गुणोंका शरीर और शरीर पर प्रयुक्त होनेवाले द्रव्योंसे ही विशेष संबन्ध है।

नागार्जुनके मतसे दस कर्मण्य गुण—

भदन्त नागार्जुनने रसवैशेषिकसूत्रमें शीत[1], उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, गुरु, लघु, मृदु और तीक्ष्ण-इन दस गुणोंको **कर्मण्य** (चिकित्साकर्ममें विशेष योग्यता रखनेवाले—उपयोगी) गुण बताया है।

वक्तव्य—चरक-सुश्रुत आदिमें अष्टविधवीर्यवादीके मतमें नागार्जुनोक्त कर्मण्य गुणोंको वीर्य माना है। परन्तु नागार्जुनने **'वीर्य'** शब्दसे छर्दनीय, अनुलोमनीय आदि भिन्न ही वीर्य बताए हैं। अतः नागार्जुनने परसामर्थ्यसंपन्न शीत-उष्ण आदि गुणोंको **कर्मण्य गुण** बताया है। अब इन गुणोंका विशेष विवरण किया जाता है—

अर्थ (इन्द्रियोंके विषयों)का निरूपण—

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी-इन पञ्चभूतोंके गुणतया कहे हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध—ये श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण इन पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं। इनको **गोचर** और **अर्थ** भी कहते हैं[2]। इनमें रसको छोड़कर शेष चार अर्थोंका विशेष विचार शारीरक्रियाविज्ञान और मनोविज्ञानका विषय है, द्रव्यगुण-विज्ञानका प्रधान विषय नहीं है। अतः उनका यहाँ विशेष विवरण नहीं किया गया है। इन पाँच विषयोंके अन्तर्गत रसोंका आगे **रसविज्ञानीय** नामके तृतीय अध्यायमें विस्तारसे वर्णन किया जायगा।

गुर्वादि बीस गुणोंका निरूपण—

गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र और द्रव-ये वीस **सामान्यगुण** या **शारीरगुण** कहलाते हैं[3] (च. सू. अ. २५)।

गुर्वादि गुणोंके कर्मोंका निरूपण—

द्रव्यगुणशास्त्रमें नानाप्रकारके द्रव्योंमें रहे हुए गुरु-लघु आदि गुणोंका शरीर पर होने-वाले उनके कर्मोंसे अनुमान किया जाता है। अतः गुर्वादि गुणोंके कर्म चरकोक्त क्रमसे विस्तारसे कहे जाते हैं[4]।

गुरु गुणके कर्म—

गुरु गुण (वाला [5]द्रव्य) अवसाद (शरीरकी ग्लानि-शिथिलता), उपलेप (मलोंकी

---

१ "शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिच्छिल-गुरु-लघु-मृदु-तीक्ष्णा गुणाः कर्मण्याः।" (र. वै. ३।११११।) । २ "अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचराविषया गुणाः।" (च. शा. अ. १)। ३ "तस्य (द्रव्यस्य) गुणाः शब्दादयो (**शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः**) गुर्वादयश्च द्रवान्ताः।" (च. सू. अ. २६)। "स (आहारः) विंशतिगुणः गुरु-लघु-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-श्लक्ष्ण-खर-सूक्ष्म-स्थूल-सान्द्र-द्रवानुगमात्।" (च. सू. अ. २५)। ४ "अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्मविस्तरम्। कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः॥" (सु. सू. अ. ४६)। ५ गुण द्रव्यको आश्रय करके ही रहता है-स्वतन्त्र नहीं रह सकता, अतः गुरु-लघु आदि शब्दोंसे यहाँ 'गुरु-लघु आदि गुणयुक्त द्रव्य' यह अर्थ लिया जाता है।

वृद्धि और चिकनाहट), कफ, तृप्ति और शरीरकी पुष्टि (बृंहण) करनेवाला, चिरपाकी (देरीसे पचनेवाला) और वातहर है । महाभूतोंमें पृथ्वी और जल इन दोमें गुरुत्व रहता है, अतः कार्यद्रव्योंमें पृथ्वी और जल इन दो महाभूतोंकी अधिकतासे गुरुत्व गुण उत्पन्न होता है[1] । भाषामें गुरु गुणको **भार** या **वजन** कहते हैं ।

वक्तव्य—वैशेषिक दर्शनमें 'जिस गुणके द्वारा किसी वस्तुका स्वाभाविक पतन होता है, उसको **गुरु** कहते हैं'[1] इस लक्षणको मानते हुए भी द्रव्यगुणशास्त्रमें गुरुपाक तथा गौरवजनक द्रव्यको **गुरु** माना जाता है । मूर्त द्रव्योंमें जिस प्रमाणमें अवयवों (घटक अणुओं) का संघात और संश्लेष न्यून या अधिक होना है उस प्रमाणमें उसमें गुरुत्व न्यून या अधिक होता है । लौकिक परिभाषामें जो द्रव्य वायुमण्डलमें छोड़ा जानेपर नीचे गिरता है उसमें **गुरुत्व** और इसके विपरीतमें **लघुत्व** माना जाता है ।

लघु गुणके कर्म—

लघु गुण (वाला द्रव्य) उत्साह, स्फूर्ति, मलका क्षय, अतृप्ति, दुर्बलता और कृशता लानेवाला (लेखन); कफघ्न, वातकर, परम पथ्य, शीघ्र पचनेवाला, व्रणका रोपण करनेवाला और शरीरको हलका करनेवाला है । वैशेषिक दर्शनमें लघुको स्वतन्त्र गुण नहीं माना है । गुरुत्वके अभाव (कमी) को ही **लघु** कहते हैं । द्रव्योंमें तेज, वायु और आकाश महाभूतोंकी अधिकतासे लघुत्व उत्पन्न होता है । जिस प्रमाणमें मूर्त द्रव्योंमें अवयवों (घटक अणुओं) का संघात और संश्लेष विरल होता है उस प्रमाणमें उसमें गौरव कम और लाघव अधिक होता है । गुरुत्व और लघुत्व दो सापेक्ष गुण हैं । एक ही द्रव्य अपनेसे लघु द्रव्यकी अपेक्षया गुरु और अपनेसे गुरु द्रव्यकी अपेक्षया लघु होता है; परन्तु द्रव्यगुणशास्त्रमें जिस द्रव्यमें ऊपर लिखे गुरुत्वके कर्म विद्यमान हों उसको **गुरु** और जिस द्रव्यमें लघुत्वके कर्म विद्यमान हों उसको **लघु** कहा जाता है[2] ।

शीत गुणके कर्म—

शीत गुण (वाला द्रव्य) उष्णपीडितको सुख देनेवाला, शारीरिक स्रावोंका स्तम्भन करनेवाला तथा मूर्च्छा, तृषा, स्वेद और दाहको मिटानेवाला है । द्रव्योंमें जल महाभूतकी अधिकतासे शीत गुण उत्पन्न होता है । शीत गुणसे मूर्त द्रव्योंमें संघात (संयोग-

---

१ "सादोपलेप-बलकृद्गुरुस्तर्पण-बृंहणः ।" (सु. सू. अ. ४६) । "गुरु वातहरं पुष्टिश्लेष्मकृच्चिरपाकि च ।" (भा. पू. खं.) । "गौरवं पार्थिवमाप्यं च ।" (र. वै. ३, ११६) । "गुरुत्वं जल-भूम्योः पतनकारणम् ।" (प्र. पा. भा. गुणग्रन्थ) । "बृंहणे गुरुः ।" (हे.) । "लघुस्तद्विपरीतः (गुरुविपरीतः) स्याल्लेखनो रोपणस्तथा ।" (सु. सू. अ. ४६) । "लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कफघ्नं शीघ्रपाकि च ।" (भा. पू. खं.) । "लङ्घने लघुः ।" (हे.) । "लाघवमन्यदीयम् ।" (र. वै. ३, ११७) । "लाघवं पृथिव्युदकाभ्यामन्यस्माद्भूतसमूहाद् वाय्वाकाशाग्निलक्षणाद्भवतीति ।" (भा.) ।

घनता) भी उत्पन्न होता है । शीत गुण कर्मानुमेय और स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य भी होता है[१] ।

उष्ण गुणके कर्म—

उष्ण गुण (वाला द्रव्य) सर (सारक-प्रवृत्ति करानेवाला), पाचक (आहार, रसादि धातु और व्रणको पकानेवाला) तथा मूर्च्छा, तृषा, स्वेद और दाहको उत्पन्न करनेवाला है । द्रव्यमें उष्ण गुण तेज-अग्नि महाभूतकी अधिकतासे उत्पन्न होता है । उष्ण गुणसे मूर्त द्रव्योंमें कहीं विस्तार (फैलाव) और कहीं संघात होता है । वैशेषिक दर्शनमें शीत और उष्ण इन दो गुणोंको स्वतन्त्र गुण नहीं माने है, परन्तु स्पर्श गुणके भेद माने है। शीत और उष्ण ये दो गुण भी सापेक्ष हैं। सामान्य व्यवहारमें हमारे शरीरकी उष्णतासे अधिक उष्ण स्पर्शवाले द्रव्यको उष्ण और कम उष्ण स्पर्शवाले द्रव्यको शीत कहा जाता है । द्रव्यगुणशास्त्रमें उष्ण और शीत गुणके जो कर्म लिखे हैं उनको देख कर उनका निर्णय किया जाता है । उष्ण गुण कर्मानुमेय और स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य भी है[२] ।

स्निग्ध गुणके कर्म—

स्निग्ध गुण (वाला द्रव्य) शरीरमें स्निग्धता (क्लेद) और मृदुता उत्पन्न करनेवाला, बल और वर्णको बढ़ानेवाला, कफकर, वातहर तथा वृष्य है । स्नेह जल महाभूतका विशेष गुण है । द्रव्योंमें जल महाभूतकी अधिकतासे स्निग्धता उत्पन्न होती है । स्निग्ध गुणसे अवयवोंका संग्रह (चूर्णादिके कणोंका परस्पर संयोजन) और मृदुता उत्पन्न होती है[३] ।

रूक्ष गुणके कर्म—

रूक्ष गुण (वाला द्रव्य) शरीरमें रूक्षता (रूखापन)-कठिनता और खरत्व (खुरदरापन) लानेवाला, शोषण करनेवाला, बल और वर्णका ह्रास करनेवाला, कफ-हर, वातकर और अवृष्य है । द्रव्यमें पृथ्वी, वायु और अग्नि महाभूतकी अधिकतासे रूक्षता उत्पन्न होती है । वैशेषिक दर्शनमें स्नेहके अभावको ही रूक्ष माना है, उसको स्वतन्त्र गुण नहीं माना है[४] ।

---

१ "ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छा-तृट्-स्वेद-दाहजित् ।" (सु. सू. अ. ४६)। "स्तम्भने हिमः ।" (हे.)। "शीत-स्निग्ध-गुरु-पिच्छिलास्तत्राप्याः ।" (र. वै. ३।११२) । "तेषां मृदु-शीतोष्णाः स्पर्शग्राह्याः ।" (सु. सू. अ. ४२)। २ "उष्णस्तद्विपरीतः (शीतविपरीतः) स्यात् पाचनश्च विशेषतः ।" (सु. सू. अ. ४६) । "तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ ।" (सु. सू. अ. ४१)। "तेषां मृदु-शीतोष्णाः स्पर्शग्राह्याः ।" (सु. सू. अ. ४१) । "स्वेदने उष्णः ।" (हे.) । ३ "स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा ।" (सु. सू. अ. ४६) । "स्निग्धं वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं बलावहम् ।" (भा. पू. खं.)। "स्नेहोऽपां विशेषगुणः संग्रहमृजादिहेतुः ।" (प्र. पा. भा. गुणग्रन्थ)। "संग्रहः परस्परमयुक्तानां सक्त्वादीनां पिण्डीभावहेतुर्गुणविशेषः ।" (**न्यायकन्दली**)। ४ "रूक्षस्तद्विपरीतः (स्निग्धविपरीतः) स्याद्विशेषात् स्तम्भनः खरः ।" (सु. सू. अ. ४६)। "रूक्षं समीरणकरं परं कफहरं मतम् ।" (भा. पू. खं.)। "शोषणे रूक्षः ।" (हे.)। "द्रव्याणि × रूक्ष गुणबहुलान्याग्नेयानि, वायव्यानि च ।" (च. सू. अ. २६)। "रौक्ष्य-वैशद्ये पार्थिव-वायव्ये ।" (र. वै. ३।११४)।

मन्द गुणके कर्म—

मन्द गुण (वाला द्रव्य) देरीसे कार्य करनेवाला (चिरकारी), सर्व कार्यमें शिथिल, अल्प कार्य करनेवाला तथा शामक होता है। पृथ्वी और जल महाभूतकी अधिकतासे द्रव्यमें मन्द गुण उत्पन्न होता है[१]।

तीक्ष्ण गुणके कर्म—

तीक्ष्ण गुण (वाला द्रव्य) दाह-स्राव और पाक करनेवाला, पित्तकर, कफ-वात-नाशक, लेखन (व्रणलेखन और शरीरको पतला करनेवाला), शोधन तथा व्यवायी होता है। अग्नि महाभूतकी अधिकतासे द्रव्यमें तीक्ष्ण गुण उत्पन्न होता है[२]।

स्थिर गुणके कर्म—

स्थिर गुण (वाला द्रव्य) वात और मल (पुरीष-मूत्र-स्वेदादि) का स्तम्भन-धारण करनेवाला और चिरस्थायी (अधिक समय तक नष्ट न होनेवाला) होता है[३]।

सर गुणके कर्म—

सर गुण (वाला द्रव्य) अधोवात और मल (मूत्र तथा पुरीष) की प्रवृत्ति करनेवाला (अनुलोमन) होता है। जल महाभूतकी अधिकतासे द्रव्यमें सर गुण उत्पन्न होता है[४]।

मृदु गुणके कर्म—

मृदु गुण (वाला द्रव्य) दाह-पाक और स्रावको दूर करनेवाला तथा अवयवोंको श्लथ (ढीला और कोमल) करनेवाला है। द्रव्योंमें आकाश और जल महाभूतकी अधिकतासे मृदु गुण उत्पन्न होता है[५]।

कठिन गुणके कर्म—

कठिन गुण (वाला द्रव्य) अवयवोंको दृढ़ करता है। द्रव्यमें कठिन गुण पृथ्वी महाभूतकी अधिकतासे उत्पन्न होता है[६]।

---

१ "मन्दो यात्राकरः स्मृतः ।" (सु. सू. अ. ४६)। "मन्दः सकलकार्येषु शिथिलोऽल्पोऽपि कथ्यते ।" (भा. पू. खं.)। "शमने मन्दः" (हे.)। "द्रव्याणि × मन्द × गुणबहुलानि पार्थिवान्याप्यानि च ।" (च. सू. अ. २६)। २ "दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणः" (सु. सू. अ. ४६)। "तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवातहृत् ।" (भा. पू. खं.)। "शोधने तीक्ष्णः" (हे.)। "तैजसमौष्ण्यं तैक्ष्ण्यं च ।" (र. वै. ३।११३)। ३ "स्थिरो वातमलस्तम्भी" (भा. पू. खं.)। "धारणे स्थिरः" (हे.)। "द्रव्याणि × स्थिर × गुणबहुलानि पार्थिवानि ।" (च. सू. अ. २६)। ४ "सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः" (सु. सू. अ. ४६)। "सरस्तेषां (वातमलानां) प्रवर्तकः ।" (भा. पू. खं.)। "सरं × × आप्यम् ।" (सु. सू. अ. ४१)। "प्रेरणे चलः (सरः) ।" (हे.)। ५ "मृदुरन्यथा" (दाहपाकशमनस्तीक्ष्णश्च) (सु. सू. अ. ४६)। "श्लथने मृदुः" (हे.)। "मार्दवमान्तरिक्षमाप्यं च ।" (र. वै. ३।११५)। "तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वम् ।" (सु. सू. अ. ४१)। ६ "दृढने कठिनः" (हे.)। "कठिनत्वं पार्थिवम् ।" (र. वै. २, ५९)

विशद गुणके कर्म—

विशद गुण (वाला द्रव्य) पिच्छिल गुण(युक्त द्रव्य)से विपरीत कर्म करनेवाला तथा विशेष करके क्लेद(गीलापन)का शोषण करनेवाला और व्रणको सुखानेवाला है। द्रव्योंमें पृथ्वी, वायु, तेज और आकाश महाभूतकी अधिकतासे विशद गुण उत्पन्न होता है[१]।

पिच्छिल गुणके कर्म—

पिच्छिल गुण (वाला द्रव्य) जीवन, बलकारक, सन्धान (जोड़नेवाला), कफकारक, गुरु (भारीपन लानेवाला) और उपलेप करनेवाला है। जल महाभूतकी अधिकतासे द्रव्यमें पिच्छिल गुण उत्पन्न होता है। पिच्छिल गुणको भाषामें **लुआब** और पिच्छिल गुणयुक्त द्रव्यको **लुआबदार** कहते हैं[२]।

श्लक्ष्ण गुणके कर्म—

श्लक्ष्ण गुण (वाले द्रव्य) के कर्म पिच्छिल गुणवाले द्रव्यके समान हैं। श्लक्ष्ण गुण-वाला द्रव्य व्रणका रोपण करता है। द्रव्यमें श्लक्ष्ण गुण आकाश और तेज महाभूतकी अधिकतासे उत्पन्न होता है। स्नेह गुणके विना भी द्रव्य श्लक्ष्ण-चिकना होता है; जैसे—घिसा हुआ मणि आदि कठिन द्रव्य भी चिकना होता है। श्लक्ष्ण गुण कर्मानुमेय और स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य भी है[३]।

खर (कर्कश[४]) गुणके कर्म—

खर (खरस्पर्श—खुरदरा) गुण (युक्त द्रव्य) विशद गुण (युक्त द्रव्य)के समान कर्म करनेवाला और लेखन (शरीरको कृश करनेवाला तथा व्रणादिमें उभरे हुए मांसा-दिको छीलनेवाला) होता है। पृथ्वी, वायु और तेज इन महाभूतोंकी अधिकतासे द्रव्यमें खरत्व उत्पन्न होता है[५]।

---

१ "विशदो विपरीतोऽस्मात् (पिच्छिलात्) क्लेदाचूषणरोपणः।" (सु. सू. अ. ४६)। "क्लेद-च्छेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः।" (भा. पू. खं.)। "क्षालने विशदः" (हे.)। "रौक्ष्य-वैशद्ये पार्थिव-वायव्ये" (र. वै. ३।११४)। "द्रव्याणि × विशद × गुणबहुलानि पार्थिवान्याग्नेयानि वायव्यानि च।" (च. सू. अ. २६)। "विशदमाकाशीयम्।" (सु. सू. अ. ४१)।
२ "पिच्छिलो जीवनो (तन्तुलो—भा. प्र.) बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः।" (सु. सू. अ. ४६)। "लेपने पिच्छिलः।" (हे.)। "शीत-स्निग्ध-गुरु-पिच्छिलास्तत्राप्याः।" (र. वै. ३।११२)।
३ "श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः" (सु. सू. अ. ४६)। "श्लक्ष्णः स्नेहं विनाऽपि स्यात् कठिनोऽपि हि रोपणः।" (भा. पू.)। "रोपणे श्लक्ष्णः" (हे.)। "द्रव्याणि × श्लक्ष्ण × गुणबहुलान्याकाशा-त्मकानि।" (च. सू. अ. २६)। ४ सुश्रुतने खरके स्थानमें कर्कश गुण लिखा है।
५ "कर्कशो विशदो यथा।" (सु. सू. अ. ४६)। "द्रव्याणि खरगुणबहुलानि पार्थिवानि, वायव्यानि च।" (च. सू. अ. २६)। "खरं तैजसं वायवीयं च।" (सु. सू. अ. ४१)। "लेखने खरः।" (हे.)।

सूक्ष्म गुणके कर्म—

सूक्ष्म गुण (युक्त द्रव्य) अपनी सूक्ष्मताके कारण शरीरके सूक्ष्म स्रोतोंमें भी प्रवेश कर सकता है और स्रोतोंको खुला करता है; जैसे-लवण, तैल आदि । द्रव्यमें सूक्ष्म गुण अग्नि, वायु और आकाश-इन तीन महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न होता है । यहाँ सूक्ष्मका अर्थ **छोटा** नहीं है[१] ।

स्थूल गुणके कर्म—

स्थूल गुण (युक्त द्रव्य) शरीरको स्थूल करनेवाला, स्रोतोंमें अवरोध उत्पन्न करनेवाला और गुरुपाक होता है । द्रव्यमें पृथ्वी महाभूतकी अधिकतासे स्थूल गुण उत्पन्न होता है[२] ।

सान्द्र गुणके कर्म—

सान्द्र गुण (वाला द्रव्य) शरीरको स्थूल करनेवाला, स्रोतोंका अवरोध करनेवाला और प्रसादन करनेवाला होता है । द्रव्यमें सान्द्र गुण पृथ्वी महाभूतकी अधिकतासे उत्पन्न होता है । सान्द्रको भाषामें **गाढ़ा** कहते हैं[३] ।

द्रव गुणके कर्म—

द्रव गुण (वाला द्रव्य) शरीरको क्लिन्न-आर्द्र करनेवाला और सर्वत्र व्याप्त होने (फैलने) वाला होता है । द्रव्यमें जल महाभूतकी अधिकतासे द्रव गुण उत्पन्न होता है । जिस गुणके कारण कोई वस्तु बहती है उसको **द्रव** कहते हैं[४] ।

ऊपर लिखे हुए चरकोक्त वीस गुणोंके अतिरिक्त नीचे लिखे हुए छः गुणोंका वर्णन भी आयुर्वेदमें पाया जाता है:-

शुष्क गुणके कर्म—

शुष्क गुण (वाला द्रव्य) द्रव गुणवाले द्रव्यसे विपरीत गुणवाला होता है । द्रव्यमें पृथ्वी, वायु और तेज महाभूतकी अधिकतासे शुष्क गुण उत्पन्न होता है[५] ।

---

१ "सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः ।" (सु. सू. अ. ४६) । "देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेषत् सूक्ष्ममुच्यते ।" (भा. पू. खं.) । "द्रव्याणि सूक्ष्मगुणबहुलानि वायव्यान्याकाशात्मकानि च ।" (च. सू. अ. २६) । "सूक्ष्मं तैजसम् ।" (सु. सू. अ. ४१) । "विवरणे सूक्ष्मः ।" (हे.) । २ "स्थूलः स्याद्बन्धकारकः ।" (सु. सू. अ. ४६) । "स्थूलः स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत् ।" (भा. पू. खं.) । "द्रव्याणि स्थूलगुणबहुलानि पार्थिवानि ।" (च. सू. अ. २६) । "संवरणे स्थूलः ।" (हे.) । ३ "सान्द्रः × स्याद्बन्धकारकः ।" (सु. सू. अ. ४६) । "प्रसादने सान्द्रः ।" (हे.) । ४ "द्रवः प्रक्लेदनः" (सु. सू. अ. ४६) । "द्रवः क्लेदकरो व्यापी" (भा. पू. खं.) । "विलोडने द्रवः ।" (हे.) । "द्रव्याणि द्रवगुणबहुलान्याप्यानि ।" (च. सू. अ. २६) । "द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम् ।" (प्र. पा. भाष्य गुणग्रन्थ) । ५ "शुष्कस्तद्विपरीतः (द्रवविपरीतः) ।" (भा. पू. खं.) ।

आशु गुणके कर्म—

आशु गुण (युक्त द्रव्य), जलमें डाला हुआ तैलविन्दु जैसे शीघ्र फैल जाता है वैसे शरीरमें शीघ्र फैल जाता है; जैसे-विष। द्रव्यमें वायु महाभूतकी अधिकतासे आशु गुण उत्पन्न होता है[1]।

व्यवायी गुणके कर्म—

व्यवायी गुण (युक्त द्रव्य) अपक्वावस्थामें ही समग्र शरीरमें व्याप्त होकर पीछे परिपाकको प्राप्त होता है। द्रव्यमें वायु और आकाश महाभूतकी अधिकतासे व्यवायी गुण उत्पन्न होता है। कई आचार्य सर गुणकी प्रकर्षावस्थाको ही **व्यवायी** गुण कहते हैं।[2]

विकासी गुणके कर्म—

विकासी गुण (युक्त द्रव्य) अपक्वावस्थामें ही समग्र शरीरमें व्याप्त होकर धातुओंमें शैथिल्य उत्पन्न करता है। द्रव्यमें वायु महाभूतकी अधिकतासे विकासी गुण उत्पन्न होता है। कई आचार्य तीक्ष्ण गुणकी प्रकर्षावस्थाको **विकासी** गुण कहते हैं।[3]

सुगन्ध गुणके कर्म—

सुगन्ध गुणयुक्त द्रव्य सुख देनेवाला, अन्नपर रुचि उत्पन्न करनेवाला और मृदु होता है। द्रव्यमें वायु महाभूतकी अधिकतासे सुगन्ध गुण उत्पन्न होता है।

दुर्गन्ध गुणके कर्म—

दुर्गन्ध गुणयुक्त द्रव्य सुगन्ध द्रव्यसे विपरीत गुणवाला तथा हृल्लास (जी मिचलाना) और अरुचि उत्पन्न करता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध गुणके भेद हैं।

वक्तव्य—यद्यपि 'सार्था गुर्वादयः' (च. सू. अ. १) इत्यादि श्लोकमें ४१ या ४२ गुण कहे गये हैं, परन्तु जैसा कि **चरकने** द्रव्यके लक्षणके अनन्तर लिखा है कि-उस (द्रव्य)के शब्दादि पाँच और गुर्वादि द्रवान्त वीस गुण हैं। अर्थात् द्रव्यगुणविज्ञानमें प्रधानतया शब्दादि पाँच और गुर्वादि बीस-इन पचीस गुणोंका विचार और उपयोग होता है। वैसे परत्वापरत्वादि दस गुणोंका भी गौणरूपसे कहीं-कहीं उपयोग किया गया है। बुद्धि, बुद्धिके भेद और प्रयत्नान्त पाँच गुण ये आत्मगुण होनेसे वे इस शास्त्रके विचार्य विषयोंमें नहीं हैं। इनका विचार मानसशास्त्रमें ही प्रधानतया होता है। अष्टविधवीर्यवादीके मतमें **शीत, उष्ण, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द,**

---

१ "आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत्।" (सु. सू. ४६)। "आशुराशुकरो देहे धावत्यम्भसि तैलवत्।" (भा. पू. खं.)। २ "व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते।" (सु. सू. अ. ४६)। "तत्र द्रव्यं व्यवायिगुणबहुलं वायव्यमाकाशात्मकं च।" (च. सू. अ. २६)। ३ "विकासी विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत्।" (सु. सू. अ. ४६)। "द्रव्यं विकासीगुणबहुलं वायव्यम्।" (अ. सं. सू. अ. १७)। "सरतीक्ष्णप्रकर्षौ तु कैश्चित्तौ (व्यवायि-विकासिगुणौ) परिकीर्तितौ।" (अ. सं. सू. अ. १)।

तीक्ष्ण—ये आठ गुण और द्विविधवीर्यवादीके मतमें **शीत** और **उष्ण** ये दो गुण जब उत्कृष्ट शक्तिवाले होते हैं तब उनको **वीर्य** संज्ञा प्राप्त होती है; परन्तु जब ये उत्कृष्टशक्तिसंपन्न नहीं होते तब ये सामान्यतया **गुण** ही कहे जाते हैं[1]। **गुरु** और **लघु** ये दो गुण जब निष्ठापाकके रूपमें परिणत होते हैं, तब उनको **गुरुविपाक** और **लघुविपाक** यह संज्ञा दी जाती है (सु. सू. अ. ४०, च. सू. अ. २६)। **चरक, सुश्रुत, अष्टाङ्गसंग्रह** और **अष्टाङ्गहृदयमें** गुर्वादि वीस गुण परस्पर विरोधी दस द्वंद्वों(युग्मों-जोड़ों)के रूपमें दिये गये हैं। उनमें चरक, अष्टाङ्गसंग्रह तथा अष्टाङ्गहृदयके दस युग्म या वीस गुण समान हैं। **सुश्रुतने मन्द-तीक्ष्ण** युग्मके स्थानमें **मृदु-तीक्ष्ण; स्थिर-सर** युग्मके स्थानमें **मन्द-सर** और **श्लक्ष्ण-खर** युग्मके स्थानमें **श्लक्ष्ण-कर्कश** ये युग्म दिये हैं। अर्थात् **मन्द**के स्थानमें **मृदु, स्थिर**के स्थानमें **मन्द** और **खर**के स्थानमें **कर्कश** गुण लिखा है। **सुश्रुतमें कठिन** और **स्थूल** ये दो चरकोक्त गुण नहीं दिये गये हैं। **भावप्रकाशमें** सुश्रुतमतसे दस द्वंद्व या वीस गुण लिखे गये हैं। चरकोक्त **मन्द-तीक्ष्ण** और सुश्रुतोक्त **मृदु-तीक्ष्ण** युग्मके स्थानमें भावप्रकाशमें **तीक्ष्ण-श्लक्ष्ण** यह युग्म दिया गया है। चरकोक्त **मृदु-कठिन** युग्मके स्थानमें भावप्रकाशमें **मृदु-कर्कश, सान्द्र-द्रवके** स्थानमें **द्रव-शुष्क** और **मन्द-तीक्ष्ण**के स्थानमें **आशु-मन्द** ये युग्म लिखे हैं। सुश्रुतके वर्तमान पाठमें जो **सुगन्ध-दुर्गन्ध** गुण कहे हैं, वे गन्धके ही भेद हैं, अतः गुर्वादि विंशति गुणोंमें इनकी गणना करना ठीक नहीं है। भावप्रकाशमें जो सुश्रुतोक्त गुण लिखे हैं उनमें ये दो गुण हैं भी नहीं। **व्यवायी** और **विकासी** ये दो गुण सुश्रुतके वर्तमान पाठको छोड़कर किसी अन्य ग्रन्थमें बीस गुणोंमें भी नहीं लिखे गये हैं। संभव है कि सुगन्ध, दुर्गन्ध, व्यवायी और विकासी ये चार गुण पीछेसे प्रक्षिप्त किये गये हों। संग्रहकारने व्यवायीको सर गुणकी प्रकर्षावस्था और विकासी गुणको तीक्ष्ण गुणकी प्रकर्षावस्था बता करके समाधान किया है और सुश्रुतमें भी ये वीसकी संख्यासे अधिक ही होते हैं। चरकमें मन्द-तीक्ष्ण युग्ममें मन्द मृदुके स्थानमें दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। भावप्रकाशमें आशु और मन्द यह युग्म आशु आशुकारी और मन्द चिरकारी-इस अभिप्रायसे दिया हुआ है। द्रव्यगुणके प्रकरणमें ये दो शब्द आते भी हैं और उनकी टीकाकारों द्वारा ऐसी व्याख्या भी दी गयी है। चरक-सुश्रुत आदिने यद्यपि कुछ हेरफेरसे ये बीस गुण लिखे हैं, तथापि द्रव्यगुणके प्रकरणमें अन्य गुणोंका भी उल्लेख पाया जाता है। इस विषयमें **चक्रपाणिदत्तने**

---

१ "गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः। परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः॥" (अ. सं. सू. अ. १७)। "पूर्वोक्ता गुर्वाद्या अष्टौ यदोत्कृष्टशक्तयः सन्तो द्रव्यं समधिशेरते तदा वीर्यशब्दवाच्याः, यदा तूत्कृष्टशक्तियुक्ता न भवन्ति तदा सामान्यगुणा एव। ये च गुर्वाद्यवशिष्टा द्वादश गुणास्ते स्वभावेनैव परसामर्थ्यहीना उत्कृष्टशक्तिरहितास्तेऽपि सामान्यगुणशब्दवाच्याः, ते न कदाचिदपि वीर्याख्यां लभन्त इति।" (इन्दु)।

मद्यगुणके प्रकरणमें (च. चि. अ. २४ में) लिखा है कि—"एते विकासित्वादयो गुणा यद्यपि विंशतिगुणगणनायां न पठिताः, तथाऽप्यसंख्येयतया गुणानामेषामपि गुणत्वं सिद्धं; ये तु तत्र पठितास्ते तावदाविष्कृततमा ज्ञेयाः।" अर्थात् विकासी, आशुकारी और व्यवायी गुण बीस गुणोंकी गणनामें नहीं दिये गये हैं, (परंतु यहाँ उन्हें गुण कहा है), तथापि गुणोंके असंख्येय होनेसे विकासी आदि भी गुणसंज्ञक हैं। बीस गुणोंमें जिनकी गणना की गयी है वे गुण आविष्कृततम (प्रसिद्धतम) हैं।[1]

बुद्धि-इच्छा-द्वेष-सुख-दुःख और प्रयत्नका निरूपण—

बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये आत्मगुण होनेसे इनका विचार प्रधानतया मानसशास्त्रका विषय है। वहीं इनका विशेष विवरण देखना चाहिये। द्रव्यगुणशास्त्रमें इनका विशेष विवरण अप्रासंगिक होनेसे नहीं दिया जाता।

परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास ये दस **परादि** गुण कहलाते हैं। इन दस गुणोंके ज्ञानके विना चिकित्सा ठीक नहीं हो सकती है (और चिकित्सा ठीक होनेसे ही रोगनिवृत्ति होती है), इसलिए उनके लक्षण यहाँ कहे जाते हैं[2]।—

---

१ गुणके विषयमें **डॉ. भा. गो. घाणेकरजी** सुश्रुतकी व्याख्यामें लिखते हैं कि-"गुण ओषधियोंके वैद्यकीय कार्यके द्योतक होते हैं। गुणोंको फॉर्मालॉजिकल अॅक्शन्स् कह सकते हैं। ये संख्यामें साधारणतया बीस हैं; परन्तु व्यवायी, विकासी इत्यादि अन्य गुण भी होते हैं। ×××। कुछ आधुनिक विद्वान् गुणसे भौतिकगुण (Physical Properties) समझते हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं है। ४६ वें अध्यायमें गुणोंका विवरण करते समय लिखा है-"कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नाना द्रव्याश्रया गुणाः"। भौतिक धर्म प्रत्यक्ष होते हैं, परन्तु वैद्यकीय गुण कर्मानुमेय होते हैं। इसलिये रस-वीर्यादिद्वारा ओषधियोंके जो-जो कार्य शरीरमें होते हैं वे सब उनके गुण होते हैं। ओषधियोंके इन गुणोंका उत्कर्षापकर्ष भी संस्कार तथा भावनाओं द्वारा किया जाता है-"गुरूणां लाघवं विद्यात् संस्काराद् सविपर्ययम्। व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डिकाः॥" (च. सू. अ. २७)। इसमें संदेह नहीं कि गुरु, लघु, द्रव, कठिन आदि शब्द ओषधियोंकी भौतिक स्थिति (Physical State) प्रदर्शित करनेके लिये भी प्रयुक्त होते हैं, परन्तु ओषधिविज्ञानकी परिभाषामें गुण मुख्यतया शरीरगत क्रियाओंके द्योतक होते हैं। गुणा विंशतिरित्येवं-यद्यपि यहां गुणोंकी संख्या बीस ही निर्दिष्ट की गई है, तथापि वर्णन किये हुए गुण संख्यामें बाईस होते हैं। यदि इस बातका समन्वय करनेकी आवश्यकता हो तो श्लक्ष्ण और कर्कशगुणोंका समावेश पिच्छिल और विशदमें कर सकते हैं। परन्तु वास्तवमें मूल सुश्रुत-संहिताका पाठ कुछ दूसरा ही होनेकी संभावना प्रतीत होती है। क्योंकि आयुर्वेदके अन्य ग्रन्थोंमें गुणोंकी संख्या बीससे अधिक नहीं होती और उनमें भी सुगन्ध, दुर्गन्ध, विकासी और व्यवायी गुण नहीं हैं। ×××। भावमिश्रको जो सुश्रुतसंहिता उपलब्ध थी उसके अनुसार उन्होंने बीस ही गुण निर्दिष्ट किये हैं"।

२ "परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च॥ संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः। सिद्ध्युपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे॥

१० **अभ्यास**—जिसे **भावाभ्यसन** (पदार्थोंका वारंवार अभ्यास करना—पुनः पुनः सेवन करना), **शीलन** (एक ही पदार्थका वारंवार अनुशीलन करना) और **सततक्रिया** (एक ही क्रिया वारंवार करना) कहा जाता है, वह **अभ्यास** है ।

उपसंहार—इस प्रकार ये परादि दस गुण, जिनके यथावत् जाने विना चिकित्साकार्य ठीक नहीं हो सकता है, उनका लक्षण कहा गया है ।

'गुणविज्ञानीय' नामक द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

'रसविज्ञानीय' नामक तृतीय अध्याय ।

गुणविज्ञानीय अध्यायमें इन्द्रियोंके पाँच विषयोंमें रसका भी सामान्यतया निर्देश किया गया है । आयुर्वेदमें रसोंके विषयमें बहुत ज्ञातव्य विषय लिखे हैं, अतः रसके लक्षण, उत्पत्ति, भेद, गुण-कर्म आदिके निरूपणार्थ **रसविज्ञानीय** नामक स्वतन्त्र अध्याय कहा-लिखा जाता है ।

रसका लक्षण—

रसनेन्द्रिय ग्राह्य गुण (रसनेन्द्रियसे ग्रहण होनेवाले विषय) को **रस** कहते हैं[१] । रसका ज्ञान होनेमें बोधक कफ भी सहायक होता है[२] । जबतक रसवाले द्रव्योंके सूक्ष्म अंश बोधक कफमें विलीन नहीं होते तबतक रसनेन्द्रियसे रसका ज्ञान नहीं होता । मनका रस ग्रहणरूप विषयाभिमुख (विषयमें प्रवृत्त) होना, रसनेन्द्रियका स्वस्थ होना, रसवाले द्रव्योंकी यथोचित मात्रा होना और रसवाले द्रव्यांशका बोधक कफमें विलीन होना-इतनी सामग्री एकत्र होनेपर ही रसका ज्ञान होता है । यदि मन अन्य विषयमें प्रवृत्त हो, रसनेन्द्रिय अस्वस्थ हो, रसवाले द्रव्यकी मात्रा अति न्यून हो या बोधक कफका स्राव न हो (मुँह बिल्कुल सूखा हो) तो शर्करागत मधुर रसका या सैंधवगत लवण रसका ज्ञान नहीं होता । रस जल महाभूतका प्रधान गुण है । जल महाभूतका रस अव्यक्त होता है । पृथ्वी महाभूतके संबन्धसे जलमें मधुरादि रसोंकी अभिव्यक्ति होती है । जल और पृथ्वी ये दो महाभूत रसके आधाररूप हैं । रसके मधुरादि भेद होनेमें पृथ्वी और जलके अतिरिक्त अग्नि, वायु और आकाश भी कारण होते हैं ।

रसोंके भेद (रसोंकी संख्या)—

मधुर-स्वादु (मीठा), **अम्ल** (खट्टा), **लवण-पटु** (नमकीन), **तिक्त** (तीता), **कटु-ऊषण** (चरपरा-कडुआ-तीखा) और **कषाय** (कसैला)-इन भेदोंसे

---

१ "रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा । निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः ॥" (च. सू. अ. १) । २ "रसबोधनात् । बोधको रसनास्थायी" (अ. हृ. सू. अ. १२) । "जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने वर्तते ।" (सु. सू. अ. २१) ।

रस छः प्रकारका होता है। ये रस द्रव्यका आश्रय करके रहते हैं। इनमें अन्तसे पूर्व-पूर्व रस उत्तर-उत्तर रसकी अपेक्षया अधिक बल देनेवाला है[1]। जैसे-कषायसे कटु, कटुसे तिक्त, तिक्तसे लवण, लवणसे अम्ल और अम्लसे मधुर विशेष बल देनेवाला है।

रसके छः भेद कैसे होते हैं?—

अब, रस पाञ्चभौतिक होनेपर भी उत्पत्तिकालमें पञ्चमहाभूतोंके न्यूनाधिकभावसे मिलने (संमिश्रण होने) के कारण रसोंके छः भेद कैसे होते हैं, यह कहा जाता है। अन्तरिक्षमें उत्पन्न हुआ दिव्य जल स्वभावसे ही ठण्डा, सौम्य, लघु और अव्यक्त रसवाला होता है। वह जल अन्तरिक्षसे गिरता हुआ मध्यमें (आकाशमें) आकाशस्थ और भूमिपर गिरकर भूमिस्थ पञ्चमहाभूतोंके (पञ्चमहाभूतविकाररूप आकाश, वायु, चन्द्र, सूर्य, वायुमण्डलमें निरन्तर उड़नेवाले पार्थिव अणु और पृथ्वीपर गिरनेके अनन्तर पार्थिव अणु इनके) गुणोंसे समन्वित होकर जङ्गम और स्थावर मूर्तियोंको (साकार पदार्थोंको) उत्पन्न और तृप्त करता है, उन मूर्त पदार्थोंके अन्दर छः रस उत्पन्न होते हैं। आकाशका शब्द, वायुका स्पर्श, अग्निका रूप, जलका रस और पृथिवीका गन्ध नैसर्गिक (स्वाभाविक) गुण है। इस प्रकार रस जलका नैसर्गिक गुण होनेसे रस **आप्य** (जलसे उत्पन्न हुआ किंवा जलप्रधान गुण) कहलाता है। उत्तरोत्तर महाभूतमें पूर्व-पूर्व महाभूतके अनुप्रवेश (मिलने) से आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमिमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण एक-एककी वृद्धिके साथ रहते हैं; जैसे-आकाशमें शब्द, वायुमें शब्द और स्पर्श; इत्यादि। पञ्चमहाभूतोंके परस्पर संसर्ग (संबन्ध) से, परस्पर एक-दूसरेपर अनुग्रह (उपकार) से और एक-दूसरेमें परस्पर अनुप्रविष्ट होनेसे सब कार्यद्रव्योंमें सब भूतोंका सांनिध्य पाया जाता है। परन्तु जिस द्रव्यमें जिस महाभूतका उत्कर्ष होता है उसपरसे उस द्रव्यका **नाभस, वायव्य** आदि नामसे ग्रहण किया जाता है। यह आप्य रस शेष महाभूतोंके विषम संसर्गसे (न्यूनाधिकभावसे मिलनेसे) परिपाकको प्राप्त होकर छः प्रकारका होता है; जैसे-**मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त** और **कषाय**। इनमें सोम (जल और पृथिवी) के गुणोंकी अधिकतासे **मधुर**, (सुश्रुतके मतसे जल) पृथिवी और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे **अम्ल**, जल (सुश्रुतके मतसे पृथ्वी) और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे **लवण**, वायु और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे **कटु**, वायु और आकाशके गुणोंकी अधिकतासे **तिक्त** तथा वायु और पृथिवीके गुणोंकी अधिकतासे **कषाय** रस उत्पन्न होता है। जैसे पञ्चमहाभूतोंके न्यूनातिरेकविशेषसे संबन्धित होनेसे स्थावर और जङ्गम प्राणी आदिके अनेक वर्ण और आकृति आदि विशेष होते हैं, इसी प्रकार पञ्चमहाभूतोंके न्यूनाधिक-

---

१ "रसाः स्वाद्वम्ल-लवण-तिक्तोषण-कषायकाः। षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः॥" (अ. हृ. सू. अ. १)।

भावसे मिलनेसे पदार्थोंमें छः प्रकारके रस उत्पन्न होते हैं। काल भिन्न-भिन्न स्वभाववाले छः ऋतुओंवाला होनेसे पञ्चमहाभूतोंमें कालस्वभावसे न्यूनाधिकभाव होता रहता है[1]।

---

१ "सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च, तास्त्वन्तरिक्षाद्भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः। तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः, पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात् कटुकः, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः, पवन-पृथिव्यतिरेकात् कषाय इति । एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानां, भूतानामिव स्थावरजङ्गमानां नानावर्णाकृतिविशेषाः; षडृतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषः।" (च. सू. अ. २६)। "आकाश-पवन-दहन-तोय-भूमिषु यथासङ्ख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः, तस्मादाप्यो रसः। परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति; उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम् । स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षोढा विभज्यते; तद्यथा-मधुरः, अम्लः, लवणः, कटुकः, तिक्तः, कषाय इति। ते च भूयः परस्परसंसर्गात्त्रिषष्टिधा भिद्यन्ते। तत्र, भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः, तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः, भूम्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः, वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् कटुकः, वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः, पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात् कषाय इति।" (सु. सू. अ. ४२) । "रसः खल्वाप्यः प्रागव्यक्तश्च । स षडृतुकत्वात् कालस्य महाभूतगुणैरूनातिरिक्तैः संसृष्टो विषमं विदग्धः षोढा पृथग्विपरिणमते मधुरादिभेदेन । तत्र भू-जलयोर्बाहुल्यान्मधुरो रसः, भू-तेजसोरम्लः, जल-तेजसोर्लवणः, वाय्वाकाशयोस्तिक्तः, वायु-तेजसोः कटुकः, वाय्वूर्व्योः कषायः।" (अ. सं. सू. अ. १८)। रसके विषयमें सुश्रुतकी व्याख्यामें **डॉ. भा. गो. घाणेकरजी** लिखते हैं कि—**"रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। रसनार्थो रसः"** (चरक)—ओषधियोंका जिह्वाग्राह्य अर्थ। इस अर्थके अनुसार समस्त ओषधियाँ मधुरादि छः रसोंमें विभक्त की गई हैं । यद्यपि **'रसनाग्राह्य'** ऐसी रसकी व्याख्या की गई है, तथापि ओषधियोंके रसोंका ग्रहण जिह्वाके अतिरिक्त अन्य अंगोंसे भी होता है; फर्क इतना ही है कि जिह्वा पर रसकी संवेदना अन्य अंगोंकी अपेक्षया अधिक और विशेषरूपसे प्रतीत होती है । कटु या कषाय रसका ज्ञान जैसे जिह्वापर होता है वैसे ही गलेमें भी होता है, आमाशयमें होता है, त्वचा पर होता है । शरीरमें रसका कार्य निपातस्थानके साथ संबन्ध होते ही होता है, उसमें रूपान्तरकी आवश्यकता नहीं होती—**रसो निपाते द्रव्याणां** (चरक), **रसं विद्यान्निपातेन** (अष्टाङ्गसंग्रह) । रसका यह कार्य बहुधा निपातस्थानके ऊपर प्रत्यक्षतया हुआ करता है और उसी स्थानपर मर्यादित रहता है। यथा-फिटकरी जैसी कषाय रसयुक्त ओषधिका त्वचा पर प्रयोग करनेसे स्थानिक लसीकास्राव तथा रक्तस्राव बंद होता है, आँखोंमें करनेसे पानीका स्राव बन्द होता है और मुखद्वारा सेवन करने पर आमाशय तथा अन्त्रका स्राव (अतिसार) कम होता है। कभी कभी रस स्थानिक वातनाडियोंके अग्रों (Nerve terminals) द्वारा प्रत्यावर्तन (Reflex action) से भी कार्य करता है। "अम्लः क्षालयते मुखं", "लवणः स्यन्दयत्यास्यं", "कटुः स्रावयत्यक्षिनासास्यं"; ये सब उदाहरण प्रत्यावर्तनके हैं। पाश्चात्य वैद्यकमें आयुर्वेदकी भाँति यद्यपि रसकी कल्पना नहीं है, तो भी सुविधाके लिये तिक्त (Bitter), कषाय (Astringent) और अम्ल (Acids) ऐसे रसोंके अनुसार औषधियोंके कुछ वर्ग किये गये हैं । पाश्चात्य वैद्यकमें रसके लिये कोई ठीक पर्याय नहीं दिखाई देता जो रसके पूरे अर्थको बतला सके, क्योंकि रुचि (taste) के अतिरिक्त रसमें आधुनिक परिभाषाके अनुसार ओषधियोंकी स्थानिक, प्रत्यक्ष तथा प्राथमिक क्रिया (Local, direct and Primary Actions of drugs) भी अन्तर्भूत होती है।" (सू. स्था. पृ. २१९)।

रसोंमें महाभूतोंकी अधिकताका निर्णय कैसे किया जाता है ?

विरुद्ध महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न दोषोंका क्षय और समान महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न दोषोंकी वृद्धिको देखकर यह रस इन महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न हुआ है, यह अनुमान किया जाता है। मधुर रससे आप्य-सौम्य कफकी वृद्धि और आग्नेय पित्तका क्षय होता है, यह देख कर मधुर रस सोम गुणकी अधिकतावाले जल और पृथ्वीकी अधिकतासे उत्पन्न हुआ है, यह अनुमान किया जाता है[1]।

रसोंका ज्ञान कैसे होता है? (रसज्ञानके हेतु)—

कहीं स्वादसे (जीभपर रखकर चखनेसे), कहीं शास्त्रमें लिखे हुए उनके कार्योंको देखकर किये गए अनुमानसे और कहीं शास्त्रोपदेशसे रसोंका ज्ञान होता हैं । जैसे—नीमूके अम्ल, शर्कराके मधुर, सैन्धवके लवण, मिर्चके कटु तथा कुटकीके तिक्त रसका ज्ञान जीभसे चखकर प्रत्यक्षसे होता है और सुवर्णके मधुर तथा कषाय रसका ज्ञान शास्त्रोपदेश तथा सुवर्ण खिलानेपर शरीरपर होनेवाले उसके कार्योंको देखकर होता है[2]।

रस और अनुरसका लक्षण—

सब द्रव्य पाञ्चभौतिक होनेसे अनेक रसवाले होते हैं। उनमें शुष्क या आर्द्र द्रव्यको जीभपर रखते ही प्रारम्भसे अन्ततक यह मधुर है, यह अम्ल है इत्यादि प्रकारसे उसका जो रस व्यक्त-स्पष्ट रूपसे मालूम होता है, उसको **रस** कहते हैं । अर्थात् द्रव्यकी शुष्कावस्था, आर्द्रावस्था, प्रारम्भावस्था (जिह्वाका संयोग होते ही) और अन्तिमावस्था (खानेके अन्ततक) इन चारों अवस्थाओंमें जिसका यह मधुर है, यह अम्ल है, इत्यादि रूपसे स्पष्टतया अनुभव होता हो उसको **रस** कहते हैं; और जो रस इससे विपरीत हो अर्थात् उक्त चारों अवस्थाओंमें स्पष्टरूपसे न मालूम होता हो किन्तु अव्यक्त-अस्पष्टरूप-से (आभास मात्र) मालूम होता हो, या कार्य देखकर जिसका अनुमान किया जा सकता हो उसको, या अन्तमें कुछ स्पष्टरूपसे मालूम हो उसको, या जो आर्द्रावस्थामें उस द्रव्यमें स्पष्टरूपसे मालूम होनेपर वह द्रव्य शुष्क हो जानेपर जो दब जाय और अन्य रस मालूम होने लगे तो उस (आर्द्रावस्थाके रस) को **अनुरस** कहते हैं[3] । इस प्रकार मधुरादि प्रत्येक रस ही अवस्थाभेदसे **रस** या **अनुरस** संज्ञाको प्राप्त होता है, **अनुरस** नामका कोई सातवाँ रस नहीं है।

---

१ "ते निर्धार्यन्तेऽनुमानात् । वर्धनात् समानजातीयस्य, असमानजातीयस्य क्षपणाच्च ।" (र. वै. पृ. १४७) । २ "प्रत्यक्षतोऽनुमानादुपदेशतश्च रसानामुपलब्धिः ।" (र. वै. ३।१०८) । ३ "व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विपर्ययेणानुरसो रसो नास्तीह सप्तमः ॥" (च. सू. अ. २६) । "तत्र व्यक्तो रसः । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ।" (अ. सं. सू. अ. १७) । "तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसंभवात् । × × तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः ॥ अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते ।" (अ. हृ. सू. अ. ९) ।

'रस छः ही हैं' इस सिद्धान्तका स्थापन—

'रस छः ही हैं' यह सिद्धान्त स्थापित करनेके पूर्व रसके विषयमें भिन्न भिन्न संख्या माननेवाले वादियोंका मत क्रमशः देते हैं।—(१) **भद्रकाप्य** कहता है कि—रस एक ही है, जिसे पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषयोंमेंसे एक जिह्वेन्द्रियका विषय तथा भावरूप कहा जाता है, वह जलसे भिन्न नहीं है (यहाँ 'भावरूप' कहनेका आशय यह है कि रसाभाव भी जिह्वाका विषय है, पर उसे रस नहीं कहा जाता)। (२) **शाकुन्तेय ब्राह्मण** कहता है कि—रस दो हैं—छेदनीय (अपतर्पण-कर्शन-लङ्घन करनेवाला) और उपशमनीय (बृंहण करनेवाला)। (३) **पूर्णाक्ष मौद्गल्य** कहता है कि—रस तीन हैं—छेदनीय, उपशमनीय और साधारण (लङ्घन या बृंहण दोनोंमेंसे कुछ भी न करनेवाला या दोनों करनेवाला; जैसे-तैल स्थूलको कृश और कृशको स्थूल करता है)। (४) **हिरण्याक्ष कौशिक** कहता है कि—रस चार हैं—(१) स्वादु (जिह्वाको प्रिय) और हित (शरीरको हितकर), (२) स्वादु और अहित, (३) अस्वादु (जिह्वाको अप्रिय) और हित, (४) अस्वादु और अहित। (५) **कुमारशिरा भरद्वाज** कहता है कि—रस पाँच हैं—भौम (पार्थिव), औदक (जलीय), आग्नेय, वायव्य और आन्तरीक्ष (आकाशीय)। (६) **राजर्षि वार्योविद** कहता है कि—रस छः हैं—गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। (७) **वैदेह निमि** कहता है कि—रस सात हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय और क्षार। (८) **वडिश धामार्गव** कहता है कि—रस आठ हैं—उक्त सात और आठवाँ अव्यक्त। (९) बाह्लीक देशका वैद्य **काङ्कायन** कहता है कि—रसके आश्रयभूत द्रव्य, गुण, कर्म और संस्वाद (एक ही मधुरादि रसवाले द्रव्योंका अपना-अपना विशिष्ट स्वाद) ये अनेक होनेसे रस भी अनेक हैं। रसके विषयमें इन एकान्तवादी (एक-एक पक्षकी स्थापना करनेवाले) महर्षियोंके वचन सुनकर भगवान् **आत्रेय पुनर्वसु**ने कहा कि—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय ये छः ही रस हैं। **भद्रकाप्य**ने कहा है कि रस एक ही है और वह जलसे भिन्न नहीं है, परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि जल छहों रसोंका आधार-कारण है। जल रसोंका आधार-कारण होनेसे रस नहीं हो सकता। आधार और आधेय भिन्न ही होते हैं। अतः रसको जलसे अभिन्न और एक बताना ठीक नहीं है। **शाकुन्तेय ब्राह्मण**ने छेदनीय और उपशमनीय दो रस बताये हैं और **पूर्णाक्ष मौद्गल्य**ने छेदनीय, उपशमनीय और साधारण ये तीन रस बताये हैं, ये दोनों मत ठीक नहीं हैं; क्योंकि छेदन, उपशमन और उनके मिश्रणसे जो साधारणत्व होता है वे रसोंके कर्म हैं, वे रस नहीं हैं। **हिरण्याक्ष कौशिक**ने स्वादु हित, स्वादु अहित, अस्वादु हित और अस्वादु अहित ये चार रस बताये हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं है; क्योंकि स्वादुता और अस्वादुता ये भक्ति (प्रतिमनुष्यकी भिन्न-भिन्न इच्छा) है। जो एकको स्वादु वह दूसरेको अस्वादु, और जो एकको अस्वादु वह दूसरेको स्वादु लगता है। अतः ये रस नहीं हो सकते।

हित और अहित ये दोनों प्रभाव हैं। प्रभाव रसाश्रित होता है, वह स्वयं रस नहीं होता। **कुमारशिरा भरद्वाज**ने भौम, औदक, आग्नेय, वायव्य और आन्तरीक्ष ये पाँच रस बताये हैं, परन्तु ये पाँच रस नहीं हो सकते; क्योंकि पञ्चमहाभूतोंके विकाररूप भौम आदि कार्यद्रव्य रसोंके आश्रय हैं। ये प्रकृति, विकृति (संस्कार), विचार (द्रव्यान्तरसंयोग), देश और कालके वश (अधीन) हैं; अर्थात् इनके हेरफेरसे बदलते रहते हैं। अतः ये पञ्चमहाभूतविकार स्वयं रस नहीं हो सकते। **राजर्षि वार्योविद्**ने गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये छः रस बताये हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं है; क्योंकि गुरु, लघु आदि आश्रयभूत द्रव्यके अन्दर रहनेवाले गुणविशेष हैं; रस नहीं हैं। **विदेह राजा निमि**ने कहा है कि मधुरादि सात रस हैं; उनमें मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय ये छः रस हमें भी संमत हैं। परन्तु सातवाँ क्षार रस नहीं है। क्षार द्रव्य है, क्योंकि वह अनेक रसवाले द्रव्योंसे बनता है, अतः अनेक रसवाला तथा कटु और लवण रसकी अधिकतावाला है; अनेक इन्द्रियोंसे इसका ग्रहण होता है—अर्थात् जिह्वाके अतिरिक्त स्पर्श आदिसे भी क्षारका ग्रहण होता है (परन्तु रसका केवल रसनेन्द्रियसे ही ग्रहण होता है) और क्षार एक विशिष्ट क्रियाद्वारा तैयार किया जाता है। रसमें ये सब बातें नहीं होतीं; अतः क्षार रस नहीं है, किंतु द्रव्य है[१]। **बडिश धामार्गव**ने कहा है कि मधुरादि छः, क्षार और अव्यक्त ये आठ रस हैं; इनमें मधुरादि छः रस हमें भी मान्य हैं। क्षारके रस होनेका खण्डन ऊपर कर चुके हैं। आठवाँ अव्यक्त रस बताया जाता है, यह भी ठीक नहीं है। रसोंका अव्यक्तपना रसोंकी प्रकृतिमें (दिव्य जलमें), अनुरसमें या अनुरससमन्वित द्रव्यमें होता है; अतः वह छः रसोंसे भिन्न सातवाँ रस नहीं हो सकता। क्योंकि छः रसोंमें किसीका भी व्यक्त न होना ही अव्यक्तीभाव है। **वाह्लीक वैद्य काङ्कायन**ने आश्रय, गुण, कर्म और संस्वादोंके अपरिसंख्येय होनेसे रस भी अपरिसंख्येय हैं, ऐसा जो कहा है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक मधुरादि रस आश्रय, गुण, कर्म और संस्वादके विशेषों (भेदों) का आश्रय करता है; परन्तु इन आश्रयादिके भेदसे रसोंका अन्यत्व (भेद) नहीं हो सकता। जैसे–चावल–दूध–घी आदि मधुर रसके आश्रय भिन्न-भिन्न होते हैं, तथापि उन सबमें मधुरत्व जातिवाला एक ही रस होता है। जैसे–बगला–दूध–रूई आदि अनेक आश्रयोंमें शुक्ल वर्ण एक ही होता है; इसी प्रकार गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल आदि गुण तथा प्रीणन, जीवन, तर्पण आदि कर्म भिन्न होनेपर भी मधुर रस एक ही रहता है। एक ही मधुर रस गुर्वादि अनेक गुणयुक्त, तथा बृंहण–तर्पण आदि अनेक कर्म करनेवाला हो, इसमें क्या विरोध है? । इसी प्रकार गुड़, द्राक्षा आदिमें अवान्तर आस्वाद होनेपर भी उनमें मधुरत्व

---

१ रसवैशेषिकसूत्रका भाष्यकार लिखता है कि–क्षार द्रव्यकी क्षार(क्षणन)गुणयुक्त शक्ति है, रस नहीं है।

जातिवाला एक ही मधुर रस होता है । आप कहेंगे कि—आश्रय-गुण-कर्मादि भेदसे रस अपरिसंख्येय न हों, परन्तु परस्पर संयोगसे जो आस्वादविशेष उत्पन्न होता है, वह विशेष कार्य करनेवाला भी होता है । मधुराम्ल मिले हुए रससे जो कार्य होता है, वह केवल मधुर या अम्लसे नहीं हो सकता । अतः परस्पर संयोगसे रस अपरिसंख्येय होंगे । तो इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि द्वि-त्रिरसादि द्रव्योंमें मधुरादि रस अनेक प्रकारके परस्पर संयोगसे युक्त होते हैं, तथापि उनके गुरु-लघ्वादि गुण या जीवन-बृंहण आदि प्रकृति (स्वभाव-कर्म) अनेक नहीं होते, किन्तु प्रत्येक मधुरादिके जो गुण-कर्म होते हैं, वे ही द्वि-त्रिरसादि द्रव्योंमें संसृष्ट (मिश्रित) होते हैं । इस कारणसे उनको असंख्येय मानना ठीक नहीं है (किंवा गुणप्रकृति अर्थात् मधुरादि छः गुण-स्वरूप रसोंके अनेक परस्पर संयोगसे द्वि-त्रिरसादि संसर्गोंकी (मिश्र रसोंकी) उत्पत्ति होती है, इससे उनके प्रकृतिभूत रसोंको असंख्येय नहीं माना जा सकता । जैसे वातादि दोषोंके अनेक संसर्ग होनेपर भी उनका त्रित्व नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार रसोंके अनेक संसर्ग होनेपर भी उनका षट्त्व नष्ट नहीं होता—रस छः से अधिक नहीं होते) । संसृष्ट रसोंमें भिन्न-भिन्न प्रकृतिभूत रसोंके ही गुण-कर्म मिश्रित होते हैं, इसलिए संसृष्ट रसोंके जुदे गुण-कर्म शास्त्रान्तरोंमें भी नहीं लिखे गये हैं । इसलिए हम भी यहाँ असंसृष्ट एक-एक रसके ही लक्षण (और गुण-कर्म) का उपदेश करेंगे[१] ।

---

१ "एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यः-यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतमं जिह्वावैषयिकं भावमाचक्षते कुशलाः, स पुनरुदकादनन्य इति । द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणः—छेदनीयः, उपशमनीयश्चेति । त्रयो रसा इति पूर्णाक्षो मौद्गल्यः—छेदनीयोपशमनीयसाधारणा इति । चत्वारो रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः—स्वादुर्हितश्च, स्वादुरहितश्च, अस्वादुर्हितश्च, अस्वादुरहितश्चेति । पञ्च रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजः-भौमौदकाग्नेय-वायव्यान्तरिक्षाः । षड्रसा इति वार्योविदो राजर्षिः-गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाः । सप्त रसा इति निमिर्वैदेहः—मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय-क्षाराः । अष्टौ रसा इति बडिशो धामार्गवः—मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय-क्षाराव्यक्ताः । अपरिसंख्येया रसा इति काङ्कायनो बाह्लीकभिषक्, आश्रय-गुण-कर्म-संस्वादविशेषाणामपरिसंख्येयत्वात् । षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः, मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषायाः । तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकं, छेदनोपशमने द्वे कर्मणी, तयोर्मिश्रीभावात् साधारणत्वं, स्वाद्वस्वादुता भक्तिः, हिताहितौ प्रभावौ, पञ्चमहाभूतविकारास्त्वाश्रयाः प्रकृति-विकृति-विचार-देश-काल-वशाः, तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाद्याः; क्षरणात् क्षारः, नासौ रसः, द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुक-लवणभूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम्; अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतौ भवत्यनुरसेऽनुरस-समन्विते वा द्रव्ये; अपरिसंख्येयत्वं पुनस्तेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषापरिसंख्येयत्वान्न युक्तम्, एकैकोऽपि ह्येषामाश्रयादीनां भावानां विशेषानाश्रयते विशेषापरिसंख्येयत्वात्, न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते; परस्परसंसृष्टिभूयिष्ठत्वान्न चैषामभिनिर्वृत्तेर्गुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति । तस्मान्न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः । तच्चैव कारणमपेक्षमाणाः षण्णां रसानां परस्परेणासंसृष्टानां लक्षणपृथक्त्वमुपदेक्ष्यामः ।" (च. सू. अ. २६) ।

सौम्य और आग्नेय भेदसे रसोंके दो भेद और उनके कर्म—

कई आचार्य कहते हैं कि—जगत् अग्नीषोमीय (अग्निगुण-उष्णताप्रधान या सोम-गुण-शीतताप्रधान) होनेसे रसोंके **सौम्य** और **आग्नेय** ये दो भेद होते हैं। मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस सौम्य हैं तथा कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस आग्नेय हैं। मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस स्निग्ध और गुरु तथा कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस रूक्ष और लघु हैं। सौम्य रस शीत और आग्नेय रस उष्ण हैं[1]। अग्नि और वायु महाभूतकी अधिकतावाले रस प्रायः ऊपरकी तरफ गति करनेवाले (वमनादि द्वारा दोषको बाहर निकालनेवाले) होते हैं; क्योंकि वायु लघु और ऊपरकी ओर गतिवाला है तथा अग्नि ऊर्ध्वज्वलन स्वभाववाला है। जल और पृथ्वीकी अधिकतावाले रस प्रायः नीचेकी ओर गति करनेवाले (मल-मूत्र आदिका विरेचन करानेवाले) होते हैं; क्योंकि-जल स्वभावसे तथा पृथ्वी गुरु होनेसे नीचेकी ओर गति करनेवाली है। जो रस अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी इन चार महाभूतोंकी अधिकतावाले होते हैं वे प्रायः उभयतोभाग (वमन-विरेचन दोनों करानेवाले) होते हैं[2]। कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस (वाले द्रव्य) विदाही और मूर्च्छा करानेवाले होते हैं तथा मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस (वाले द्रव्य) विदाह न करनेवाले (अविदाही) और मूर्च्छाका प्रशमन करनेवाले होते हैं[3]।

रसका ज्ञान कब होता है?—

खाये जानेवाले द्रव्यका जीभके साथ स्पर्श होते ही मधुरादि रसविशेषका ज्ञान होता है[4]।

छहों रसोंके लक्षण—

रसोंका ज्ञान जिह्वाके साथ संबन्ध होते ही होता है, यह ऊपर कहा गया है। अब निपातकालमें प्रत्येक रसकी स्वादग्रहणके अतिरिक्त अन्य भी जो विशेष क्रियाएँ होती हैं, जिनसे वह रस अव्यक्त-अस्पष्ट होने पर भी उसका ज्ञान होता है वे कही जाती हैं। **मधुर रस** मुखमें जाते ही सारे मुखमें व्याप्त हो जाता है और मुखको माधुर्यसे लिप्त सा कर देता है; स्नेहन, सब इन्द्रियोंकी प्रसन्नता, आह्लाद (सुख), मृदुता (**च.**), भोजनकालमें आनन्द और तृप्ति उत्पन्न करता है, मूर्च्छितको संज्ञा प्रदान करता है

---

१ केचिदाहुः—"अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः—सौम्याश्चाग्नेयाश्च। मधुरतिक्तकषायाः सौम्याः, कट्वम्ललवणा आग्नेयाः। तत्र मधुराम्ल-लवणाः स्निग्धा गुरवश्च, कटु-तिक्त-कषाया रूक्षा लघवश्च; सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः।" (सु. सू. ४२)। "तत्राग्नि-मारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्व-भाजः, लाघवादुत्प्लवनत्वाच्च वायोरूर्ध्वज्वलनत्वाच्च वह्नेः; सलिल-पृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभाजः, पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्चोदकस्य; व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतोभाजः।" (च. सू. अ. २६)। २ "कट्वम्ल-लवणा वैद्यैर्विदाहिन इति स्मृताः। स्वादु-तिक्त-कषायाः स्युर्विदाहरहिता रसाः॥ विदाहिनो रसा मूर्च्छां जनयन्ति प्रयोजिताः। विदाहरहिता मूर्छां शमयन्तीति निश्चितम्॥" (र. वै. भा.)। ४ "रसं विद्यान्निपातेन" (अ. सं. सू. अ. १७)। "रसो निपाते द्रव्याणां" (च. सू. अ. ६२)। "निपातेन जिह्वास्पर्शमात्रेण रसविशेषं विद्याद्द्रव्यस्य।" (इन्दुः)।

जातिवाला एक ही मधुर रस होता है । आप कहेंगे कि—आश्रय-गुण-कर्मादि भेदसे रस अपरिसंख्येय न हों, परन्तु परस्पर संयोगसे जो आस्वादविशेष उत्पन्न होता है, वह विशेष कार्य करनेवाला भी होता है । मधुराम्ल मिले हुए रससे जो कार्य होता है, वह केवल मधुर या अम्लसे नहीं हो सकता । अतः परस्पर संयोगसे रस अपरिसंख्येय होंगे । तो इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि द्वि-त्रिरसादि द्रव्योंमें मधुरादि रस अनेक प्रकारके परस्पर संयोगसे युक्त होते हैं, तथापि उनके गुरु-लघ्वादि गुण या जीवन-बृंहण आदि प्रकृति (स्वभाव-कर्म) अनेक नहीं होते, किन्तु प्रत्येक मधुरादिके जो गुण-कर्म होते हैं, वे ही द्वि-त्रिरसादि द्रव्योंमें संसृष्ट (मिश्रित) होते हैं । इस कारणसे उनको असंख्येय मानना ठीक नहीं है (किंवा गुणप्रकृति अर्थात् मधुरादि छः गुण-स्वरूप रसोंके अनेक परस्पर संयोगसे द्वि-त्रिरसादि संसर्गोंकी (मिश्र रसोंकी) उत्पत्ति होती है, इससे उनके प्रकृतिभूत रसोंको असंख्येय नहीं माना जा सकता । जैसे वातादि दोषोंके अनेक संसर्ग होनेपर भी उनका त्रित्व नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार रसोंके अनेक संसर्ग होनेपर भी उनका षट्त्व नष्ट नहीं होता—रस छः से अधिक नहीं होते) । संसृष्ट रसोंमें भिन्न-भिन्न प्रकृतिभूत रसोंके ही गुण-कर्म मिश्रित होते हैं, इसलिए संसृष्ट रसोंके जुदे गुण-कर्म शास्त्रान्तरोंमें भी नहीं लिखे गये हैं । इसलिए हम भी यहाँ असंसृष्ट एक-एक रसके ही लक्षण (और गुण-कर्म) का उपदेश करेंगे[१] ।

---

१ "एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यः-यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतमं जिह्वावैषयिकं भावमाचक्षते कुशलाः, स पुनरुदकादनन्य इति । द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणः—छेदनीयः, उपशमनीयश्चेति । त्रयो रसा इति पूर्णाक्षो मौद्गल्यः—छेदनीयोपशमनीयसाधारणा इति । चत्वारो रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः—स्वादुर्हितश्च, स्वादुरहितश्च, अस्वादुर्हितश्च, अस्वादुरहितश्चेति । पञ्च रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजः-भौमौदकाग्नेय-वायव्यान्तरिक्षाः । षड्रसा इति वार्योविदो राजर्षिः-गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाः । सप्त रसा इति निमिर्वैदेहः—मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय-क्षाराः । अष्टौ रसा इति बडिशो धामार्गवः—मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय-क्षाराव्यक्ताः । अपरिसंख्येया रसा इति काङ्कायनो बाह्लीकभिषक्, आश्रय-गुण-कर्म-संस्वादविशेषाणामपरिसंख्येयत्वात् । षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः, मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषायाः । तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकं, छेदनोपशमने द्वे कर्मणी, तयोर्मिश्रीभावात् साधारणत्वं, स्वाद्वस्वादुता भक्तिः, हिताहितौ प्रभावौ, पञ्चमहाभूतविकारास्त्वाश्रयाः प्रकृति-विकृति-विचार-देश-काल-वशाः, तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाद्याः; क्षरणात् क्षारः, नासौ रसः, द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुक-लवणभूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम्; अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतौ भवत्यनुरसेऽनुरस-समन्विते वा द्रव्ये; अपरिसंख्येयत्वं पुनस्तेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषापरिसंख्येयत्वान्न युक्तम्, एकैकोऽपि ह्येषामाश्रयादीनां भावानां विशेषानाश्रयते विशेषापरिसंख्येयत्वात्, न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते; परस्परसंसृष्टिभूयिष्ठत्वान्न चैषामभिनिर्वृत्तेर्गुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति । तस्मान्न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः । तच्चैव कारणमपेक्षमाणाः षण्णां रसानां परस्परेणासंसृष्टानां लक्षणपृथक्त्वमुपदेक्ष्यामः ।" (च. सू. अ. २६) ।

सौम्य और आग्नेय भेदसे रसोंके दो भेद और उनके कर्म—

कई आचार्य कहते हैं कि—जगत् अग्नीषोमीय (अग्निगुण–उष्णताप्रधान या सोम-गुण–शीतताप्रधान) होनेसे रसोंके **सौम्य** और **आग्नेय** ये दो भेद होते हैं। मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस सौम्य हैं तथा कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस आग्नेय हैं। मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस स्निग्ध और गुरु तथा कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस रूक्ष और लघु हैं। सौम्य रस शीत और आग्नेय रस उष्ण हैं[1]। अग्नि और वायु महाभूतकी अधिकतावाले रस प्रायः ऊपरकी तरफ गति करनेवाले (वमनादि द्वारा दोषको बाहर निकालनेवाले) होते हैं; क्योंकि वायु लघु और ऊपरकी ओर गतिवाला है तथा अग्नि ऊर्ध्वज्वलन स्वभाववाला है । जल और पृथ्वीकी अधिकतावाले रस प्रायः नीचेकी ओर गति करनेवाले (मल–मूत्र आदिका विरेचन करानेवाले) होते हैं; क्योंकि–जल स्वभावसे तथा पृथ्वी गुरु होनेसे नीचेकी ओर गति करनेवाली है । जो रस अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी इन चार महाभूतोंकी अधिकतावाले होते हैं वे प्रायः उभयतोभाग (वमन–विरेचन दोनों करानेवाले) होते हैं[2]। कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस (वाले द्रव्य) विदाही और मूर्च्छा करानेवाले होते हैं तथा मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस (वाले द्रव्य) विदाह न करनेवाले (अविदाही) और मूर्च्छाका प्रशमन करनेवाले होते हैं[3]।

रसका ज्ञान कब होता है ?—

खाये जानेवाले द्रव्यका जीभके साथ स्पर्श होते ही मधुरादि रसविशेषका ज्ञान होता है[4]।

छहों रसोंके लक्षण—

रसोंका ज्ञान जिह्वाके साथ संबन्ध होते ही होता है, यह ऊपर कहा गया है। अब निपातकालमें प्रत्येक रसकी स्वादग्रहणके अतिरिक्त अन्य भी जो विशेष क्रियाएँ होती हैं, जिनसे वह रस अव्यक्त–अस्पष्ट होने पर भी उसका ज्ञान होता है वे कही जाती हैं। **मधुर रस** मुखमें जाते ही सारे मुखमें व्याप्त हो जाता है और मुखको माधुर्यसे लिप्त सा कर देता है; स्नेहन, सब इन्द्रियोंकी प्रसन्नता, आह्लाद (सुख), मृदुता **(च.)**, भोजनकालमें आनन्द और तृप्ति उत्पन्न करता है, मूर्च्छितको संज्ञा प्रदान करता है

---

१ केचिदाहुः—"अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः—सौम्याश्चाग्नेयाश्च। मधुरतिक्तकषायाः सौम्याः, कट्वम्ललवणा आग्नेयाः । तत्र मधुराम्ल-लवणाः स्निग्धा गुरवश्च, कटु-तिक्त-कषाया रूक्षा लघवश्च; सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः।" (सु. सू. ४२)। "तत्राग्नि-मारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्व-भाजः, लाघवादुत्प्लवनत्वाच्च वायोरूर्ध्वज्वलनत्वाच्च वह्नेः; सलिल-पृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभाजः, पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्चोदकस्य; व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतोभाजः।" (च. सू. अ. २६)।
२ "कट्वम्ल–लवणा वैद्यैर्विदाहिन इति स्मृताः । स्वादु-तिक्त-कषायाः स्युर्विदाहरहिता रसाः ॥ विदाहिनो रसा मूर्च्छां जनयन्ति प्रयोजिताः। विदाहरहिता मूर्छां शमयन्तीति निश्चितम् ॥" (र. वै. भा.)। ४ "रसं विद्यान्निपातेन" (अ. सं. सू. अ. १७) । "रसो निपाते द्रव्याणां" (च. सू. अ. ६२)। "निपातेन जिह्वास्पर्शमात्रेण रसविशेषं विद्याद्द्रव्यस्य।" (इन्दुः)।

कफको बढ़ाता है (सु.), भौंरो तथा चींटियोंको अत्यन्त प्रिय (अ. सं.) तथा कण्ठको तृप्त करनेवाला है (र. वै.)। इन लक्षणोंसे मधुर रस जानना चाहिये। **अम्ल रस** खाते ही दन्तहर्ष, मुखमें लालास्राव, शरीरमें स्वेद (पसीना आना), मुखकी शुद्धि, मुख–छाती (अन्ननली) और कण्ठका विदाह–जलना (च.), अन्न खानेके प्रति रुचि (सु.), नेत्र और भौंहोंका संकोच, रोमाञ्च (अ. सं.) और क्लेदन करता है तथा हृदय(मन)को प्रिय लगता है (र. वै.)। इन लक्षणों(कर्मों)से अम्ल रसका ज्ञान करना चाहिए। **लवण रस** खाते ही मुखमें घुल जाता है तथा क्लेद, लालास्राव, मृदुता, मुखमें विदाह (च.), अन्नपर रुचि, कफका स्राव (सु.), और कण्ठ तथा कपोलमें जलन करता है (अ. सं.), सारे मुखमें शीघ्र फैल जाता है और उष्णता उत्पन्न करता है (र. वै.)। इन लक्षणोंसे लवण रस पहचाना जाता है। **कटु रस** जीभ पर लगते ही जीभमें उद्वेग, सुई चुभनेकी सी वेदना, विदाहके साथ मुख-नासिका और नेत्रका स्राव (च.), सिरमें वेदना (सु.), कण्ठ और कपोलोंमें चिमचिमाहट और अन्नपर रुचि (अ. सं.) उत्पन्न करता है। इन लक्षणोंसे कटु रस जानना चाहिए। **तिक्त रस** जीभपर रखते ही जीभकी अन्य रसोंके ग्रहणकी शक्तिका नाश करता है, जीभको अप्रिय लगता है, मुखमें स्वच्छता लाता है, मुख-शोष, प्रह्लाद अरुचिनाश (च.), गलेमें कोई खेंचता हो ऐसी पीड़ा, अन्न पर रुचि तथा रोमहर्ष उत्पन्न करता है (सु.), कण्ठको शुद्ध करता है (अ. सं.), मुँहमें ठण्डापन लाता है और गलेको सुखाता है (र. वै.)। इन लक्षणोंसे तिक्त रस जानना चाहिए। **कषाय रस** जिह्वामें विशदता, स्तब्धता और जड़ता उत्पन्न करता है, कण्ठको जकड़ता सा है (च.), मुखको सुखाता है, हृदयमें खींचनेकी सी पीड़ा करता है (सु.), मुखके कफ (लाला)को गाढ़ा करता है और मुखमें भारीपन लाता है (र. वै.)। इन लक्षणोंसे कषाय रसको जानना चाहिए[१]।

---

१ "षण्णां रसानां विज्ञानमुपदेक्ष्याम्यतः परम् ॥ स्नेहन-प्रीणनाह्लाद-मार्दवैरुपलभ्यते। मुखस्थो मधुरश्चास्यं व्याप्नुवँल्लिम्पतीव च ॥ दन्तहर्षान्मुखास्रावात् स्वेदनान्मुखबोधनात्। विदाहाच्चास्यकण्ठस्य प्राश्यैवाम्लं रसं वदेत् ॥ प्रलीयन् क्लेद-विष्यन्द-मार्दवं कुरुते मुखे। यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च ॥ संवेजयेद्यो रसनं निपाते तुदतीव च। विदहन्मुख-नासाक्षिसंस्रावी स कटुः स्मृतः ॥ प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च। स तिक्तो मुखवैशद्य-शोष-प्रह्लादकारकः ॥ वैशद्य-स्तम्भ-जाड्यैर्यो रसनं योजयेद्रसः। बध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यपि ॥" (च. सू. अ. २६)। "रसलक्षणमत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र, यः परितोषमुत्पादयति, प्रह्लादयति, तर्पयति, जीवयति, मुखोपलेपं जनयति, श्लेष्माणं चाभिवर्धयति, स मधुरः; यो दन्त-हर्षमुत्पादयति, मुखास्रावं जनयति, श्रद्धां चोत्पादयति, सोऽम्लः; यो भक्तरुचिमुत्पादयति, कफ-प्रसेकं जनयति, मार्दवं चापादयति, स लवणः; यो जिह्वाग्रं बाधते, उद्वेगं जनयति, शिरो गृह्णीते, नासिकां च स्रावयति, स कटुकः; यो गले चोषमुत्पादयति, मुखवैशद्यं जनयति, भक्तरुचिं चापादयति

अब मधुरादि छः रसोंमेंसे प्रत्येकके गुण और कर्म उनके आधारभूत द्रव्य जो पृथिव्यादि महाभूत, उनके अनुसार कहे जाते हैं।—

[1]मधुर रसके गुण-कर्म और उसके अति उपयोगसे होनेवाले विकार—

मधुर रस (मधुर रसवाला द्रव्य) जन्मसे ही मनुष्यके शरीरको निरुपाधिक सात्म्य होनेसे रस–रक्त–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा–ओज और शुक्रको बढ़ानेवाला, आयुष्यको टिकाने और बढ़ानेवाला, मनसहित छः इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाला, बलकारक, शरीरकी कान्तिको अच्छा करनेवाला, पित्त–विष तथा वायुका नाश करनेवाला, तृषा और दाहका शमन करनेवाला, त्वचा–केश और कण्ठके लिये हितकर, शरीरको बल देनेवाला, शरीरका पोषण करनेवाला, अभिघातादिसे मूर्च्छितको जीवन देनेवाला, तृप्तिकर, बृंहण, शरीरको दृढ़ करनेवाला, उरःक्षत और भग्न अस्थिका संधान करनेवाला, घ्राणेन्द्रिय–मुख–कण्ठ–ओष्ठ और जिह्वाको आनन्द देनेवाला, दाह और मूर्च्छाका नाश करनेवाला, भौंरों और चींटियोंको अत्यन्त प्रिय, स्निग्ध, शीत, गुरु (**च.**); स्तन्यवर्धक, नेत्रोंके लिए हितकर, रक्त और रस धातुको शुद्ध करनेवाला, बाल–वृद्ध और क्षतक्षीणके लिए हितकर, कृमि और कफको करनेवाला (**सु.**); मृदु (**अ. सं.**) और रस आदि सब धातुओंको उत्तम बल देनेवाला है (**अ. हृ.**)। मधुर रस ऐसे गुणोंवाला होनेपर भी केवल उस अकेलेका अति उपयोग करनेसे स्थूलता, मृदुता, आलस्य, अतिनिद्रा, भारीपन, अन्नपर अरुचि, अग्निमान्द्य, मुख और कण्ठमें मांसकी वृद्धि, श्वास, खाँसी, जुकाम, (प्रतिश्याय), अलसक (आमविकारविशेष), शीत-

---

हर्षं च, स तिक्तः; यो वक्त्रं परिशोषयति, जिह्वां स्तम्भयति, कण्ठं बध्नाति, हृदयं कर्षति पीडयति च, स कषाय इति।" (सु. सू. अ. ४२)। "तेषां स्वादुरास्वाद्यमानो मुखमुपलिम्पति, इन्द्रियाणि प्रसादयति, देहं प्रह्लादयति, षट्पद-पिपीलिकादीनामभीष्टतमः; अम्लस्तु जिह्वामुद्वेजयति, उरःकण्ठं विदहति, मुखं स्रावयति, अक्षिभ्रुवं संकोचयति, दशनान् हर्षयति रोमाणि च; लवणो मुखं विष्यन्दयति, कण्ठकपोलं विदहति, अन्नं प्ररोचयति; तिक्तो विशदयति वदनं, विशोधयति कण्ठं, प्रतिहन्ति रसनां; कटुको भृशमुद्वेजयति जिह्वाग्रं, चिमचिमायति कण्ठकपोलं, स्रावयति मुखाक्षिनासिकं, विदहति देहं; कषायस्तु जडयति जिह्वां, बध्नाति कण्ठं, पीडयति हृदयम्।" (अ. सं. सू. अ. १८)। "लिङ्गं पुनर्मधुरस्य ह्लादनं श्लेष्मजननं कण्ठतर्पणं च, हृद्यत्वं दन्तहर्षः प्रस्रावणं प्रक्लेदनं चाम्लस्य लवणस्य विसरणमुष्णत्वं प्रसेचनं च, कटोर्जिह्वाघ्राणबाध उद्वेगो नासास्रावः शिरोग्रहश्च, तिक्तस्य हर्षणं हरिमता शैत्यमास्यस्य गलद्वारशोषणं च, कषायस्य मुखपरिशोषः श्लेष्मसंवृत्तिर्गौरवं स्तम्भश्च।" (र. वै. अ. ३, सू. १८)।

१ "तेषां षण्णां रसानामेकैकस्य यथाद्रव्यं गुण-कर्माण्यनुव्याख्यास्यामः। तत्र मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रस रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जौजःशुक्राभिवर्धनः, आयुष्यः, षडिन्द्रियप्रसादनो, बलवर्णकरः, पित्त-विष-मारुतघ्नः, तृष्णा-दाह-प्रशमनः, त्वच्यः, केश्यः, कण्ठ्यो, बल्यः, प्रीणनो, जीवनः, तर्पणो, बृंहणः, स्थैर्यकरः, क्षीणक्षतसंधानकरो, घ्राण-मुख-कण्ठौष्ठ-जिह्वाप्रह्लादनो, दाह-मूर्च्छाप्रशमनः, षट्पद-पिपीलिकानामिष्टतमः, स्निग्धः, शीतो, गुरुश्च; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः स्थौल्यं, मार्दवम्, आलस्यम्, अतिस्वप्नं, गौरवम्, अनन्नाभिलाषम्, अग्नेर्दौर्बल्यम्,

ज्वर, आनाह (कब्ज), मुखमाधुर्य, वमन, संज्ञानाश, स्वरभङ्ग, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, गलेकी सूजन, मूत्राशय-धमनियों और गलेमें क्लेद (मलवृद्धि, चिकनापन), नेत्रके रोग (आँख आना आदि), अभिष्यन्द (नाक-गले आदिकी सर्दी) आदि कफरोग (**च.**); कृमि, अर्बुद, गुदोपलेप (गुदामें चिकनाहट) (**सु.**); प्रमेह, नेत्रार्बुद, गलार्बुद, उदर्द, सिरदर्द, उदररोग, बार-बार थूकना (**अ. सं.**); मेदोरोग और संन्यास आदि (कफप्रधान) विकारोंको (**अ. हृ.**) उत्पन्न करता है।

अम्लरसके गुण-कर्म और उसके अति उपयोगसे होनेवाले विकार—

अम्ल (खट्टा) रस (अम्लरसवाला द्रव्य) अन्नपर रुचि उत्पन्न करनेवाला, अग्नि-दीपन, शरीरको बढ़ानेवाला, उत्साहवर्धक, मनको जागरित (उत्तेजित) करनेवाला, इन्द्रियोंको दृढ़ करनेवाला, बलवर्धक, मूढ़ (रुके हुए) वातका अनुलोमन करनेवाला, हृदयको तृप्त करनेवाला, मुखमें लालास्राव उत्पन्न करनेवाला; खाये हुए अन्नको नीचे ले जानेवाला-क्लिन्न करनेवाला (गलानेवाला) और पकानेवाला; प्रीणन, लघु, उष्ण, स्निग्ध[1] (**च.**); व्रणशोथको पकानेवाला, वातहर, पेटमें विदाह करनेवाला, स्पर्शमें ठण्डा (परन्तु वीर्यमें उष्ण), क्लेदन, प्रायः हृद्य (**सु.**); रक्त और पित्तको उत्पन्न करनेवाला, इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाला, तर्पण, व्यवायी (**अ. सं.**) तथा कफकर

आस्य-कण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिं, श्वास-कास-प्रतिश्यायालसक-शीतज्वरानाहास्यमाधुर्य-वमथु-संज्ञास्वर-प्रणाश-गल-गण्ड-गण्डमाला-श्लीपद-गलशोफ-बस्तिधमनीगलोपलेपाक्ष्यामयाभिष्यन्दानित्येवंप्रभृतीन् कफजान् विकारानुपजनयति।" (च. सू. अ. २६)। "रसगुणानत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः-तत्र मधुरो रसो रस-रक्त-मांसमेदोऽस्थिमज्जौज-शुक्र-स्तन्य-वर्धनः, चक्षुष्यः, केश्यो, वर्ण्यो, बलकृत्, सन्धानः, शोणितरसप्रसादनो, बाल-वृद्ध-क्षत-क्षीणहितः, षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः; तृष्णामूर्च्छादाह-प्रशमनः, षडिन्द्रियप्रसादनः, कृमिकफकरश्चेति; स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानः कास-श्वासालसक-वमथु-वदनमाधुर्य-स्वरोपघात-कृमि-गलगण्डार्बुद-श्लीपद-बस्तिगुदोपलेपाभिष्यन्दप्रभृती-ञ्जनयति।" (सु. सू. अ. ४२)। "तत्र मधुरो रसो जन्मप्रभृतिसात्म्यात् सर्वधातुविवर्धन, आयुष्यो, बालवृद्ध-क्षतक्षीण-बल-वर्णेन्द्रिय-त्वक्केश-कण्ठहितः, प्रीणनो, बृंहणो, जीवनः, तर्पणः, स्थैर्य-संधान-स्तन्यकरो, वात-पित्त-विष-दाह-मूर्च्छा-तृष्णाप्रशमनः, स्निग्धः, शीतो, मृदुर्गुरुश्च। एवंगुणोऽपि स सदाऽत्युपयुज्यमानः स्थौल्याग्निसाद-गुरुतालसकातिनिद्राः। श्वास-प्रमेह-गलरोग-विसंज्ञताऽस्य-माधुर्य-लोचनगलार्बुद-गण्डमालाः॥ छर्दुदर्द-मूर्धरुक्कास-पीनस-कृमीन् श्लीपद-ज्वरोदर-ष्ठीवनानि चावहेत्॥" (अ. सं. सू. अ. १८)। "मधुरो रसः। आजन्मसात्म्यात् कुरुते धातूनां प्रबलं बलम्॥ बाल-वृद्ध-क्षतक्षीण-वर्ण केशेन्द्रियौजसाम्। प्रशस्तो बृंहणः कण्ठ्यः स्तन्यसन्धानकृद्गुरुः॥ आयुष्यो जीवनः स्निग्धः पित्तानिलविषापहः॥ कुरुतेऽत्युपयोगेन स मेदःश्लेष्मजान् गदान्॥ स्थौल्याग्निसाद-सन्न्यास-मेह-गण्डार्बुदादिकान्। (अ. हृ. सू. अ. १०)।

१ "अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति, ऊर्जयति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति, बलं वर्धयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यमास्रावयति, भुक्तमपकर्षयति क्लेदयति जरयति, प्रीणयति, लघुः, उष्णः, स्निग्धश्च; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो दन्तान् हर्षयति, तर्षयति, संमीलयत्यक्षिणी, संवेजयति लोमानि, कफं विलाययति, पित्तमभिवर्धयति,

(अ. हृ.) है। अम्ल रस ऊपर लिखे हुए गुणोंवाला होते हुए भी केवल उस अकेलेका अति उपयोग करनेसे दन्तहर्ष, तृषा, नेत्रसंमीलन (आँख मिंची सी रहना), रोमाञ्च, कफविलयन (कफका पिघलना), पित्तप्रकोप, रक्तदोष, मांसका विदाह (पाक), शरीरशैथिल्य, क्षीण-क्षत-कृश और दुर्बल पुरुषोंमें श्वयथु (सूजन), क्षत-अभिहत (चोट)—सविष प्राणिका दंश-दग्ध (जला हुआ)—टूटी हुई हड्डी-अस्थि आदिका स्थानभ्रंश-अवमूत्रित (सविष प्राणियोंका शरीरपर पेशाब कर जाना)-परिसर्पित (सविष प्राणियोंका स्पर्श)—मर्दित (अङ्गका जोरसे मसला जाना)—छिन्न (कटना)—भिन्न (फटना)—विश्लिष्ट (संधिका अलग होना)—विद्ध (अङ्गका विंधजाना)—उत्पिष्ट (अङ्गका कुचल जाना) आदिमें अपने आग्नेय स्वभावके कारण पाक (पूय) की उत्पत्ति, कण्ठ-छाती और हृदयमें दाह (च.); खाज, पाण्डुरोग, दृष्टिकी मन्दता, क्षतविसर्प, रक्तपित्त, भ्रम (चक्कर आना) (अ. सं.); तिमिर (आँखोंके आगे अन्धकार लगना), फोड़े-फुन्सी और ज्वर (अ. हृ.)—इन विकारोंको उत्पन्न करता है।

लवण रसके गुणकर्म और उसके अति उपयोगसे होनेवाले विकार—

लवण रस (वाला द्रव्य) पाचन, क्लेदन, दीपन, शरीरके धात्वादि अवयवोंको अपने स्थानसे च्युत करनेवाला, छेदन, भेदन, तीक्ष्ण, अनुलोमन, विकासी, द्रव करके

रक्तं दूषयति, मांसं विदहति, कायं शिथिलीकरोति, क्षीण-क्षत-कृश-दुर्बलानां श्वयथुमापादयति, अपि च क्षताभिहत-दष्ट-दग्ध-भग्न-शून-प्रच्युतावमूत्रित-परिसर्पित-मर्दित-च्छिन्न-भिन्न-विश्लिष्टो-द्विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात्, परिदहति कण्ठमुरो हृदयं च।" (च. सू. अ. २६)। "अम्लो जरणः, पाचनो, दीपनः, पवननिग्रहणः, अनुलोमनः, कोष्ठविदाही, बहिःशीतः, क्लेदनः, प्रायशो हृद्यश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो दन्तहर्ष-नयनसंमीलन-रोमसंवेजन-कफविलयन-शरीरशैथिल्यान्यापादयति, तथा क्षताभिहत-दग्ध-दष्ट-भग्न-रुग्ण-शून-प्रच्युतावमूत्रिता-वसर्पित-च्छिन्न-भिन्न-विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात्, परिदहति कण्ठमुरो हृदयं चेति।" (सु. सू. अ. ४२)। "अम्लोऽनिलनिबर्हणः, अनुलोमनः, कोष्ठविदाही, रक्तपित्तकृत्, उष्णवीर्यः, शीतस्पर्शो, बोधयतीन्द्रियाणि, रोचनः, पाचनो, दीपनो, बृंहणः, तर्पणः, प्रीणनः, क्लेदनो, व्यवायी, लघुः, स्निग्धो, हृद्यश्च। जनयति शिथिलत्वं सेवितः सोऽति देहे कफविलयन-कण्डू-पाण्डुता-दृग्विघातान्। क्षत-विहतविसर्पं रक्तपित्तं पिपासां श्वयथुमपि कृशानां तैजसत्वाद् भ्रमं च॥" (अ. सं. सू. अ. १८)। "अम्लोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्धो हृद्यः पाचनरोचनः॥ उष्णवीर्यो हिमस्पर्शः प्रीणनः क्लेदनो लघुः। करोति कफपित्तास्रं मूढवातानुलोमनः॥ सोऽत्यभ्यस्तस्तनोः कुर्याच्छैथिल्यं तिमिरं भ्रमम्। कण्डु-पाण्डुत्व-वीसर्प-शोफ-विस्फोट-तृड्-ज्वरान्॥" (अ. हृ. सू. अ. १०)।

१ "लवणो रसः पाचनः, क्लेदनो, दीपनश्च्यावनश्छेदनो, भेदनस्तीक्ष्णः, सरो, विकास्यवस्रंस्य-वकाशकरो, वातहरः, स्तम्भ-बन्ध-संघातविधमनः, सर्वरसप्रत्यनीकभूतः, आस्यमास्रावयति, कफं विष्यन्दयति, मार्गान् विशोधयति, सर्वशरीरावयवान् मृदूकरोति, रोचयत्याहारम्, आहारयोगी, नात्यर्थं गुरुः, स्निग्ध, उष्णश्च। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्षयति, मूर्च्छयति, तापयति, दारयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति,

बहानेवाला, स्रोत आदिमें अवकाश करनेवाला, वातहर, स्तम्भ (अङ्गका जकड़ जाना)-स्रोतोंके अवरोध और काठिन्यको दूर करनेवाला, अन्य सब रसोंका विरोधी (उनके स्वादको छिपा देनेवाला), मुखमें लालास्राव करनेवाला, कफको पिघलानेवाला, स्रोतोंका शोधन करनेवाला, शरीरके सब अवयवोंको मृदु करनेवाला, रोचक, आहारके साथ उपयोगमें आनेवाला, कुछ गुरु, स्निग्ध, उष्ण (**च.**); संशोधन, विश्लेषण (अपने छेदन स्वभावसे अवयवोंको पृथक् करनेवाला), शिथिलता लानेवाला (**सु.**); शोषण, स्नेहन, स्वेदन, लटकते हुए मांस आदिका छेदन करनेवाला, अनुलोमन, व्यवायी, विकासी तथा कुछ तीक्ष्ण (**अ. सं.**) है । लवण रस ऊपर कहे हुए गुणोंवाला होने पर भी केवल उस अकेलेका अति उपयोग करनेसे पित्तप्रकोप, रक्तकी अतिवृद्धि (प्रकोप), तृषा, मूर्च्छा, ताप, अङ्गोंमें चीरे पड़ना, मांसमें शैथिल्य, कुष्ठमें गलाव, शरीरस्थ विषकी वृद्धि, शोथोंका फटना, दाँतोंका गिरना, पुंस्त्वनाश (शुक्रक्षय), इन्द्रियोंकी अपने-अपने कार्योंमें अशक्ति, वली (झुर्री), बाल पकना, खालित्य (गंजापन), रक्तपित्त, अम्लपित्त, विसर्प, वातरक्त, विचर्चिका, इन्द्रलुप्त (बाल झड़ना) (**च.**); खाज, कोठ (ददोड़े-पित्ती), शोथ, शरीरका वर्ण बिगड़ना, इन्द्रियोंका उपताप, मुखपाक, नेत्रपाक, खट्टी डकार आदि अन्नविदाहके लक्षण (**सु.**); किटिभ (कुष्ठविशेष), आक्षेप, घावको बढ़ाना, मदवृद्धि (नशेको बढ़ाना), बलक्षय, ओजःक्षय (**अ. सं.**) और कुष्ठ (**अ. हृ.**)—इन विकारोंको उत्पन्न करता है ।

कटु रसके गुण-कर्म और उसके अतियोगसे होनेवाले विकार[१]—

कटु रस (वाला द्रव्य) मुखको शुद्ध करनेवाला, अग्निदीपन, खाये हुए अन्नका शोषण करनेवाला, नासिका और नेत्रोंसे स्राव करानेवाला, इन्द्रियोंको उत्तेजित करने-

---

शोफान् स्फोटयति, दन्तांश्च्यावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, वली-पलित-खालित्यमापादयति, अपि च लोहितपित्ताम्लपित्त-वीसर्प-वातरक्त-विचर्चिकेन्द्रलुप्तप्रभृतीन् विकारानुपजनयति ।" (च. सू. अ. २६) । "लवणः संशोधनः, पाचनो, विश्लेषणः, क्लेदनः, शैथिल्यकृदुष्णः, सर्वरसप्रत्यनीको, मार्गविशोधनः, सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डू-कोठ-शोफ-वैवर्ण्य-पुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपताप-मुखाक्षिपाक-रक्तपित्त-वातशोणिताम्लीकाप्रभृतीनापादयति ।" (सु. सू. अ. ४२) । "लवणः स्तम्भ-बन्ध-संघातविध्मापनः, सर्वरसप्रत्यनीको, दीपनो, रोचनः, पाचनः, क्लेदनः, शोषणः, स्नेहनः, स्वेदनो, भेदनः, छेदनः, सरो, व्यवायी, विकाषी, हरति पवनं, विष्यन्दयति कफं, विशोधयति स्रोतांसि, नातिगुरुस्तीक्ष्णोष्णश्च । खलति-पलित-तृष्णा-ताप-मूर्च्छा-विसर्प-श्वयथु किटिभ-कोठाक्षेप-रोधास्रपित्तम् । क्षत-विष-मदवृद्धिं वातरक्तं करोति क्षपयति बलमोजः सोऽति चासेवनेन ॥" (अ. सं. सू. अ. १८) । "लवणः स्तम्भ-सङ्घात-बन्ध-विध्मापनोऽग्निकृत् । स्नेहनः स्वेदनस्तीक्ष्णो रोचनश्छेद-भेदकृत् ॥ सोऽतियुक्तोऽस्रपवनं खलतिं पलितं वलिम् । तृट्-कुष्ठ-विष-वीसर्पाञ्जनयेत् क्षपयेद्बलम् ॥" (अ. हृ. सू. अ. १०) ।

१ "कटुको रसो वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तं शोषयति, घ्राणमास्रावयति, चक्षुर्विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, अलसक-श्वयथूपचयोदर्दाभिष्यन्द-स्नेह-स्वेद-क्लेद-मलानुपहन्ति, रोचयत्यशनं, कण्डूर्विनाशयति, व्रणानवसादयति, क्रिमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसंघातं भिनत्ति,

वाला, अलसक (अजीर्णभेद)–सूजन–मांसादिकी वृद्धि–उदर्द (पित्ती)–अभिष्यन्द–स्वेद–क्लेद और मल–इनका नाश करनेवाला, रोचक, कण्डूका नाश करनेवाला, व्रणावसादन, (व्रणमें उभरे हुए मांसको बैठानेवाला) कृमिघ्न, मांसका लेखन करनेवाला, रक्तके जमावको तोड़नेवाला, बन्धों (स्रोतोंमें रुकावट) को दूर करके स्रोतोंको खोलनेवाला, कफनाशक, लघु, उष्ण, रूक्ष (च.); शोधन, स्थूलता–आलस्य–कफ–विष और कुष्ठ–इनको दूर करनेवाला, संधियोंके बन्धों (जकड़ने) को तोड़नेवाला, स्तन्य–शुक्र तथा मेदका नाश करनेवाला (सु.); स्नेह और क्लेदको सुखानेवाला, मुखरोगहर, तीक्ष्ण (अ. सं) तथा गलरोगहर (अ. हृ.) है। कटु रस ऊपर लिखे हुए गुणोंवाला होते हुए भी केवल उस अकेलेका ही अति उपयोग करनेसे अपने कटु-विपाकके प्रभावसे पुरुषत्वका नाश करता है; रस और उष्णवीर्यके कारण मोह, ग्लानि, अवसाद, कृशता, मूर्च्छा, शरीरका झुकना, अंधेरी, चक्कर, कण्ठमें दाह, शरीरमें ताप, बलक्षय और तृषा उत्पन्न करता है; वायु और अग्निके गुणकी अधिकतासे चक्कर, दाह, कम्प, सुई चुभने सी वेदना, भेद और हाथ–पाँव–पार्श्व–पृष्ठ आदिमें वातविकारोंको उत्पन्न करता है (च.); एवं गले तालु और ओठका सूखना (सु.); वमन, शुक्रक्षय, हाथ–पाँव–पार्श्व–पीठ आदिमें संकोच और भेदन सी वेदना (अ. सं.)–इन विकारोंको उत्पन्न करता है।

बन्धांश्छिनत्ति, मार्गान् विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति, लघुरुष्णो, रूक्षश्च। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो विपाकप्रभावात् पुंस्त्वमुपहन्ति; रस-वीर्यप्रभावान्मोहयति, ग्लपयति, सादयति, कर्शयति, मूर्च्छयति; नमयति, तमयति, भ्रमयति, कण्ठं परिदहति, शरीरतापमुपजनयति, बलं क्षिणोति, तृष्णां जनयति, अपि च वाय्वग्निबाहुल्याद्भ्रम-दवथु-कम्प-तोद-भेदैश्चरण-भुज-पार्श्व-पृष्ठप्रभृतिषु मारुतजान् विकारानुपजनयति।" (च. सू. अ. २६) "कटुको दीपनः, पाचनो, रोचनः, शोधनः, स्थौल्यालस्य-कफ-कृमि-विष-कुष्ठ-कण्डूप्रशमनः, संधिबन्धविच्छेदनोऽवसादनः, स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रम-मद-गलताल्वोष्ठशोष-दाह-संताप-बलविघात-कम्प-तोद-भेदकृत्, कर-चरण-पार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु च वातशूलानापादयति।" (सु. सू. अ. ४२)। "कटुकोऽलसक-श्वयथूदर्द-स्थौल्याभिष्यन्द-कृमि-वक्त्ररोग-विष-कुष्ठ-कण्डूप्रसाधनो, व्रणावसादनः, स्नेह-क्लेद-शोषणो, रोचनः, पाचनो, दीपनो, लेखनः, शोधनः, शोषयत्यन्नं, स्फुटयतीन्द्रियाणि, भिनत्ति शोणितसंघातं, छिनत्ति बन्धान्, विवृणोति स्रोतांसि, क्षपयति श्लेष्माणं, लघुः, रूक्षः, तीक्ष्णोष्णश्च। कुरुतेऽतिनिषेवितः स तृष्णा-मद-मूर्च्छा-वमि-मोह-देहसादान्। बलशुक्रगलोपशोष-कम्प-भ्रम-ताप-ग्लपनातिकर्शनानि॥ कर-चरण-पार्श्व-पृष्ठप्रभृतिष्वनिलस्य कोपमतितीव्रम्। संकोच-तोद-भेदैर्वाय्वग्निगुणाधिकत्वेन॥" (अ. सं. सू. अ. १८)। "कटुर्गलामयोदर्द-कुष्ठालसक-शोफजित्॥ व्रणावसादनः स्नेह-मेदः-क्लेदोपशोषणः। दीपनः पाचनो रुच्यः शोधनोऽन्नस्य शोषणः॥ छिनत्ति बन्धान् स्रोतांसि विवृणोति कफापहः। कुरुते सोऽतियोगेन तृष्णां शुक्र-बलक्षयम्॥" (अ. हृ. सू. अ. १०)।

[1]तिक्त रसके गुण-कर्म और उसके अतियोगसे होनेवाले विकार—

तिक्त रस (वाला द्रव्य) स्वयं न रुचनेवाला होनेपर भी अरुचिका नाश करनेवाला, विषघ्न, कृमिघ्न, मूर्च्छा–दाह–कण्डू–कुष्ठ और तृषाका नाश करनेवाला, त्वचा और मांसको दृढ करनेवाला, ज्वरघ्न, दीपन, पाचन, स्तन्यशोधन, लेखन, क्लेद–मेद–वसा–मज्जा–लसीका–पूय–स्वेद–मूत्र–पुरीष–पित्त और कफको सुखानेवाला, रूक्ष, शीत, लघु (**च.**); छेदन, शोधन, कोठ (ददोड़े)का प्रशमन करनेवाला (**सु.**); कण्ठशोधन, मेधाको बढ़ानेवाला और उत्क्लेशको दूर करनेवाला तथा अति रूक्ष नहीं ऐसा (**अ. सं.**) है। तिक्त रस ऐसे गुणोंवाला होनेपर भी केवल उस अकेलेका अति उपयोग करनेसे वह अपने रूक्ष–विशद और खर गुणसे रस–रक्त–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा और शुक्र इनको सुखाता है, स्रोतोंमें कठिनता उत्पन्न करता है, एवं बलक्षय, कृशता, ग्लानि, मूर्च्छा, चक्कर, मुखशोष और इस प्रकारके अन्य वातरोग (**च.**); शरीरकी स्तब्धता, मन्यास्तम्भ, आक्षेप, अर्दित, सिरदर्द, सुई चुभने सी वेदना, फटने या कटने सी वेदना, मुखका बेस्वादपना (मुखवैरस्य) (**सु.**); परुषता और खरता (**अ. सं.**)–इन विकारोंको उत्पन्न करता है।

[2]कषाय रसके गुण–कर्म और उसके अतियोगसे होनेवाले विकार—

कषाय रस (वाला द्रव्य) संशमन, ग्राही, संधानीय, व्रणपीडन, रोपण, शोषण, स्तम्भन, कफ–रक्त और पित्तका शमन करनेवाला, शरीरके क्लेदको सुखानेवाला, रूक्ष, शीत, गुरु (**च.**); लेखन (**सु.**); विकृत त्वचाको स्वाभाविक वर्णमें लानेवाला,

---

१ "तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुरप्यरोचकघ्नो, विषघ्नः, कृमिघ्नो, मूर्च्छा-दाह-कण्डू-कुष्ठ-तृषाप्रशमनः, त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो, ज्वरघ्नो, दीपनः, पाचनः, स्तन्यशोधनो, लेखनः, क्लेद-मेदो-वसा-मज्ज-लसीका-पूय-स्वेद-मूत्र-पुरीष-पित्त-श्लेष्मोपशोषणो, रूक्षः, शीतो, लघुश्च । स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात् खर-विशदस्वभावाच्च रस-रुधिर-मांस-मेदो-ऽस्थि-मज्ज-शुक्राण्युपशोषयति, स्रोतसां खरत्वमापादयति, बलमादत्ते, कर्शयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति, वदनमुपशोषयति, अपरांश्च वातविकारानुपजनयति ।" (च. सू. अ. २६)। "तिक्तश्छेदनो, रोचनो, दीपनः, शोधनः, कण्डू-कोठ-तृष्णा-मूर्च्छा-ज्वरप्रशमनः, स्तन्यशोधनो, विण्मूत्र-क्लेद-मेदो-वसा-पूयोपशोषणश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो गात्रमन्यास्तम्भाक्षेपकार्दित-शिरःशूल-भ्रम-तोद-भेद-च्छेदास्यवैरस्यान्यापादयति ।" (सु. सू. अ. ४२)। "तिक्तः स्वयमरोचिष्णुः, अरुचि-विष-कृमि-मूर्च्छोत्क्लेद-ज्वर-दाह-तृट्-कुष्ठ-कण्डूहरः, क्लेद-मेदो-वसा-मज्ज-विण्मूत्र-पित्त-श्लेष्मोपशोषणो, दीपनः, पाचनो, लेखनः, स्तन्य-कण्ठविशोधनो, मेध्यो, नातिरूक्षः, शीतो, लघुश्च । धातुबलक्षय-मूर्च्छा-ग्लानि-भ्रम-वात-रोग-परुषत्वम् । खर-विशद-रौक्ष्यभावैः सोऽतिसमासेवितः कुर्यात् ॥" (अ. सं. सू. अ. १८)। २ "कषायो रसः संशमनः, संग्राही, संधानकरः, पीडनो, रोपणः, शोषणः, स्तम्भनः, श्लेष्म-रक्तपित्तप्रशमनः, शरीरक्लेदस्योपयोक्ता, रूक्षः, शीतोऽलघुश्च । स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमान आस्यं शोषयति, हृदयं पीडयति, उदरमाध्मापयति, वाचं निगृह्णाति, स्रोतांस्यवबध्नाति-कर्शयति, ग्लपयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, विष्टभ्य जरां गच्छति, वात-मूत्र-पुरीष-रेतांस्यवगृह्णाति, श्यावत्वमापादयति, तर्षयति, स्तम्भयति, खर-विशद-रूक्षत्वात् पक्षवध-ग्रहापतानकार्दितप्रभृतींश्च वात-

प्रीणन (अ. सं.); रक्तशोधक, मेदका शोषण करनेवाला और आमस्तम्भक (आम दोषोंके पाकको रोकनेवाला) (अ. हृ.) है। कषाय रस ऐसे गुणोंवाला होनेपर भी केवल उस अकेलेका अति उपयोग करनेसे मुखशोष, हृदयकी पीड़ा, पेटका अफारा, वाक्संग (बोल न सकना), स्रोतोंका अवरोध, वर्णकी श्यामता और षण्ढता लाता है; पेटमें गुड़गुड़ाहट करके हजम होता है, वात-मूत्र-मल और वीर्यको रोकता है, शरीरमें कृशता-ग्लानि-तृषा और स्तब्धता उत्पन्न करता है, खर-विशद और रूक्ष होनेसे पक्षाघात-अपतानक (च.)—मन्यास्तम्भ-अङ्गोंका फड़कना-चुमचुमाहट-आकुञ्चन-आक्षेप (सु.) आदि वातविकारोंको उत्पन्न करता है।

रसोंके सम्यगुपयोगसे उपकार और अतियोगसे हानि—

इस प्रकार ये छः रस अलग-अलग या एकसे अधिक साथ मिलाकर योग्य मात्रामें ठीक उपयोग करनेसे लोगोंके आरोग्यके लिए होते हैं। इससे विपरीत यदि अतिमात्रामें उपयोग किये जायँ तो हानिकर होते हैं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि आरोग्यके लिये ही इनका योग्य मात्रामें ठीक उपयोग करे[1]।

नागार्जुनके मतसे रसोंके कर्म—

मधुरादि छहों रसोंमें पहले तीन रस (मधुर, अम्ल और लवण रसवाले द्रव्य) प्रायः आहारमें प्रधान और पथ्य, बृंहण (शरीरको पुष्ट करनेवाले), तृप्ति करनेवाले, बलकारक, वृष्य, स्वादिष्ठ, गुरुविपाक (देरीसे हजम होनेवाले), मेद (चर्बीको) को बढ़ानेवाले, शरीरको दृढ़ करनेवाले, स्तन्य(दूध)को बढ़ानेवाले, हृद्य, स्निग्ध, शरीरके धारणमें उपयुक्त (जीवनीय) और मल तथा मूत्रकी सुखसे प्रवृत्ति करानेवाले हैं। शेष तीन रस (कटु, तिक्त और कषाय रसवाले द्रव्य) इन गुणोंसे विपरीत गुणवाले अर्थात् आहारमें गौण, शरीरको कृश करनेवाले, तृप्ति न करनेवाले, बलको कम करनेवाले, अवृष्य, अस्वादु, लघुविपाक (शीघ्र हजम होनेवाले), मेदको घटानेवाले, शरीरको

विकारानुपजनयति।" (च. सू. अ. २६)। "कषायः संग्राहको, रोपणः, स्तम्भनः, शोधनो, लेखनः, शोषणः, पीडनः, क्लेदोपशोषणश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो हृत्पीडास्य-शोषोदराध्मान-वाक्प्रग्रह-मन्यास्तम्भ-गात्रस्फुरण-चुमचुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृतीञ्जनयति।" (सु. सू. अ. ४२)। "कषायो बलासं सपित्तं सरक्तं निहन्त्याशु बध्नाति वर्चोऽतिरूक्षः। गुरुस्त्वक्सवर्णे-त्वकृत् क्लेदशोषी हिमः प्रीणनो रोपणो लेखनश्च॥ अत्यभ्यासात् सोऽपि शुक्रोपरोधं तृष्णाध्मान-स्तम्भ-विष्टम्भ-कार्श्यम्। स्रोतोबन्धं वातविण्मूत्रसङ्गं पक्षाघाताक्षेपकादींश्च कुर्यात्॥" (अ. सं. सू. अ. १८)।

१ "एवमेते षड्साः पृथक्त्वेनैकैकश्येन वा मात्रशः सम्यगुपयुज्यमाना उपकाराय भवन्त्यध्यात्म-लोकस्य, अपकाराय पुनरतोऽन्यथा भवन्त्युपयुज्यमानाः; तान् विद्वानुपकारार्थमेव मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति।" (च. सू. अ. २६)।

शिथिल करनेवाले, स्तन्य(दूध)को कम करनेवाले, अहृद्य, रूक्ष, जीवनके लिये अनुपयुक्त (कम उपयुक्त)तथा मल और मूत्रको रोकनेवाले हैं[१] ।

रसोंके कहे हुए गुण वास्तवमें रसोंके आश्रयभूत द्रव्योंके हैं—

गुरु-लघु आदि गुण रसोंके आश्रयभूत पार्थिव आदि द्रव्योंके अन्दर ही रहते हैं; क्योंकि गुण गुणका आश्रय करके (अर्थात् गुणोंमें) नहीं रह सकता है । इसलिए मधुरादि रसोंके जो गुण कहे गये हैं, वे मधुरादि रसवाले द्रव्योंके ही जानने चाहिए । मधुरादि रस और गुर्वादि गुणोंका नित्य साहचर्य (साथ रहनेका संबन्ध) होनेसे, गुर्वादि गुण यद्यपि मधुरादि रसवाले द्रव्योंके हैं, तथापि औपचारिक भाषामें 'मधुर रस गुरु है, अम्ल रस लघु है' इत्यादि रूपमें कहा जाता है । जिन गुड़ आदि द्रव्योंमें मधुर आदि रस रहते हैं उनमें गुरु आदि गुण भी साथ ही रहते हैं; जैसे कि रसोंके गुण-कर्ममें लिखा गया है कि-मधुर रस स्निग्ध, शीत और गुरु है; अम्ल रस लघु, उष्ण और स्निग्ध है—इत्यादि; इस प्रकार मधुर आदि रस और गुरु आदि गुणोंका सहचरभाव (साथ रहनेका संबन्ध) होनेसे मधुर आदि रस और गुरु आदि गुणोंका आश्रयाश्रयिभाव न होनेपर भी मधुरादि रसोंमें गुर्वादि गुणोंका आरोप करके औपचारिक भाषामें मधुर रस गुरु है, अम्ल लघु है, इत्यादि प्रयोग किया जाता है[२] ।

वीर्य और विपाकसे अविरुद्ध द्रव्योंके गुणोंका रसोंसे उपदेश और उनमें अपवाद—

जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें मधुर होता है, वह शीतवीर्य होता है । जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें अम्ल होता है, वह उष्णवीर्य होता है । जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें कटु होता है, वह भी उष्णवीर्य होता है । जिन द्रव्योंका वीर्य और विपाक रससे विपरीत न हो अर्थात् रसके समान ही हो, उन द्रव्योंके गुण-कर्म रसोंके जो गुण-कर्म विस्तारसे कहे गये हैं उनके अनुसार ही जानने जाहिये । जैसे-दूध और घीके रस, वीर्य और विपाक समान ही हैं अर्थात् उनका रस मधुर, विपाक मधुर और वीर्य शीत हैं; एवं-चव्य और चित्रकका रस कटु, विपाक कटु और वीर्य उष्ण है । ये और इस प्रकारके अन्य द्रव्य जिनके रस, विपाक और वीर्य एकसे हों उनके गुण-कर्म रससे ही जानने चाहिए । तन्त्रकारोंने भी उनके गुण-कर्मका निर्देश रसोपदेशसे यह मधुर है, यह अम्ल है, यह कटु है, एतावन्मात्र ही किया है । परन्तु ऊपर कहा हुआ नियम सब द्रव्योंमें लागू नहीं हो सकता । क्योंकि कुछ मधुर, कषाय और तिक्त रसवाले द्रव्य उष्णवीर्य होते हैं; जैसे-बृहत्पञ्चमूल कषाय और तिक्त होनेपर भी

---

१ "तत्र बृंहणीयाः, तर्पणीया, बल्या, वृष्याः, स्वादवो, गुरुविपाका, मेदुराः, स्थिराः, पयस्या, हृद्याः, स्निग्धा, जीवनीयाः, सृष्टमूत्र-पुरीषाः, पूजिताश्चाभ्यवहरणाय पूर्वे (मधुराम्ल-लवणाः) भूयिष्ठम्; इतरे (कटु-तिक्त-कषायाः) विपरीताः ।" (र. वै. सू. अ. ३, सू. ३४-३५) ।
२ "गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक् । विद्याद्द्रव्यगुणान्, कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः ॥" (च. सू. अ. २६) । "गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये । रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः ॥" (अ. हृ. सू. अ. ९) ।

उष्णवीर्य हैं; जलचर और आनूप प्राणियोंका मांस मधुर होनेपर भी उष्णवीर्य है; सैन्धव लवण होनेपर भी उष्णवीर्य नहीं है (किंतु शीतवीर्य है); आंवले अम्ल होनेपर भी उष्णवीर्य नहीं हैं (किन्तु शीतवीर्य हैं); आक, अगर और गिलोय तिक्तरसवाले होनेसे इनका वीर्य शीत होना चाहिए, परन्तु इनका वीर्य उष्ण है; कुछ अम्ल द्रव्य ग्राही हैं, जैसे-कैथका फल; कुछ अम्ल द्रव्य भेदन हैं, जैसे-आँवले; कटुरसको अवृष्य बताया गया है, परन्तु पीपल और सोंठ वृष्य हैं; कषाय रसको स्तम्भन और शीतवीर्य बताया गया है, परन्तु हरड़ कषाय रसवाली होनेपर भी उष्णवीर्य और भेदन है। इस प्रकार तुल्यरसवाले द्रव्योंमें भी भिन्न-भिन्न गुण पाये जाते हैं, अतः रसोंके जो गुणकर्म कहे गये हैं, उन परसे सब द्रव्योंके गुण-कर्म नहीं बताये जा सकते।

ऊपर हमने जो अर्थ दिया है वह **चक्रपाणिदत्त**के मतानुसार है। **चक्रपाणिदत्तने** मूलमें 'वीर्यतोऽविपरीतानाम् (वीर्यतः अविपरीतानाम्)' ऐसा पाठ मानकर ग्रन्थ लगाया है। कविराज **गङ्गाधरजी** और **योगीन्द्रनाथसेनजीने** 'वीर्यतो विपरीतानां' ऐसा पाठ मानकर कुछ भिन्न व्याख्या की है। उनके मतानुसार संपूर्ण प्रकरणका अर्थ इस प्रकार होता है—जिन द्रव्योंका रस, विपाक और वीर्य समान हो अर्थात् विपाक और वीर्य रसके समान हों, जैसे-रस मधुर हो, विपाक मधुर हो और वीर्य शीत हो; रस अम्ल हो, विपाक अम्ल हो और वीर्य उष्ण हो; तथा रस कटु, हो, विपाक कटु हो और वीर्य उष्ण हो; ऐसे द्रव्योंके गुण-कर्म केवल रसके उपदेशसे अर्थात् तत् तत् रसके जो गुण-कर्म लिखे गये हैं उन परसे ही जानने-बताने चाहिए। मधुर रस शीतवीर्य है, अम्ल और लवण रस उष्णवीर्य हैं, विपाक रसोंके तुल्य फल (गुण-कर्म) वाला होता है। इस प्रकार ऐसे द्रव्य रस, वीर्य और विपाकमें अविरुद्ध होनेसे उनके केवल रसोपदेशसे ही तत्तद्रसके गुण-कर्म और दोषप्रकोपकत्व वा दोष-प्रशमकत्वका बोध हो जाता है। अतः तन्त्रकारोंने प्रायः ऐसे द्रव्योंके गुणोंमें मधुर, अम्ल, कटुक, इतना ही संक्षेपमें लिख दिया है। परंतु जो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषायरसवाले द्रव्य वीर्य और विपाकसे विपरीत हैं, ऐसे द्रव्योंके गुण-कर्म वीर्य और विपाकसे कहे जाँयगे। जैसे-आनूपमांस मधुर होनेपर भी उष्ण वीर्य है, उसके गुण-कर्म वीर्यसे जानने चाहिए। तथा बृहत्पञ्चमूल तिक्त और कषाय रसवाला होनेपर भी उसके विपरीत उष्णवीर्यवाला होनेसे उसके गुण-कर्म वीर्यके अनुसार होते हैं, क्योंकि वीर्य रस और विपाक दोनोंका पराभव करके अपना कार्य करता है। अन्य विरुद्धवीर्यके उदाहरण—लवण रस गुरु, स्निग्ध और उष्ण वीर्यवाला होता है, परंतु सैन्धव लवण होनेपर भी उष्ण नहीं, किन्तु शीतवीर्य है; अम्ल रस लघु, स्निग्ध और उष्ण वीर्यवाला होता है, परंतु आँवले अम्ल होनेपर भी शीतवीर्य हैं; तिक्त रसवाले द्रव्य शीत वीर्यवाले होते हैं, परंतु आक, अगर और गिलोय तिक्त होनेपर भी उष्ण-

वीर्यवाले हैं; अतः ये सब वीर्यसे विपरीत होनेसे उनके गुण-कर्म उनके वीर्यपरसे कहे गये हैं । विपाकविरुद्धके उदाहरण–जैसे–कैथका फल अम्ल होनेपर भी ग्राही है, इससे अनुमान होता है कि—इसका विपाक कटु है, और कटुविपाक होनेसे अम्ल होनेपर भी ग्राही है । कटु द्रव्य कटुविपाकवाले होनेसे उष्णवीर्य हैं और कटुविपाक द्रव्य शुक्रघ्न होनेसे अवृष्य होते हैं, परंतु सोंठ और पीपल मधुरविपाक होनेसे वृष्य हैं । ऐसे द्रव्योंके गुणकर्म विपाकपरसे जानने चाहिए । कषाय रस स्तम्भन और शीतवीर्य होता है, परंतु हरड कषाय होनेपर भी रेचन और उष्णवीर्य है ऐसे द्रव्योंके गुण-कर्म वीर्य और विपाकसे जानने चाहिये । तुल्यरसवाले द्रव्योंमें भी गुणोंमें अन्तर देखा जाता है, इस लिये सब द्रव्योंका उपदेश रसोंसे नहीं हो सकता । अतः जिन द्रव्योंमें रस, वीर्य और विपाक समान हों उनके गुण-कर्म रसोंसे और जिनमें रससे विपरीत वीर्य और विपाक हों उनके गुण-कर्म वीर्य या विपाकसे जानने चाहिए । क्योंकि विपाक रसका और वीर्य रस तथा विपाक दोनोंका पराभव करके अपना कार्य करता है "रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति" ।[1]

जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें मधुर तथा शीतवीर्य हो, जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें अम्ल तथा उष्णवीर्य हो और जो द्रव्य रस तथा विपाक दोनोंमें कटु और उष्णवीर्य हो, उन द्रव्योंके गुण तथा वातादि दोषोंका प्रकोपकत्व और प्रशमनत्व प्रायः उनके रसोंसे (रसोंके गुणोंके अनुसार) जानना चाहिये (**वृद्ध वाग्भट**)[2] ।

जिन द्रव्योंमें रस, विपाक और वीर्यका विजातीय संबन्ध हो उनके गुण-कर्म कैसे जानने चाहिये—

जहाँ (जिस द्रव्यमें) रस, विपाक और वीर्य इनका परस्पर सजातीय (एक सा–अनुकूल) संबन्ध होता है वहाँ रसोंके जो गुण–कर्म शास्त्रमें लिखे हैं उन परसे उस द्रव्यके समग्र गुण–कर्म जानने चाहिये, यह ऊपर लिखा गया है; परन्तु जिस द्रव्यमें रस, विपाक और वीर्य इनका परस्पर विजातीय (एक–दूसरेके विरुद्ध) संबन्ध होता है, उस द्रव्यमें रसके विरुद्ध गुण भी पाये जाते हैं । वहाँ केवल उसके रसके गुणोंसे उस द्रव्यके समग्र गुण–कर्म नहीं बताए जा सकते । जैसे–मधु (शहद) मधुर रसवाला है,

१ "शीतं वीर्येण यद्द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः । तयोरम्लं यदुष्णं च यद्द्रव्यं कटुकं तयोः ॥ तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः । वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते ॥ यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ । एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषक् ॥ मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात् कषायं तिक्तमेव च । यथा महत्पञ्चमूलं यथाऽब्जानूपमामिषम् ॥ लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा । अर्कागुरु-गुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते ॥ किंचिदम्लं हि संग्राहि, किंचिदम्लं भिनत्ति च । यथा कपित्थं संग्राहि, भेदि चामलकं तथा ॥ पिप्पली नागरं वृष्यं, कटु चावृष्यमुच्यते । कषायः स्तम्भनः शीतः, सोऽभयायामतोऽन्यथा ॥ तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेत् । दृष्टं तुल्यरसेऽप्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम् ॥" (च. सू. अ. २६) । २ "तत्र यन्मधुरं रसविपाकयोः शीतवीर्यं च द्रव्यं, यच्चाम्लं तयोरुष्णवीर्यं च, यद्वा कटुकं, तेषां यथास्वं रसेभ्यः प्रायो गुणान् दोषकोपशमनत्वं च विद्यात् ।" (अ. सं. सू. अ. १७) ।

तथापि कुछ कषाय, रूक्ष और कटु विपाकवाला होनेसे कफका शमन करता है तथा शीतवीर्य होनेसे वायुको उत्पन्न करता है। यही बात यव-जौके विषयमें भी जाननी चाहिये। आनूप और औदक प्राणियोंका मांस मधुर होनेपर भी उष्णवीर्य होनेसे पित्तको बढ़ाता है। तैल मधुर होनेपर भी कटुविपाक होनेसे मल-मूत्र-का विबन्ध करता है। काँजी अम्ल होनेपर भी रूक्ष और उष्ण होनेसे कफके प्रकोपको शान्त करती है। कैथका फल अम्ल होनेपर भी रूक्ष होनेसे कफको और शीतवीर्य होनेसे पित्तको शान्त करता है। आँवले अम्ल होनेपर भी मधुरविपाक और शीतवीर्यसे पित्तका और लघु होनेसे कफका शमन करते हैं। सेंधा नमक मधुर विपाकसे पित्तका और लघु होनेसे कफका शमन करता है। सोंठ और पीपल कटु रसवाली होनेपर भी मधुरविपाक तथा स्निग्ध और उष्ण वीर्यसे वायुका शमन करती है। लहसुन और प्याज कटु रसवाले होनेपर भी स्निग्ध, उष्णवीर्य और गुरु होनेसे वायुका शमन करते हैं। प्याज स्निग्ध और गुरु होनेसे कफको बढ़ाता है। पकी मूली मधुरविपाक होनेसे कफको बढ़ाती है। कटेरी, पाढ़, आक और अगर तिक्तरस और स्निग्ध होनेपर भी उष्णवीर्य होनेसे पित्तको बढ़ाते हैं। बृहत्पञ्चमूल कषाय और तिक्त रसवाला होनेपर भी उष्णवीर्य होनेसे वायुका शमन करता है, किन्तु पित्तका शमन नहीं करता। कुलथी कषाय रसवाली होनेपर भी अम्ल-विपाक होनेसे वायुका शमन करती है, किन्तु पित्तका शमन नहीं करती[१]।

कौन रस किस दोषको उत्पन्न और किस दोषका शमन करता है?

वात, पित्त, कफ इनमेंसे एक-एक दोषको तीन-तीन रस उत्पन्न करते हैं और तीन-तीन रस उनके प्रकोपको शान्त करते हैं। जैसे-कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस वायुको उत्पन्न (प्रकुपित) करते हैं और मधुर, अम्ल तथा लवण ये तीन रस प्रकुपित वायुको शान्त करते हैं। कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस पित्तको उत्पन्न (प्रकुपित) करते हैं और मधुर, तिक्त तथा कषाय ये तीन रस प्रकुपित पित्तका शमन करते हैं। मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस कफको उत्पन्न (प्रकुपित) करते हैं और कटु, तिक्त तथा कषाय ये तीन रस प्रकुपित कफको शान्त करते हैं। वायु-(वातदोष) वायु भूत हीसे उत्पन्न होता है, पित्त अग्निसे और कफ जलसे उत्पन्न होता

---

१ "रसादिसङ्करेण त्वन्यथात्वम्। यथा-मधु मधुरं श्लेष्माणं शमयति कटुविपाकतया सकषायत्वा-द्रौक्ष्याच्च, वातं जनयति शीतवीर्यत्वाच्च; तथा यवोऽपि; आनूपौदकपिशितं मधुरमपि पित्तं करोति, उष्णवीर्यत्वात्; तथा तैलं मधुरं कटुविपाकतया विपाकत एव बद्धविण्मूत्रम्; अम्लं काञ्जिकं कफं जयति रूक्षोष्णत्वात्; कपित्थं तु रौक्ष्यात् कफं, पित्तं तु शीतवीर्यतया; आमलकं पित्तं शीतवीर्यत्वात् स्वादुपाकतया च, कफं रौक्ष्याल्लाघवाच्च; लवणं स्वादुपाकतया पित्तं जयति, लाघवात् कफं च; कटुकाऽपि शुण्ठी स्नेहौष्ण्य-स्वादुपाकैर्वातं क्षपयति, पिप्पली च; लशुनोऽपि स्नेहौष्ण्य-गौरवैः पलाण्डुश्च; स तु स्नेह-गौरवाभ्यां जनयति श्लेष्माणं; वृद्धं च मूलकं स्वादुपाकतया; स्निग्धानि तिक्तानि च व्याघ्री-विशल्यार्कागुरूण्युष्णवीर्यत्वात् पित्तं जनयन्ति; कषायतिक्तं महत्पञ्चमूलं वातं जयति, न तु पित्तमुष्णवीर्यत्वात्; कषायश्च कुलत्थोऽम्लपाकतया च।" (अ. सं. सू. अ. १७)।

है । अतः जो रस जिन महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न होता है, वह स्वभावसे ही उस महाभूतसे उत्पन्न होनेवाले दोषको बढ़ाता है और इससे विपरीत महाभूतसे उत्पन्न होनेवाले दोषको शान्त करता है; क्योंकि शरीरके धातुओंकी समानसे वृद्धि और विपरीतसे ह्रास होता है[1] । जैसे–शैत्य, रौक्ष्य, लाघव, वैशद्य और वैष्टम्भ्य ये वायुके गुण हैं । उसका समानयोनि और समान गुणवाला कषाय रस है । कषाय रस अपने शैत्यसे वायुके शैत्यको, रौक्ष्यसे रौक्ष्यको, लाघवसे लाघवको, वैशद्यसे वैशद्यको और वैष्टम्भ्यसे विष्टम्भी गुणको बढ़ाता है । इस प्रकार कषाय रस सब प्रकारसे वायुको बढ़ानेवाला है । औष्ण्य, तैक्ष्ण्य, रौक्ष्य, लाघव और वैशद्य ये पित्तके गुण हैं । उसका समानयोनि और समान गुणवाला कटु रस है । वह अपनी उष्णतासे पित्तकी उष्णताको; तीक्ष्णतासे तैक्ष्ण्यको, रूक्षतासे रौक्ष्यको और विशदतासे वैशद्यको बढ़ाता है । इस प्रकार कटु रस सब प्रकारसे पित्तको बढ़ानेवाला है । मधुरता, स्नेह, गौरव, शैत्य और पैच्छिल्य ये कफके गुण हैं । उसका समानयोनि और समान गुणवाला मधुर रस है; क्योंकि मधुर रस और कफ दोनों जल महाभूतकी अधिकतासे उत्पन्न होते हैं । इसलिए मधुर रस अपनी मधुरतासे कफके माधुर्यको, स्निग्धतासे स्नेहको, गुरुतासे गौरवको, शीततासे शैत्यको और पिच्छिलतासे पैच्छिल्यको बढ़ाता है । इस प्रकार मधुर रस सब प्रकारसे कफको बढ़ानेवाला है । कफका असमान (विरुद्ध) योनि कटु रस है; क्योंकि कटु रस अग्निकी और मधुर रस जलकी अधिकतासे उत्पन्न होता है, जो दोनों परस्पर विरुद्ध गुणवाले हैं । इसलिए विरुद्ध गुणवाला होनेसे कटु रस अपने रसके प्रभावसे कफकी मधुरताको, रूक्षतासे कफके स्नेहको, लघुतासे गौरवको, उष्णतासे शैत्यको और विशदतासे पिच्छिलताको नष्ट करता है । इस प्रकार कटु रस सब प्रकारसे कफका नाश करनेवाला है । यह कटु रसका विषय हमने उदाहरणके रूपमें बताया है । इसी प्रकार अन्य रसोंके विषयमें भी जानना चाहिए[2] ।

---

१ "वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः (ह्रासः) ।" (अ. हृ. सू. अ. १) । २ "स्वाद्वम्ल-लवणा वायुं, कषाय-स्वादु-तिक्तकाः । जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषाय-कटु-तिक्तकाः ॥ कट्वम्ल-लवणाः पित्तं, स्वाद्वम्ल-लवणाः कफम् । कटु-तिक्त-कषायाश्च कोपयन्ति समीरणम् ॥" (च. सू. अ. १) । "तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति । तद्यथा—कटु-तिक्त-कषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ल-लवणास्त्वेनं शमयन्ति; कट्वम्ल-लवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुर-तिक्त-कषायास्त्वेनच्छमयन्ति; मधुराम्ल-लवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटु-तिक्त-कषायास्त्वेनं शमयन्ति ।" (च. वि. अ. १) । "तत्र मधुराम्ल-लवणा वातघ्नाः, मधुर-तिक्त-कषायाः पित्तघ्नाः, कटु-तिक्त-कषायाः श्लेष्मघ्नाः । तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति । त एते रसाः स्वयोनिवर्धना अन्ययोनिप्रशमनाश्च । × × × । तत्र शैत्य-रौक्ष्य-लाघव-वैशद्य-वैष्टम्भ्यगुणलक्षणो वायुः; तस्य समानयोनिः कषायो रसः; सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद्वैशद्यं, वैष्टम्भ्याद्वैष्टम्भ्यमिति । औष्ण्य-तैक्ष्ण्य-रौक्ष्य-लाघव-वैशद्यगुणलक्षणं पित्तं; तस्य समानयोनिः कटुको रसः, सोऽस्य औष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद्वैशद्यमिति । माधुर्य-स्नेह-गौरव-शैत्य-पैच्छिल्यगुणलक्षणः श्लेष्मा; तस्य समान-

भदन्त नागार्जुन कहते हैं—मधुर, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल, मृदु और शीत इन गुणोंसे मधुर रस कफ को बढ़ाता है, क्योंकि स्वयोनि-सजातीय-के आगम (मिलने) से दोष-धातु तथा मलोंकी वृद्धि होती है और विजातीयके आगम (मिलने)से उनका क्षय होता है। अम्ल रस अपने उष्ण, तीक्ष्ण, गुरु और स्निग्ध गुणसे कफको क्लिन्न (गाढ़े कफको पतला) और प्रकुपित करता है। लवण रस अपने उष्ण, तीक्ष्ण, गुरु और स्निग्ध गुणसे कफको पिघलाता है। कटुरस अपने उष्ण, रूक्ष और लघु गुणसे पित्तको बढ़ाता है। अम्ल और लवण रस अपने अति विदाही, उष्ण और तीक्ष्ण गुणसे पित्तको विदग्ध और प्रकुपित करता है। कषाय रस अपने शैत्य, रौक्ष्य, वैशद्य और विष्टम्भता इन गुणोंसे वायुको बढ़ाता है। तिक्त रस अपने शैत्य, रौक्ष्य, वैशद्य, लाघव और मार्दव इन गुणोंसे वायुको प्रकुपित करता है। कटु रस अपने रौक्ष्य, लाघव और कटुतासे वायुका प्रकोप करता है[१]।

रसोंद्वारा दोषोंकी उत्पत्ति होनेमें अपवाद—

अम्ल रस प्रायः पित्त करता है, परंतु दाडिम-अनार और आँवले अम्ल रसवाले होनेपर भी पित्त नहीं करते। मधुर रस प्रायः कफ करता है, परंतु पुराने शालि-षष्टिक-जौ-गेहूँ और मूँग, शहद, मिश्री तथा जाङ्गम प्राणियोंका मांस मधुर होनेपर भी कफ नहीं करते। तिक्त रस प्रायः वायु करनेवाला और अवृष्य होता है, परंतु बेतका अग्रभाग, गिलोय, पटोल (कडुए परवल) की पत्ती ये तिक्त रसवाले होनेपर भी वायु नहीं करते। कटु रस प्रायः वायु करनेवाला और अवृष्य होता है, परंतु छोटी पीपल, सोंठ और लहसुन कटुरसवाले होनेपर भी वायु नहीं करते और वृष्य होते हैं। लवण रस नेत्रको हानि करता है, परंतु सेंधानमक लवण होनेपर भी नेत्रको हानि नहीं करता[२]।

योनिर्मधुरो रसः; सोऽस्य माधुर्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद्गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पिच्छिल्यात् पैच्छिल्यमिति। तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रसः; स श्लेष्मणः प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधुर्यमभिभवति, रौक्ष्यात् स्नेहं, लाघवाद्गौरवम्, औष्ण्याच्छैत्यं, वैशद्यात् पैच्छिल्यमिति। तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तं भवति।" (सु. सू. अ. ४२)।

१ "माधुर्य-स्नेह-गौरव-पैच्छिल्य-मार्दव-शैत्यैः श्लेष्माणं वर्धयति मधुरः। स्वयोनेरागमाद् वृद्धिर्दोष-धातु-मलानां, क्षयः प्रतिपक्षस्यागमात्। कोपयति क्लेदयति चैनमम्लः, विष्यन्दयति चैनं लवणः। काटुक्यौष्ण्य-रौक्ष्य-लाघवैश्च पित्तं वर्धयति कटुकः; भृशं विदाह्युष्णत्वात्तीक्ष्णत्वाच्च विदाहयति कोपयति चाम्लः। शैत्य-रौक्ष्य-वैशद्य-वैष्टम्भ्यैर्वायुं वर्धयति कषायः, शैत्य-रौक्ष्य-वैशद्य-लाघव-मार्दवैरेनं कोपयति कटुकः।" (र. वै, अ. ३. सू. ६२-७२)। २ "प्रायः पित्तलमम्लम्, अन्यत्र दाडिमामलकात्; प्रायः श्लेष्मलं मधुरम्, अन्यत्र मधुनः पुराणाच्च शालि-षष्टिक-यव-गोधूमात्; प्रायस्तिक्तं वातलमवृष्यं च, अन्यत्र वेत्राग्रामृता-पटोलपत्रात्; प्रायः कटुकं वातलमवृष्यं च, अन्यत्र पिप्पली-विश्वभेषजात्।" (च. सू. अ. २७) "तत्र प्रायो मधुरं श्लेष्मलम्, अन्यत्र पुराणशालियवगोधूममुद्गमधु-शर्करा-जाङ्गलमांसात्। प्रायोऽम्लं पित्तलम्, अन्यत्र दाडिमामलकात्। प्रायो लवणमचक्षुष्यम्, अन्यत्र सैन्धवात्। प्रायस्तिक्तकटुकं वातलमवृष्यं च, अन्यत्रामृता-पटोली-नागर-पिप्पली-लशुनात्। प्रायः कषायं शीतं स्तम्भनं च, अन्यत्र हरीतक्याः।" (अ. सं. सू. अ. १८)।

संयुक्त रसवाले द्रव्योंके गुण-कर्मोंका निर्णय कैसे करना ?—

अनेक रसोंवाले द्रव्योंमें तथा अनेक दोषोंवाले रोगोंमें प्रत्येक रस और दोषका जो अलग-अलग प्रभाव कहा गया है उसको देख कर, उस द्रव्य या विकारके प्रभावका निर्णय करना चाहिए । यह न्याय जिस द्रव्यमें अनेक रसोंका और जिस रोगमें अनेक दोषोंका स्वाभाविक रीतिसे कारणानुरूप समवाय (मिलना) हुआ हो ऐसे प्रकृतिसमसमवेत द्रव्य और रोगमें ही लागू होता है। परन्तु यह नियम प्रकृति-समसमवेतको छोड़कर अन्यत्र विकृतिविषमसमवेतमें लागू नहीं हो सकता। क्योंकि जिस द्रव्यमें रसोंका अस्वाभाविक रीतिसे कारणोंके अननुरूप संयोग हुआ है, जिसमें रसोंके गुणोंका परस्पर उपघात हुआ है और जिसकी अनेक प्रकारकी कल्क-स्वरसादि कल्पनाएँ की गयी हैं, ऐसे विकृतिविषमसमवेत द्रव्यमें एक-एक रसका जो प्रभाव (कर्म) कहा गया है उससे समुदायके प्रभाव-कर्मका यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता। इसी प्रकार विकृतिविषमसमवेत रोगमें भी एक-एक दोषके प्रभावको देखकर समुदायके प्रभाव-कर्मका निर्णय नहीं हो सकता। ऐसे विकृतिविषमसमवेत द्रव्य और रोगमें अवयव-प्रभावसे नहीं परन्तु समुदायप्रभाव(मिले हुए रसों और दोषोंके प्रभाव)को देखकर द्रव्य और रोगके प्रभावका निर्णय करना चाहिए। 'प्रकृत्या समः कारणानुरूपः समवायः प्रकृतिसमसमवायः'—द्रव्यमें पञ्च महाभूतों तथा रसोंका और रोगमें दोष-दूष्योंका स्वाभाविकरीत्या सम अर्थात् कारणानुरूप जो समवाय (संबन्ध) होता है उसको **प्रकृतिसमसमवाय,** तथा इस प्रकारके संबन्धसे मिले हुए रसों और दोषोंको **प्रकृतिसमसमवेत** कहते हैं। 'विकृत्या विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषम-समवायः'—एवं द्रव्यमें पञ्चमहाभूतों और रसोंका तथा रोगमें दोष-दूष्योंका विकृतिसे अस्वाभाविक रूपमें कारणोंके अननुरूप जो संबन्ध होता है उसको **विकृतिविषम-समवाय** कहते हैं और इस प्रकारके संबन्धसे संयुक्त रसों और दोषोंको **विकृति-विषमसमवेत** कहते हैं। प्रकृतिसमसमवेत द्रव्यमें कारणके अनुरूप कार्य होता है; जैसे-वंशलोचन और मिसरीके बनाये हुए चूर्णमें रस-रूप-गुणादि समुदायमें भी अवयवानुरूप ही होते हैं। इसलिये ऐसे समवायमें (मिले हुए द्रव्यमें) अवयवभूत रसों या द्रव्योंके प्रभाव-कर्मको देखकर उन परसे समवायके प्रभाव-कर्मका निर्णय हो सकता है। परन्तु विकृतिविषमसमवेत द्रव्यमें कारणके अनुरूप नहीं ऐसे भिन्न ही रूप-रस-प्रभावादि उत्पन्न होते हैं; जैसे-पारद और गन्धकके संयोगसे बनी हुई कज्जली या रससिन्दूरमें दोनोंकी अपेक्षया भिन्न ही रूपादि उत्पन्न होते हैं, अतः ऐसे विकृतिविषमसमवेत द्रव्योंमें समुदायके प्रभावको देखकर ही द्रव्यप्रभावका निर्णय करना चाहिये[1] ।

---

१ "तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रस-दोषप्रभावमेकैकश्येनाभिसमीक्ष्य ततो द्रव्य-विकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत् । न त्वेवं खलु सर्वत्र । न हि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेनैव समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसातुं शक्यम् । तथायुक्ते हि समुदये समुदायप्रभावतत्त्वमेवोपलभ्य ततो द्रव्य-विकारप्रभावतत्त्वं व्यवस्येत् ।" (च. वि. अ. १)

रसोंके गुणोंका तारतम्य—

रूक्ष रसोंमें कषाय रस उत्तम (रूक्षतम), कटु मध्यम (रूक्षतर) और तिक्त अवर-हीन (रूक्ष) है। उष्ण रसोंमें लवण उत्तम (उष्णतम), अम्ल मध्यम (उष्णतर) और कटु अवर (उष्ण) है। स्निग्ध रसोंमें मधुर श्रेष्ठ (स्निग्धतम), अम्ल मध्यम (स्निग्धतर) और लवण अवर (स्निग्ध) है। शीत रसोंमें मधुर उत्तम (शीततम), कषाय मध्यम (शीततर) और तिक्त अवर (शीत) है। गुरु रसोंमें मधुर उत्कृष्ट (गुरुतम), कषाय मध्यम (गुरुतर) और लवण अधम (गुरु) है। लघु रसोंमें तिक्त उत्तम (लघुतम,) कटु मध्यम (लघुतर) और अम्ल अधम (लघु) है। कई आचार्य लवण रसको लघुओंमें अवर मानते हैं (च.)[1]। कटु, अम्ल और लवण ये रस उत्तरोत्तर उष्णवीर्य हैं। तिक्त, कषाय और मधुर ये उत्तरोत्तर शीतवीर्य हैं। तिक्त, कटु और कषाय ये तीनों रस उत्तरोत्तर रूक्ष और मल-मूत्र तथा अधोवातको रोकनेवाले हैं। लवण, अम्ल और मधुर ये तीनों रस उत्तरोत्तर स्निग्ध हैं और मल, मूत्र तथा अधोवातको साफ लानेवाले हैं। लवणसे कषाय और उससे मधुर गुरु है। अम्लसे कटु और उससे तिक्त लघु है[2] (अ. हृ.)। कई आचार्य लवण रसको गुरु, लघु, स्निग्ध और रूक्ष गुणोंमें साधारण मानते हैं (अ. सं.)।

शरीरमें रस दोषोंकी वृद्धि या ह्रास कैसे करते हैं?—

जब शरीरके अन्दर मधुरादि रस और वातादि दोष आपसमें मिलते हैं तब जो रस जिन दोषोंके समान गुणवाले या समान गुणकी अधिकतावाले होते हैं, वे वारंवार अभ्यास-सेवन करनेसे उनको बढ़ाते हैं। इसी प्रकार जो रस जिन दोषोंके विपरीत गुणवाले या विपरीत गुणोंकी अधिकतावाले होते हैं, वे वारंवार अभ्यास करनेसे उनको शान्त करते हैं। इस प्रकार व्यवस्थाके लिए परस्पर असंयुक्त रसोंका षट्त्व और दोषोंका त्रित्व कहा गया है[3]।

---

१ "रौक्ष्यात् कषायो रूक्षाणामुत्तमो मध्यमः कटुः। तिक्तोऽवरस्तथोष्णानामुष्णत्वाल्लवणः परः॥ मध्योऽम्लः कटुकश्चान्त्यः स्निग्धानां मधुरः परः। मध्योऽम्लो लवणश्चान्त्यो रसः स्नेहान्निरुच्यते॥ मध्योत्कृष्टावराः शैत्यात् कषाय-स्वादु-तिक्तकाः। स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः॥ अम्लात् कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमो मतः। केचिल्लघूनामवरमिच्छन्ति लवणं रसम्। गौरवे लाघवे चैव सोऽवरस्तूभयोरपि।" (च. सू. अ. २६)। २ "रसाः कट्वम्ललवणा वीर्येणोष्णा यथोत्तरम्। तिक्तः कषायो मधुरस्तद्वदेव च शीतलाः॥ तिक्तः कटुः कषायश्च रूक्षा बद्धमलास्तथा। पट्वम्ल-मधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्र-मारुताः॥ पटोः कषायस्तस्माच्च मधुरः परमं गुरुः। लघुरम्लः कटुस्तस्मात्तस्मादपि च तिक्तकः॥ (अ. हृ. सू. अ. १०) "अन्ये पुनर्गुरु लघु-रूक्षसाधारणं लवणमिच्छन्ति।" (अ. स. सू. अ. १७)। ३ "रस-दोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः। इत्येतद्व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम्।" (च. वि. अ. १)।

वक्तव्य—तन्त्रकारोंने छः असंयुक्त रस तथा रसोंके परस्पर दो-दो, तीन-तीन चार-चार, पाँच-पाँच और छहोंके संसर्ग (मिलने) से ५७ संसृष्ट रस, मिलकर रसके ६३ भेद लिखे हैं। हमने विस्तारभयसे इनका यहाँ विवरण नहीं किया है। जिज्ञासुओंसको उनका विस्तृत विवरण द्रव्यगुणविज्ञान पूर्वार्धके अध्यापकोपयोगी संस्करणमें देखना चाहिये।

दोषादिके बलानुसार एक या अनेक रसवाले द्रव्योंका उपयोग करना चाहिये—

बुद्धिमान् वैद्य दोष, औषध, देश, काल, बल आदिको देखकर कहीं एक रसवाले एक द्रव्यकी, कहीं एक रसवाले अनेक द्रव्योंकी या कहीं संयुक्त रसवाले एक वा अनेक द्रव्योंकी कल्पना करते हैं।[1]

'रसविज्ञानीय' नामक तृतीय अध्याय समाप्त ॥

'विपाकविज्ञानीय' नामक चतुर्थ अध्याय।

चरकके मतमें विपाक भी रसविशेष होनेसे और विपाकका फल (कार्य) रसोंके समान[2] होनेसे रसविज्ञानीय अध्यायके अनन्तर **विपाकविज्ञानीयाध्याय**का प्रारम्भ किया जाता है।

विपाकके विषयमें आयुर्वेदके जो तन्त्र इस समय उपलब्ध हैं उनमें दो मत पाये जाते हैं। उनमें एकको **आत्रेयसंप्रदायमत** या **चरकमत** और दूसरेको **धन्वन्तरिसंप्रदायमत** या **सुश्रुतमत** कह सकते हैं। **वृद्धवाग्भट** और **वाग्भट** आत्रेयसंप्रदायके तथा **भदन्त नागार्जुन** धन्वन्तरिसंप्रदायके मतानुयायी हैं। विपाकके विषयमें प्रथम आत्रेयसंप्रदायका और पीछे धन्वन्तरिसंप्रदायका मत लिखा जायगा।

विपाकका लक्षण—

खाये हुए मधुरादि छहों रसोंका (रसोंके आधारभूत द्रव्योंका) महास्रोत (मुखसे लेकर गुद तकके अन्नवहस्रोतस्-अन्नमार्ग)में जठराग्निद्वारा परिपाक होकर अन्तमें जो रसविशेषकी उत्पत्ति होती है, उसको **विपाक** कहते हैं[3]।

---

१ "क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित् । दोषौषधादीन् संचिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता ॥ द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधाः । रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान् प्रति ॥" (च. सू. अ. २६)। २ "रसैरसौ (विपाकः) तुल्यफलः" (अ. हृ. सू. अ. ९)। ३ "जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम् । रसानां परिणामान्ते स **विपाक** इति स्मृतः ॥" (अ. हृ. सू. अ. ९)। "रसानां रसवतां द्रव्याणां, जाठराग्निना संयोगाद्यद्रसान्तरमुत्पद्यते, स **विपाकः** । "आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमीरयेत् ।" (अ. हृ. शा. अ. ३) **इत्यादिनोक्तानां** मधुराम्ल-कटुपाकानां व्यावृत्त्यर्थमाह-परिणामान्ते इति-आहारपरिणामान्ते । ते तु परिणामात् प्रागेव उत्पद्यन्ते इति तेषां रसत्वमेव ।" (हे.)।

वक्तव्य—विपाकका यह लक्षण आत्रेयसंप्रदायके मतानुसार **वाग्भटने** लिखा है। आयुर्वेदमें भुक्त द्रव्योंके दो प्रकारके पाक माने गये हैं—(१) **अवस्थापाक** और (२) **निष्ठापाक** या **विपाक**। पाकका अर्थ है पकना-पककर द्रव्योंका स्वरूपान्तरमें और रसान्तरमें या उसी रसमें परिवर्तन होना। खाये हुए आहारका महास्रोतसके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें जो आवस्थिक पाक होता है, उसको **अवस्थापाक** कहते हैं। अवस्थापाकमें अन्नमार्गके विभिन्न स्थानोंमें आहारमें भिन्न-भिन्न परिवर्तन होते हैं। इन भिन्न-भिन्न आवस्थिक परिवर्तनोंमें आहारसे किट्ट (मल) के रूपमें कफ, पित्त, वात, मूत्र और विष्ठा (पुरीष) का पृथक्करण होता है। इन परिवर्तनोंके अन्तमें सार-प्रसाद-रूप रसधातुकी उत्पत्ति होती है। इस रसधातुसे शरीरके सब अवयवोंका (वात-पित्त-कफ-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-आदिका) पोषण होता है। आहारपाकके अन्तिम परिणाम रूप रसधातुमें खाये हुए आहारके छहों रसोंका मधुर, अम्ल और कटुरूपमें जो अन्तिम परिवर्तन होता है, उसको आयुर्वेदकी परिभाषामें **निष्ठापाक** या **विपाक** कहते हैं। **निष्ठापाक**का अर्थ है आहारका (आहारगत रसोंका) अन्तिम परिवर्तन। अवस्थापाकका विस्तृत वर्णन **चरक** चिकित्सास्थानके पन्द्रहवें अध्यायमें तथा **अष्टाङ्ग-हृदय** शारीरस्थानके तीसरे अध्यायमें किया गया है। विपाक और अवस्थापाकका भेद जाननेके लिये प्रथम अवस्थापाकका निरूपण किया जाता है।—

अवस्थापाकका निरूपण—

खाए हुए अन्नको आदान (ग्रहण-आकर्षण करना) जिसका कार्य है ऐसा प्राण वायु कोष्ठमें ले जाता है। वहाँ कोष्ठमें क्लेदक कफके द्रवसे उसका संघात (काठिन्य) नष्ट होकर वह द्रवरूप होता है और क्लेदक कफके स्नेहांशसे वह मृदु-नरम होता है। पीछे समान वायुसे संधुक्षित-प्रेरित और अवकम्पित[1] जठराग्नि (पाचक पित्त और शरीरोष्मा[2]) अन्नकालमें सममात्रामें खाए हुए अन्नको आयुष्यकी वृद्धिके लिये अच्छी तरह पकाता है। खाए हुए छहों रसोंवाले अन्नसे प्रथमपाकमें (पाकके आरम्भमें) उद्भूत-उद्रिक्त मधुर रससे फेनसदृश मलरूप कफ उत्पन्न होता है। पीछे आमाशयमें पाक होते समय और आमाशयसे नीचे अन्त्रोंमें जाते समय विदग्धावस्था (पच्यमानावस्था-अर्धपक्वा-वस्था) में उद्भूत-उद्रिक्त अम्ल रससे मलभूत स्वच्छ पित्तकी उत्पत्ति होती है। बाद पक्वाशयमें गये हुए जठराग्निसे शोष्यमाण और पककर पिण्डीभावको प्राप्त हुए आहारसे उद्भूत-उद्रिक्त कटु रससे मलरूप वात उत्पन्न होता है (**कविराज गङ्गाधरजीने** यहाँ और विपाकनिरूपणमें स्पष्ट कर दिया है कि-अवस्थापाकमें भुक्तमात्र अन्नकी प्रथम अवस्थामें उत्पन्न मधुरभावसे मलरूप (स्थूल) कफ, पच्यमानावस्थामें उत्पन्न अम्लभावसे मलरूप (स्थूल) पित्त और पक्वावस्थामें उत्पन्न कटुभावसे मलरूप वातकी उत्पत्ति होती है। निष्ठापाकमें रस और मलके विवेक (पृथक्करण) के समयमें आद्य

१ "अवधूतः अवकम्पितः" (ग.)। २ "आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति-ऊष्मा, वायुः, क्लेदः, स्नेहः, कालः, समयोगश्च।" (च. शा. अ. ६)।

रसधातुमें उद्रिक्त मधुर रससे धातुरूप कफकी, अम्लरससे धातुरूप पित्तकी और कटुरससे धातुरूप वातकी उत्पत्ति होती (पोषण होता है[१])।

अवस्थापाकमें मुख-कण्ठ, आमाशय और ग्रहणी–अन्त्र इन स्थानोंमें तत्तत्स्थानस्थित बोधक कफ, क्लेदक कफ, समानवायु, जठराग्निरूप पाचक पित्त और शरीरस्थ ऊष्माके द्वारा अन्नका परिपाक होता है। आमावस्था, पच्यमानावस्था (विदग्धावस्था) और पक्वावस्थामें छहों रसवाले आहारसे पूर्वोक्त तत्तत्स्थानके संबन्धसे क्रमशः मधुर, अम्ल और कटु रस उद्भूत (उद्रिक्त) होते हैं। इस प्रकार आमावस्थामें उद्भूत मधुर, पच्यमानावस्थामें उद्भूत अम्ल और परिपक्वावस्थामें उद्भूत कटुरसकी अधिकतासे क्रमसे मलरूप कफ, पित्त और वायुकी उत्पत्ति होती है। ये तीनों अवस्थापाक अन्नके चर्वणसमयमें उत्पन्न मधुरता, मधुर-अम्ल-तिक्तादि उद्गार तथा वमनमें निकले हुए मधुर–अम्ल-कट्वादिरसयुक्त द्रव्यादिसे प्रत्यक्षगम्य है। अवस्थापाकमें भुक्त द्रव्योंका रस चाहे कोई भी हो, परन्तु स्थानप्रभाव और अवस्थावश ऊपर कहे हुए तत्–तत् स्थानमें एक ही प्रकारका मधुर, अम्ल और कटु रस उत्पन्न (उद्रिक्त) होता है। तीनों अवस्थापाकोंके अनन्तर अन्तमें (रस-मलविवेककालमें) आद्य रसधातुमें जो रसविशेषकी उत्पत्ति होती है, उसको **विपाक** या **निष्ठापाक** कहते हैं। यह निष्ठापाक वातादि दोषोंकी उत्पत्ति, बद्धविण्मूत्रता, सृष्टविण्मूत्रता आदि विपाकलक्षणोंसे अनुमेय है (अनुमान किया जाता है।), अवस्थापाकके समान इसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

विपाकका ज्ञान कब होता है?—

खाए हुए द्रव्योंका जठराग्निद्वारा परिपाक होनेके बाद रसोंका शरीर पर जो अन्तिम परिणाम–कार्य होता है, उसको देखकर अनुमानद्वारा विपाकका ज्ञान–निर्णय होता है। विपाक सर्वदा अप्रत्यक्ष होता है। कार्य देखकर अमुक प्रकारका विपाक हुआ है यह अनुमान किया जाता है[२]।

---

१ "अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति। तद्द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम्॥ समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु। काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये॥ एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः। पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्॥ अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः। मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते॥ परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥ पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः॥" (च. चि. अ. १५)। "कथं रसाय मलाय वा पचतीत्याह–अन्नस्येत्यादि। षड्रसस्यान्नस्य भुक्तमात्रस्य प्रपाकतः पाकारम्भात् मधुराख्यात् भावात् यः फेनभाव उदीर्यते स **कफो नाम मलः**। परं तदुत्तरकालं पच्यमानस्य तस्य षड्रसस्यान्नस्य विदग्धस्यार्धपरिपक्वस्याम्लभावो भवति। आशयात् आमाशयाच्च्यवमानस्य तस्याम्लीभूतस्याहारस्य यत् स्वच्छं निर्मलरूपमुदीर्यते तत् **पित्तं नाम मलम्**। पक्वाशयं प्राप्तस्य वह्निना शोष्यमाणस्य परिपिण्डितपक्वस्य तस्य षड्रसस्यान्नस्य कटुभावो भवति। तस्मात् कटुभावाद् **वायुर्नाम मलः** स्यात्।" (ग.)। २ "विपाकः कर्मनिष्ठया।" (च. सू. अ. २६)। "(विद्यात्) विपाकं **द्रव्याणां कर्मणः परिनिष्ठया।**" (अ. सं. सू. अ. १७)।

विपाकके भेद-(किन रसोंका कैसा विपाक होता है ?)

कटु, तिक्त और कषाय इन तीन रस (वाले द्रव्यों) का विपाक प्रायः कटु होता है; अम्ल रस (वाले द्रव्यों) का विपाक प्रायः अम्ल होता है तथा मधुर और लवण रस (वाले द्रव्यों) का विपाक प्रायः मधुर होता है[१]।

वक्तव्य—'प्रायः' शब्दसे यह बताया गया है किसी-किसी रसका विपाक इससे विपरीत भी होता है। जैसे-सोंठ, छोटी पीपल आदि द्रव्य कटु रसवाले होनेसे उनका विपाक कटु होना चाहिये, परंतु उनका विपाक कटु न होकर मधुर होता है; कुलथी कषाय रसवाली होनेपर भी उसका विपाक अम्ल होता है; हर्ड कषाय रसवाली और आँवले अम्ल रसवाले होनेपर भी उनका विपाक मधुर होता है; मधुर रसवाले व्रीहिका विपाक अम्ल होता है; तैल मधुर रसवाला होनेपर भी उसका विपाक कटु होता है; सोंचर (काला नमक) लवण होनेपर भी उसका विपाक कटु होता है; पटोल (कडुआ परवल) तिक्त रसवाला होनेपर भी उसका विपाक मधुर होता है। इससे मालूम होगा कि ऊपर जो रसोंके विपाक लिखे गये हैं उनमें अपवाद भी देखे जाते हैं, इसलिये 'प्रायः' शब्दका प्रयोग किया है। द्रव्यगुणके प्रकरणमें जहाँ रसके अनुगुण (समान) विपाक होता है वहाँ प्रायः रसनिर्देशसे विपाकका भी निर्देश किया गया है; परंतु जहाँ रससे विपरीत विपाक होता है वहाँ विपाकका स्पष्ट शब्दोंमें निर्देश किया है।

ऊपर विपाक (निष्ठापाक-अन्तिमपाक) और अवस्थापाकका लक्षण लिखा है। इससे मालूम होगा कि कटु, तिक्त और कषाय इन तीन रसोंसे (रसवाले भुक्त द्रव्योंसे) अवस्थापाकमें तत्तत्स्थानविशेषके संबन्धसे आम, पच्यमान और पक्व-इन तीन अवस्थाओंमें क्रमशः मधुर, अम्ल और कटु ये तीन रस बढ़कर मलरूप कफ, पित्त और वातकी वृद्धि होती है; परंतु जठराग्निकी क्रिया समाप्त होकर जब रस और मलका पृथक्करण (रसमलविवेक) होता है तब कटु, तिक्त और कषाय ये तीनों रस आद्य रसधातु जो कि सारे शरीरका पोषण करता है, उसमें कटु रसके रूपमें उत्पन्न होकर रहते हैं और उस कटु विपाकका शुक्रक्षय, बद्धविण्मूत्रता (मल-मूत्रका अवरोध) और धातुरूप वातकी उत्पत्ति-इन कार्योंसे अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार अम्ल रस भी जठराग्नि(अवस्थापाक)की क्रिया समाप्त होनेपर रस और मलके पृथक्करणके समयमें आद्य रसधातुमें अम्लरसके रूपमें उत्पन्न होकर रहता है और धातुरूप पित्तकी उत्पत्ति, सृष्टविण्मूत्रता (मलमूत्र साफ होना) और शुक्रका क्षय-इन लक्षणोंसे उसका अनुमान किया जाता है। मधुर और लवण रस भी जठराग्निकी क्रियासे तीनों अवस्थापाकोंकी समाप्ति होनेपर रस और मलके पृथक्करणके समयमें आद्य रसधातुमें मधुररूपमें उत्पन्न होकर रहता है और धातुरूप कफ तथा शुक्रकी उत्पत्ति और मल-मूत्रके साफ होनेसे अनुमान किया जाता है। इस प्रकार तीन दोषोंकी

---

१ "कटु-तिक्त कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः। अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा॥" (च. सू. अ. २६)।

उत्पत्तिके लिये छहों रसोंवाले द्रव्योंके कटु, अम्ल और मधुर ये तीन विपाक आत्रेय संप्रदायके अनुयायियोंने माने हैं[1] (विशेष वक्तव्य धन्वन्तरिसंप्रदायके मतसे विपाक निरूपणके अनन्तर देखें)।

विपाकके कर्म—

मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस (वाले द्रव्य) स्निग्ध होनेसे प्रायः वात, मूत्र और मल(पुरीष-विष्ठा)को साफ लानेवाले हैं। कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस रूक्ष होनेसे प्रायः वात, मूत्र, शुक्र और मलका अवरोध करनेवाले हैं। कटु विपाक शुक्र-(वीर्य)का क्षय करनेवाला, मल और मूत्रका कब्ज करनेवाला तथा वायुको उत्पन्न करनेवाला है। मधुर विपाक मल और मूत्रको साफ लानेवाला तथा कफ और शुक्रको बढ़ानेवाला है। अम्ल विपाक मल और मूत्रको साफ लानेवाला, शुक्रका क्षय करनेवाला तथा पित्तको बढ़ानेवाला है। मधुर विपाक (वाले द्रव्य) गुरु (देरीसे पचनेवाले) और कटु तथा अम्ल विपाक (वाले द्रव्य) लघु (शीघ्र पचनेवाले) हैं **(च.)**। मधुर, अम्ल और कटु ये तीनों विपाक क्रमशः मधुर, अम्ल और कटु रसके तुल्य फल (कर्म) वाले हैं अर्थात् मधुर, अम्ल और कटु रसके जो कार्य कहे गये हैं वे मधुर, अम्ल और कटु विपाकके भी जानने चाहिये[2] **(अ. सं. अ. हृ.)**।

रसोंके तारतम्यसे विपाकका तारतम्य—

द्रव्योंके गुणोंके (रसोंके) मधुरत्व, मधुरतरत्व, मधुरतमत्व, अम्लत्व, अम्लतरत्व, अम्लतमत्व–इत्यादि तारतम्य (न्यून-मध्य-अधिक) भेदसे विपाकके लक्षणों (कार्यों) का भी न्यून (अल्प), मध्य और अधिकभाव जानना चाहिये। **कविराज गङ्गाधरजी** कहते हैं कि–रसोंके श्रेष्ठत्व, मध्यत्व और अल्पत्वसे विपाकका भी श्रेष्ठत्व, मध्यत्व और अल्पत्व जानना चाहिये। जैसे–मधुर रसवाले द्रव्योंका मधुर विपाक मल–मूत्रकी प्रवृत्ति तथा कफ और शुक्रकी वृद्धिमें श्रेष्ठ होता है; लवण रसका मधुर विपाक मल–मूत्रकी प्रवृत्ति और कफ तथा शुक्रकी वृद्धिमें अल्प होता है; अम्ल रसका अम्ल विपाक मल–मूत्रकी प्रवृत्ति तथा कफ और शुक्रके नाश करनेमें मध्यम होता है; तिक्त रसका कटु विपाक मल–मूत्रके कब्ज करने, शुक्रके नाश करने और वायुको उत्पन्न

---

१ "अनेन रसषट्केऽपि द्रव्याणां यद्विपाकत्रैविध्यं मधुराम्ल-कटुलक्षणमुच्यते तद्दोषत्रैविध्या-देवेति सुष्ठूपपादितं भवति।" **(शिवदाससेन)**। २ "मधुरो लवणाम्लौ च स्निग्धभावात्त्रयो रसाः। वात-मूत्र-पुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः॥ कटु-तिक्त-कषायास्तु रूक्षभावात्त्रयो रसाः। दुःखाय मोक्षे दृश्यन्ते वात-विण्मूत्र-रेतसाम्॥ शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः। मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफ-शुक्रलः॥ पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः। तेषां गुरुः स्यान्मधुरः, कटुकाम्लावतोऽन्यथा॥" (च. सू. अ. २६)। "कटुर्विपाकः शुक्रघ्नो बद्धविड् वातलो लघुः। स्वादुर्गुरुः सृष्टमलो विपाकः कफ-शुक्रलः॥ पाकोऽम्लः सृष्टविण्मूत्रः पित्तकृच्छुक्रनुल्लघुः॥" (द्रव्यगुणसंग्रह)। "रसैरसौ तुल्यफलः" (अ. सं. सू. अ. १७; अ. हृ. सू. अ. ९)।

करनेमें अल्प (हीन) होता है; कटु रसका कटु विपाक मल-मूत्रके कब्ज करने, शुक्रका नाश करने तथा वायुको उत्पन्न करनेमें मध्यम होता है; तथा कषाय रसका कटु विपाक मल-मूत्र कब्ज करने, वायुको उत्पन्न करने और शुक्रका क्षय करनेमें श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार द्रव्योंके स्नेह, रौक्ष्य आदि गुणोंकी विशेषता (तारतम्य) से विपाकके लक्षणोंका अल्पत्व, मध्यत्व और श्रेष्ठत्व जानना चाहिये। विपाकके पहिले (अवस्थापाकके समयमें) रसोंका कार्य होता है और अवस्थापाकके अनन्तर विपाकका कार्य होता है (ग.)।[१]

धन्वन्तरिसंप्रदायके मतसे विपाकनिरूपण—

धन्वन्तरिके मतमें दो प्रकारके ही विपाक हैं—**मधुर** और **कटु**। **गुरु** विपाकको **मधुर** और **लघु** विपाकको **कटु** नाम दिया जाता है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतोंके तद्गत गुणोंके साधर्म्यसे दो विभाग होते हैं—**गुरु** और **लघु**। क्योंकि पृथिवी और जल ये दो गुरु हैं और शेष तीन तेज, वायु तथा आकाश लघु हैं; इसलिए दो प्रकारका विपाक होता है—(१) **गुरु** और (२) **लघु**। द्रव्य जब जठराग्नि द्वारा पकते हैं, तब जिन द्रव्योंमें पृथिवी और जलके गुण अधिक होते हैं उनका **मधुर** अर्थात् **गुरु** विपाक होता है; और जिन द्रव्योंमें अग्नि, वायु तथा आकाशके गुण अधिक होते हैं उनका **कटु** अर्थात् **लघु** विपाक होता है। अर्थात् जिन द्रव्योंमें पृथिवी और जलके गुण अधिक होते हैं, वे विपाकमें **गुरु** (पचनेमें भारी-चिरकालसे पचनेवाले) होते हैं; तथा जिन द्रव्योंमें अग्नि, वायु और आकाशके गुण अधिक होते हैं, वे विपाकमें **लघु** (पचनेमें हलके-शीघ्र पचनेवाले) होते हैं[२]।

---

१ "विपाकलक्षणस्याल्प-मध्य-भूयिष्ठतां प्रति। द्रव्याणां गुणवैशेष्यात्तत्र तत्रोपलक्षयेत् ॥" (च. सू. अ. २६)। "विपाकलक्षणस्य 'शुक्रहा' इत्यादिकर्मणः स्वल्प-मध्य-भूयिष्ठतां प्रति द्रव्याणां गुणवैशेष्यादल्प-मध्य-श्रेष्ठत्वात् तत्र तत्र विपाककर्मसु स्वल्प-मध्यम-श्रेष्ठत्वमुपलक्षयेत्। तेन मधुररसविपाको मधुरः श्रेष्ठो विण्मूत्रमोक्षे कफ-शुक्रवृद्धौ च; लवणरसविपाको मधुरस्त्वल्पसृष्टविण्मूत्रः कफ-शुक्रलश्चाल्पः; अम्लश्च मध्यमसृष्टविण्मूत्रः शुक्रनाशनश्च मध्यमः; तिक्त-कटु-कषायाणां तिक्तरसविपाकः कटुरल्परूपेण शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो वातलश्च, कटुरसविपाकः कटुर्मध्यमरूपेण, कषायरसविपाकः कटुरुत्तमरूपेणेति। एवं द्रव्याणां स्नेह-रौक्ष्यादिगुणवैशेष्यादल्प-मध्य-श्रेष्ठतामुपलक्ष्य ब्रूयात्। प्राग्विपाकाद्धि रसकार्यं भवति, पाकादुत्तरं विपाककार्यं भवति।" (ग.)।
२ "आगमस्त्वाह—द्विविध एव पाको मधुरः, कटुकश्च; तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुरिति। तत्र पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति तद्गुणसाधर्म्याद्गुरुता, लघुता च; पृथिव्यापश्च गुर्व्यः, शेषाणि लघूनि; तस्माद्द्विविध एव विपाक इति। भवन्ति चात्र—द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बु-पृथिवीगुणाः ॥ निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥ तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु। निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥" (सु. सू. अ. ४०)। विपाकके विषयमें सुश्रुतकी व्याख्यामें **डॉ. भास्कर गोविन्द घाणेकर**जी लिखते हैं कि—"महास्रोतसमें जठराग्निके संयोगसे रसकारणभूत द्रव्योंका पचन होनेके पश्चात्

भदन्त नागार्जुन—कहते हैं कि—परिणाम अर्थात् रूपान्तर होना—जरण (पाचन) होना यह विपाकका लक्षण है। कई आचार्य कहते हैं कि—मधुरादि छहों रसोंका अपने सदृश विपाक होता है; जैसे—मधुरका मधुर, अम्लका अम्ल, लवणका लवण इत्यादि; अतः रसभेदसे विपाक छः प्रकारका है। परंतु यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि, रस आस्वादग्राह्य है (जीभसे रसका ज्ञान होता है) और विपाक परिणाम-लक्षण है (परिणाम देखकर विपाकका अनुमान किया जाता है)। इस प्रकार दोनोंके लक्षण भिन्न होनेसे और रस प्रत्यक्ष तथा विपाक नित्य परोक्ष होनेसे मधुरका मधुर विपाक होता है यह नहीं जाना जा सकता, अतः प्रत्येक रसका रसके सदृश विपाक होता है यह मानना ठीक नहीं है। कई आचार्य कहते हैं कि—मधुर, अम्ल और कटु तीन विपाक हैं। क्योंकि, कफ मधुर है उसकी उत्पत्ति (पोषण) मधुर रससे, पित्त अम्ल है उसकी उत्पत्ति अम्ल रससे और वायु कटु है उसकी उत्पत्ति कटु रससे होती है; अतः तीन दोषोंकी उत्पत्तिके लिये तीन विपाक मानना ठीक है। इस मतका खण्डन करते हुए **नागार्जुन** कहते हैं—कालकी दृष्टिसे, गुणकी दृष्टिसे या रसकी दृष्टिसे विचार करनेसे तीन विपाक सिद्ध नहीं हो सकते। कालभेदसे तीन विपाक नहीं बन सकते, क्योंकि **चिरकाल** और **अचिर-शीघ्र-काल**से भिन्न तीसरा काल नहीं है। गुणसे भी तीन विपाक नहीं हो सकते, क्योंकि गुरु महाभूतोंसे उत्पन्न हुए रस **गुरु** और लघु महाभूतोंसे उत्पन्न हुए रस **लघु**, ऐसे गुणभेदसे दो ही रसभेद होते हैं, तीसरा भेद नहीं हो सकता। रसभेदसे भी तीन विपाक नहीं हो सकते, क्योंकि—जैसे हमने **मधुर** और **कटु** इन दो रसवाचक शब्दोंको गौणवृत्तिसे **गुरु** और **लघु** विपाक अर्थवाले माने हैं, वैसे **अम्ल** शब्दका अर्थान्तरमें (गुरु–लघुसे भिन्न अर्थमें) अध्यारोप नहीं कर सकते, क्योंकि महाभूतोंके गुणोंकी दृष्टिसे **गुरु** और **लघु**–से भिन्न तीसरा भेद नहीं है, अतः विपाक दो ही हैं। लोकमें भी विपाकका लक्षण जो परिणाम वह दो प्रकारका ही देखनेमें आता है; जैसे—खैर आदिकी लकड़ी देरसे जलती है और घास शीघ्र

शरीरमें जो रसान्तर उत्पन्न होता ह वह **विपाक** है। विपाकको **निष्ठापाक** भी कहते हैं। छः रसोंके मधुर, अम्ल और कटु ऐसे तीन विपाक चरकके अनुसार और मधुर तथा कटु दो ही विपाक सुश्रुतके अनुसार होते हैं। इन विपाकोंका कार्य रसके सदृश होता है। फर्क इतना ही है कि विपाकका कार्य सार्वदेहिक, अप्रत्यक्ष या अनुमेय और द्वितीयक (Systemic, indirect and Secondary) तथा रससे बलवत्तर है। विपाकका बलाबल द्रव्यगत रसके बलाबल पर निर्भर होता है। यदि द्रव्य अत्यन्त मधुर हो तो विपाक भी उत्कृष्ट होता है, यदि मध्यम मधुर हो तो मध्यम होता है और यदि अल्प मधुर हो तो अल्पलक्षण होता है। रसका ज्ञान जिह्वाके साथ संबन्ध होते ही होता है, विपाकका ज्ञान शरीरमें ओषधियोंका पचन होनेके पीछे दोषोंकी वृद्धि, प्रकोप या प्रशमन देखकर होता है और वीर्यका ज्ञान कभी शरीरके साथ संबन्ध होते ही होता है, कभी शरीरपर जो कार्य होता है उससे और कभी दोनों प्रकारसे होता है। संक्षेपमें रसका ज्ञान प्रत्यक्ष, विपाकका अप्रत्यक्ष या कार्यानुमेव तथा वीर्यका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारसे होता है" (सु. सू. पृ. २२०)।

जलती है। गुरु और लघु इन दो गुणोंके भेदसे महाभूतोंके दो भेद होते हैं। पृथिवी तथा जल ये दो गुरु हैं और अग्नि, वायु तथा आकाश ये तीन लघु हैं। गुरु द्रव्य चिरकालसे पचते हैं और लघु द्रव्य शीघ्र पचते हैं। गुरु गुणसे **'मधुर'** नामका और लघु गुणसे **'कटु'** नामका विपाक होता है। कोई प्रश्न करे कि—आपने 'परिणामलक्षण विपाक है' यह विपाकका लक्षण कहा और उसके भेद बताते हुए **मधुर** और **कटु** ऐसे दो रसभेदवाचक शब्दोंका प्रयोग किया यह असंगत है; तो इसका उत्तर यह है कि-शब्द तीन प्रकारके होते हैं—नित्य गौण, जैसे-प्रवीण, कुशल आदि; नित्य मुख्य, जैसे-पचति, पठति इत्यादि; कई मुख्य और गौण दोनों होते हैं, जैसे-'सिंह'; सिंहशब्द सिंहमें मुख्य और 'यह बालक सिंह है' यहाँ गौण है। यहाँ भी **मधुर** और **कटु** शब्द रसके अर्थमें मुख्य और विपाकके अर्थमें गौण है। निन्दा, प्रशंसा आदि गुणोंके सादृश्यसे सिंह आदि शब्दोंका गौण अर्थमें प्रयोग होता है। इस प्रकार यहाँ भी मधुर रस पार्थिव और आप्य है तथा गुरु गुण भी पार्थिव और आप्य है, इस प्रकार मधुर रस और गुरु गुणमें गुणसादृश्य होनेसे 'मधुर' शब्दका गुरु विपाकमें गौणरूपसे प्रयोग होता है; कटु रस आग्नेय और वायव्य है; इसी प्रकार लघु गुण भी आग्नेय, वायव्य और नाभस है; अतः गौण वृत्तिसे लघु विपाकमें 'कटु' शब्दका प्रयोग किया गया है। गुरु गुणवाले पृथिवी और जलसे गुरु विपाक तथा लघु गुणवाले वायु, तेज और आकाशसे लघु विपाक होता है। जैसे तीन-तीन रस दोषोंके बढ़ाने या प्रकोप करनेवाले हैं और तीन-तीन रस दोषोंका क्षय या प्रशम करनेवाले हैं ऐसा विपाकमें नियम नहीं है। जैसे-लघुविपाक जल कफको बढ़ाता है और लघुविपाक शहद कफको दूर करता है[1]।

प्रमाण-संस्कार आदिके भेदोंसे विपाकमें विपर्यास भी होता है—

द्रव्यका प्रमाण, संस्कार, सात्म्य, अग्निबल, देश, काल, संयोग और पाक (पकाना) इनके विशेषोंसे (भेदोंसे) विपाकमें विपर्यास (विपरीतपन) होता है। इनके उदाहरण—प्रमाणविशेषसे विपर्यास होता है; जैसे-गुरुविपाक दूध थोड़ा हो तो शीघ्र पचता है और लघुविपाक शालिका भात अति प्रमाणमें खाया जावे तो देरीसे पचता है। संस्कारविशेषसे विपर्यास होता है; जैसे-गुरुविपाकवाला दूध दीपनीय द्रव्योंके संस्कारसे शीघ्र पचता है। सात्म्यसे विपर्यास होता है; जैसे-दूध जिनको सात्म्य है ऐसे बालकोंको दूध शीघ्र पचता है। अग्निबलसे विपर्यास होता है; जैसे-तीक्ष्ण अग्निवालेको गुरुविपाकवाले द्रव्य शीघ्र पचते हैं। देशविशेषसे विपर्यास होता है; जैसे-जाङ्गलदेशमें

---

१ "परिणामलक्षणो विपाकः। (र. वे. अ. १)। यथारसं विपाकमेके ब्रुवते। न, भिन्नलक्षणत्वात्। परोक्षत्वाच्चात्यन्तम्। यथास्वं दोषवर्धनात्त्रय इत्येके। कालतो, गुणतो, रसतश्चानुपत्तिस्त्रित्वस्य। द्वौ द्वैविध्यदर्शनात् परिणामस्य। गुणकारणत्वाद्गुणद्वैविध्याच्च। मधुरो गुरुत्वात्, लघुत्वाच्च कटुकः। मधुरो गुरुभ्यां, कटुर्लघुभिः। वर्धन-क्षपण-प्रकोपे तयोरनियमः।" (र. वे. अ. ४)।

गुरुविपाकवाले द्रव्य शीघ्र पचते हैं और अनूपदेशमें लघुविपाकवाले द्रव्य देरीसे पचते हैं। कालविशेषसे विपर्यास होता है; जैसे–वर्षा कालमें लघु द्रव्य देरीसे पचते हैं और हेमन्त ऋतुमें गुरु द्रव्य शीघ्र पचते हैं। संयोगविशेषसे विपर्यास होता है; जैसे–सोंठ मिलाया हुआ दूध गुरुविपाक होनेपर भी शीघ्र पचता है। पाकविशेषसे विपर्यास होता है; जैसे–जला हुआ या अधपका हुआ द्रव्य देरीसे पचता है और ठीक पकाया हुआ दूध शीघ्र पचता है[१]।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता और रसवैशेषिकसूत्र देखनेसे मालूम होता है कि—प्राचीन समयमें आयुर्वेदमें **यथारस विपाक (रससदृश विपाक)** (१), **अनवस्थित-अनियत विपाक** (२), **त्रिविध विपाक** (३) और **द्विविध विपाक** (४) ये चार मत प्रचलित थे। उनमें यथारसविपाक अर्थात् मधुरादि छहों रसोंका अपने सदृश विपाक होता है अतः रसभेदसे छः प्रकारका विपाक होता है ऐसा **षड्विपाकवाद** और विपाककालमें दुर्बल रस बलवान् रसके अधीन होते हैं अतः अमुक रसका अमुक रसवाला विपाक होता है इस प्रकार नियम न होनेसे विपाक अनियत है[२] यह **अनवस्थितविपाकवाद**–इन दो मतोंका तन्त्रकारों और टीकाकारोंने युक्तिपूर्वक खंडन किया है। शेष दो मतोंमें एक मतमें मधुर, अम्ल और कटु ऐसे तीन प्रकारका विपाक होता है; यह आत्रेयसंप्रदायके **अग्निवेश, पराशर** आदि आचार्योंका मत है। **वृद्धवाग्भट** और **वाग्भट** इस मतके अनुयायी हैं। इस मतको **'त्रिविधविपाकवाद'** वा **'रसविपाकवाद'** कह सकते हैं। क्योंकि ये छः रसोंका मधुर, अम्ल और कटु–इन तीन रसोंमें विपाक मानते हैं। दूसरा छहों रसोंके (रसवाले द्रव्योंके) **गुरु** और **लघु** ये दो प्रकारके विपाक होते हैं, ऐसा धन्वन्तरि संप्रदायवाले **सुश्रुत** और **नागार्जुनका** मत है। इस मतको **'द्विविधपाकवाद'** या **'गुणविपाकवाद'** यह नाम दे सकते हैं। इस संप्रदायवालोंने **गुरुविपाकको मधुरविपाक** और **लघुविपाकको कटुविपाक** ये पारिभाषिक नाम दिये हैं, तथापि उनको रसविपाकवादी नहीं कह सकते। क्योंकि उन्होंने **गुरु** और **लघु** इन दो **गुणोंमें मधुर** और **कटु**शब्दका

---

१ 'द्रव्यप्रमाण-संस्कार-सात्म्याग्निबलाबल-देश-काल-संयोग-पाक-विशेषैर्विपाकविपर्यासः।" (र. वै. सू. अ. ४,५५)। "द्रव्यप्रमाणाद् विपर्यासः—गुरुविपाकं क्षीरमल्पं लघु पच्यते, लघ्वतिप्रमाणाद् गुरु पच्यते, यथा—शालिरतिभुक्तः। संस्काराद्—गुरुविपाकं द्रव्यं दीपनीयसंस्काराल्लघुविपाकं भवति। सात्म्यतः—क्षीरोचितानां क्षीरं लघुविपाकं भवति। अग्निबलात्—तीक्ष्णाग्नीनां गुरुविपाकं लघुविपाकं भवति। देशविशेषात्—जाङ्गलेषु गुरुविपाकाश्च लघवो भवन्ति प्रायशः, अनूपेषु लघुविपाकाश्च गुरुविपाका भवन्ति। कालविशेषात्—ग्रीष्मे लघवो भवन्ति गुरवः, वर्षा-हेमन्तयोर्लघवोऽपि गुरवः। संयोगविशेषात्—क्षीरं शुण्ठीसंयोगाल्लघुविपाकं भवति। संस्कार-संयोगयोः कः पुनर्विशेष इति? संस्कारो भावना-परिशोषण-मन्थनादि। पाकविशेषात्—दग्धं विदग्धं वा द्रव्यमुपयुक्तं गुरु विपच्यते लघ्वपि, क्षीरं गुर्वपि शृतं लघु भवतीति।" (भा.)। २ "केचित् पुनरबलवन्तो बलवतां वशमायान्ति, तस्मादनवस्थितः पाक इति।" (सु. सू. अ. ४०)।

गौण रूपसे प्रयोग किया है। यह बात रसवैशेषिकसूत्र और उसके भाष्यमें स्पष्टतया बताई गई है। यद्यपि आपाततः इन दोनों मतोंमें विरोध मालूम होता है, परन्तु दोनों मतोंमें फलमें विरोध न होनेसे अर्थात् दोनों मतोंमें विपाकोंका फल सदृश होनेसे फलमें अन्तर नहीं पड़ता । **चरकने** लिखा है कि—मधुर विपाक गुरु है और कटु तथा अम्ल विपाक लघु हैं। गुरुविपाकके जो गुण सुश्रुतने लिखे हैं वे सब मधुर विपाकमें तथा लघु विपाकके जो गुण सुश्रुतने लिखे हैं वे सब अम्ल और कटु विपाकमें पाये जाते हैं। अतः दोनों मतवादियोंकी विचारश्रेणी और शब्दप्रयोगमें ही अन्तर है, फलमें कोई अन्तर नहीं है।

'विपाकविज्ञानीय' नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

'वीर्य-प्रभावविज्ञानीय' नामक पञ्चम अध्याय।

द्रव्य, गुण, रस और विपाकके निरूपणके अनन्तर शेष रहे **वीर्य** और **प्रभाव**के निरूपणके लिये **वीर्य-प्रभावविज्ञानीय** अध्यायका प्रारम्भ किया जाता है।

वक्तव्य—द्रव्यगत कार्यकारिणी शक्तिको **वीर्य** कहते हैं। वह शक्ति दो प्रकार की होती है—(१) **चिन्त्य शक्ति** और (२) **अचिन्त्य शक्ति**। चिन्त्य शक्ति वह है जिसका द्रव्योंके पाञ्चभौतिक संगठन, रस, गुण या विपाकद्वारा द्रव्योंके कर्मोंके साथ कार्यकारण-संबन्ध दिखाया जा सके। इस चिन्त्य शक्तिको आयुर्वेदकी परिभाषामें **वीर्य** कहा जाता है। अचिन्त्य शक्ति वह है जिसका द्रव्योंके पाञ्चभौतिक संगठन, गुण, रस या विपाकद्वारा उनके कर्मोंके साथ कार्यकारणसंबन्ध न दिखाया जा सके, उसको आयुर्वेदकी परिभाषामें **प्रभाव** कहते हैं।

वीर्यका लक्षण—

संसारमें सब कार्य वीर्य-शक्ति-से ही होते हैं, कोई भी कार्य शक्तिके विना संपन्न नहीं हो सकता। अतः द्रव्यगत भूतप्रसादातिशयरूप(-जन्य) जिस कार्यकारिणी शक्तिके द्वारा जीवित शरीरपर संशोधन–संशमन आदि कुछ भी कार्य-कर्म होता है उस शक्तिको, वह शक्ति चाहे द्रव्यस्वभाव(द्रव्योंकी पार्थिव–आप्य आदि पाञ्चभौतिक रचना)रूप हो, रसरूप हो, विपाकरूप हो, उत्कृष्ट शक्तिसंपन्न शीतोष्णादि गुणरूप हो, या द्रव्यगत सारभाग–सत्त्वांश–रूप हो, उसको **वीर्य** कहते हैं। जीवित शरीर पर क्रिया करनेकी शक्तिसे संपन्न द्रव्योंकी पाञ्चभौतिक रचनाविशेष–विशिष्ट संगठन, रस, गुण, विपाक या द्रव्यगत सत्त्वांश–इन सबपर यह लक्षण लागू पड़ता है[१]।

---

१ "येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्।" (च. सू. अ. २६; सु. सू. अ. ४१)। "वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। नावीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया॥" (च. सू. अ. २६)। "वीर्यं शक्तिः, सा च पृथिव्यादीनां भूतानां यः सारभागस्तदतिशयरूपा बोध्या।" (शि.)। "वीर्यं द्रव्यस

इस मतके अनुयायियोंको **शक्तिरूपवीर्यवादी** या **बहुवीर्यवादी** कहते हैं।

अष्टविध वीर्यवादियोंका मत—

ऊपर लिखे हुए वीर्यके लक्षणको मानते हुए अष्टविध वीर्यवादी कहते हैं कि—द्रव्य-स्वभाव (द्रव्योंका पाञ्चभौतिक संगठन), रस और विपाक-इनका आयुर्वेदमें स्वतन्त्र वर्णन और विचार किया गया है, अतः इनसे अतिरिक्त उत्कृष्टशक्तिसंपन्न और प्रभूत (विशेष) कार्य करनेवाले **गुरु, लघु, मृदु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, शीत** और **उष्ण**—इन आठ गुणोंको ही **वीर्य** मानना उचित है[1]। क्योंकि ये गुर्वादि आठ गुण समग्र गुणोंमें साररूप अर्थात् चिरस्थायी हैं,[2] अन्य गुणोंसे उत्कृष्ट शक्तिवाले हैं, लोक और शास्त्रमें मुख्यतया इनसे व्यवहार होता है,[3] अनेक (विंशति) गुणोंकी गणनामें इनकी पहले गणना होती है, रस-विपाक तथा अन्य गुणोंका पराभव करके ये अपना कार्य करते हैं, अन्य गुणोंकी अपेक्षया द्रव्यमें अधिकतासे रहते हैं[4] तथा देहोपयोगित्वमें श्रेष्ठ हैं, इसलिये गुर्वादि आठ गुणोंमें **वीर्य** संज्ञा सार्थक है[5]। गुर्वादि

तज्ज्ञेयं यद्योगात् क्रियते क्रिया। नावीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा वीर्यकृता हि सा।" (अ. सं. सू. अ. १७)। "द्रव्यस्य तद्वीर्यं ज्ञेयं यस्य योगाद्द्रव्यं कार्यं कर्तुं समर्थम्। न च द्रव्यमवीर्यं वीर्येण विना किञ्चित् कर्म कुरुते, अतः सर्वाः क्रिया वीर्यकृताः। एवं वीर्य-शक्तिः कारणमिति बहुवीर्यवादिनः।" (इन्दुः)। 'भूतप्रसादातिशयो द्रव्ये पाके रसे स्थितः। चिन्त्याचिन्त्यक्रिया-हेतुर्वीर्यं धन्वन्तरेर्मतम्॥ द्रव्य (द्रव्योंका पाञ्चभौतिक संगठन), विपाक या रसमें रहा हुआ चिन्त्य या अचिन्त्य कार्यका हेतु जो भूतप्रसादातिशय (पञ्चभूतोंका सारतम अंश) उसको **वीर्य** कहते हैं।") (चरककी शिवदाससेनविरचित व्याख्यामें उद्धृत तन्त्रान्तरवचन)। इस लक्षणके अनुसार द्रव्यमें महाभूतोंके सारतम अंशसे उत्पन्न कार्यकारिणी शक्तिसे संपन्न अंश वह चाहे रस हो, विपाक हो, प्रभाव (विचित्रप्रत्ययारब्ध अचिन्त्यकार्यकारी पाञ्चभौतिक रचनाविशेष) हो या शक्तिसंपन्न द्रव्यांशविशेष (सत्त्व-एक्टिव प्रिन्सिपल्स) हो, सब **वीर्य** कहाता है।

१ "मृदु-तीक्ष्ण-गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्षोष्ण-शीतलम्। वीर्यमष्टविधं केचित् (आस्थिताः)" (च. सू. अ. २६)। "केचिदष्टविधमाहुः-शीतम्, उष्णं, स्निग्धं, रूक्षं, गुरु, लघु, मृदु, तीक्ष्णं चेति।" (सु. सू. अ. ४०)। "वीर्यं पुनर्वदन्त्येके गुरु स्निग्धं हिमं मृदु। लघु रूक्षोष्ण-तीक्ष्णं च तदेवं मतमष्टधा॥ चरकस्त्वाह वीर्यं तत् क्रियते येन या क्रिया। नावीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा वीर्यकृता हि सा॥ गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या तेनान्वर्थेति वर्ण्यते। समग्रगुणसारेषु शक्त्युत्कर्ष-विवर्तिषु॥ व्यवहाराय मुख्यत्वाद्बह्वग्रग्रहणादपि। अतश्च विपरीतत्वात् संभवत्यपि नैव सा॥ विवक्ष्यते रसाद्येषु, वीर्यं गुर्वादयो ह्यतः।" (अ. हृ. सू. अ. ९)। "गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः। परसामर्थ्यहीनत्वाद्गुणा एवेतरे गुणाः॥" (अ. सं. सू. अ. १७)। २ जठराग्निके योगसे मधुरादि रस-गुण अपने स्वभावको छोड़कर अन्यथाभावको प्राप्त होते हैं, परंतु गुर्वादि गुण अपने स्वभावको नहीं छोड़ते, इसलिये सब गुणोंमें साररूप—चिरस्थायी हैं। ३ जैसे—"गुर्वादयो गुणा द्रव्ये" (च. सू. अ. २६) इत्यादि स्थलोंमें गुर्वादिका ही ग्रहण किया गया है। ४ जैसे—वातगुणोंमें कहा गया है—"तत्र रूक्षो लघुः शीतः" (च. सू. अ. १) इत्यादि। ५ विपाकमें चिरस्थायित्व, प्रभावमें शक्त्युत्कर्षत्व, कठिनादिमें व्यवहारमुख्यत्व और रसोंमें बह्वग्रग्रहण ये बातें है, अतः उनकी व्यावृत्तिके लिये यहाँ चारों हेतु एकसाथ दिये गये हैं।

आठ गुण जब उत्कृष्ट शक्तिसंपन्न होकर द्रव्यमें रहते हैं तब उनको **वीर्य** कहा जाता है, परन्तु जब वे उत्कृष्ट शक्तिसंपन्न नहीं होते, तब सामान्य (तया) **गुण** ही कहे जाते हैं। अवशिष्ट बारह गुण उत्कृष्ट शक्तिरहित होनेसे सामान्यतया **'गुण'** ही कहलाते हैं। इस मतके अनुयायियोंका कथन है कि द्रव्यगत सारांश, रस या विपाक किसीको भी वीर्य मानें परन्तु ये सब गुर्वादि आठ या शीत–उष्ण दो गुणों द्वारा ही अपना कार्य करेंगे, अतः उनको ही **वीर्य** मानना उचित है[1]। रस और विपाकमें भी क्रिया करनेका सामर्थ्य होनेसे वीर्य संज्ञाका संभव है, तथापि उनमें ऊपर कहे हुए सब लक्षण नहीं पाये जाते, अतः उनको **वीर्य** संज्ञा नहीं दी जाती। गुर्वादि आठ गुणोंको वीर्य माननेवालोंको **पारिभाषिकवीर्यवादी, गुणवीर्यवादी** या **अष्टविध-वीर्यवादी** कहते हैं।

द्विविध-वीर्यवादियोंका मत—

द्विविध वीर्यवादी कहते हैं कि–जगत्में सब द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं, तथापि पञ्चमहाभूतोंमें अग्नि और सोम (जल) ये दो महाभूत ही महाबलवान् होनेसे सब द्रव्योंपर उनका प्रभाव विशेष–अधिक पड़ता है और काल भी **आदान (आग्नेय)** और **सौम्य (आप्य)** भेदसे दो प्रकारका है, अतः अग्निगुणप्रधान **उष्ण** और सोम-(जल)गुणप्रधान **शीत** दो प्रकारका ही वीर्य मानना उचित है[2]। इस मतके माननेवाले भी **पारिभाषिकवीर्यवादी** या **गुणवीर्यवादी** हैं, तथापि ये दो प्रकारका ही वीर्य मानते हैं, अतः उनको **द्विविधवीर्यवादी** कहते हैं।

---

१ "यह बात वीर्यका निरूपण करते हुए सुश्रुताचार्यने स्पष्ट रूप से कही है। वे कहते हैं कि—द्रव्योंके वमन, विरेचन, सांग्राहिक, अग्निदीपन, पीडन, लेखन, बृंहण, रसायन, वाजीकरण, श्वयथुकरण, श्वयथुविलयन, दहन, दारण, मादन, प्राणघ्न, विषप्रशमन आदि औषधकर्म वीर्यकी प्रधानतासे सम्पन्न होते हैं। वह वीर्य दो प्रकारका है—उष्ण और शीत। क्योंकि जगत्के सर्व पदार्थ आग्नेय (अग्निगुणप्रधान–उष्ण) और सौम्य (सोम-जलगुणप्रधान–शीत) इन दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं। कई आचार्य शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु और तीक्ष्ण आठ प्रकारका वीर्य मानते हैं" "नेत्याहुरन्ये; वीर्यप्राधान्यात्। कस्मात्? तद्वशेनौषधकर्मनिष्पत्तेः। इहौषधकर्माण्यूर्ध्वाधोभयभागसंशोधन-संशमनसांग्राहिकाग्निदीपन-पीडन-लेखन-बृंहण-रसायन-वाजीकरण-श्वयथुकर-विलयन-दहन-दारण-मादन-प्राणघ्न-विषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद्भवन्ति।" (सु. सू. अ. ४०)। २ "तच्च वीर्यं द्विविधम् उष्णं, शीतं च। अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः। केचिदष्टविधमाहुः—शीतम्, उष्णं, स्निग्धं, रूक्षं, विशदं, पिच्छिलं, मृदु, तीक्ष्णं चेति।" (सु. सू. अ. ४०)। "अन्ये तु गुर्वादीनामग्नीषोमात्मकत्वादादान-विसर्गविभागेन कालस्य चोष्ण-शीतात्मकत्वाद्द्विविधमेवामनन्ति। एवं चाहुः—नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ। व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्॥" (अ. सं. सू. अ. १७)। "उष्णशीतगुणोत्कर्षात्तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम्।" (अ. हृ. सू. अ. १)। "केचिद्द्विविधमास्थिताः। शीतोष्णमिति" (च. सू. अ. ३२६)।

कर्मलक्षणवीर्यवादियोंका मत—

नागार्जुन कर्मलक्षण (द्रव्यगत जिस सारभाग-सत्त्वांश-से वमन-विरेचन आदि कर्म-क्रियाएँ होती हैं उसको) वीर्य मानते हैं। **नागार्जुन** कहते हैं कि—वच, सुवर्ण, घृत, शङ्खपुष्पी (शंखाहुली) आदिसे मेधा (स्मरणशक्ति या बुद्धि) उत्पन्न होती है या बढ़ती है यह कर्म देखकर उनमें **मेधाजनन-मेध्य** वीर्य रहा है, मदन-फल (मैनफल) से वमन होता है यह कर्म देखकर मैनफलमें **वमनकारक-छर्दनीय** वीर्य है; इत्यादि कर्म-फल देखकर तत्तत् द्रव्यगत क्रियाकर-शक्तिसंपन्न अंशको वीर्य मानना उचित है[1]। नागार्जुनने उष्ण, शीत आदि प्रकृष्टशक्तिसंपन्न गुण ही वीर्य हैं, इस मतका खंडन किया है। उन्होंने अपने पक्षके समर्थनमें जो युक्तियाँ दी हैं, उनको **रसवैशेषिक सूत्र** और उसके भाष्यमें ही देखें। हमने विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिखी हैं। नागार्जुनने छर्दनीय (वामक), अनुलोमनीय (विरेचक), उभयतोभाग (वमन-विरेचन दोनों करानेवाला), प्रशमन (वातादि दोषप्रशमन), दीपनीय, प्राणघ्न (विष), मदन (मादक), विदारण-प्रदरण, श्वयथुकर, श्वयथुविलयन, मेध्य, आयुष्य-जीवनीय, वृष्य, वयस्य-वयःस्थापन, वर्चस्य-वर्ण्य, रक्षोघ्न(रोगजन्तुघ्न), पुंसवन (पुरुष प्रजा उत्पन्न करानेवाला) आदि अनेक प्रकारका वीर्य माना है[2]। अर्थात् नागार्जुन भी **बहुविधवीर्यवादी** है।

वीर्यका ज्ञान कब होता है?

द्रव्यगत वीर्यका ज्ञान द्रव्यका शरीरके साथ संबन्ध होनेसे लेकर वह द्रव्य जबतक शरीरके अन्दर रहता है तबतक शरीरपर होनेवाली उसकी क्रियाओंके द्वारा होता है। कुछ उपयुज्यमान द्रव्योंके वीर्योंका ज्ञान निपातसे अर्थात् जिह्वा या त्वगिन्द्रियके साथ उनके संयोगमात्रसे होता है, जैसे—काली मिर्च आदिके तीक्ष्णत्व आदिका ज्ञान निपातसे होता है; कुछ उपयुज्यमान द्रव्योंके वीर्योंका ज्ञान अधिवाससे अर्थात् जबतक वे शरीरमें रहें तबतक शरीरपर होनेवाली उनकी क्रियाओंसे होता है, जैसे—आनूप मांसके उष्णत्वका ज्ञान जबतक वह शरीरमें रहता है तबतक शरीरपर होनेवाली उसकी क्रियाओंसे अनुमान किया जाता है; कुछ द्रव्योंके वीर्योंका ज्ञान निपात और अधिवास दोनोंसे होता है, जैसे—काली मिर्च आदिके तीक्ष्णत्वका ज्ञान निपात और अधिवास दोनोंसे होता है[3]।

---

१ "कर्मलक्षणं वीर्यम्।" (र. वै. १।१६९)। "मेधाजननादि (वीर्यं) मेधां दृष्ट्वा ज्ञायते, ऊर्ध्वभागिकमपि तथेति।" (भा.)। २ "वीर्याणि पुनश्छर्दनीयानुलोमनीयोभयतोभाग-प्रशमनीय-संग्रहणीय-दीपनीय-प्राणघ्न-मदन-विदारण-श्वयथुकरण-विलयनानि। मेध्यायुष्य-वृष्य-वयस्य-वर्चस्य-रक्षोघ्न-पुंसवन-सौभाग्य-विशल्य-विमोक्षोन्माद-क्लैब्य-वशीकरण-विद्वेषण-प्रवासनाकर्षणान्तर्धानिक-पौष्टिक-राजद्वारिकप्रभृतीनि च।" (र. वै. अ. ४)। ३ "वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते।" (च. सू. अ. २६)। "अधीवासः सहावस्थानम्। यावदधीवासादिति यावच्छरीरनिवासात्। निपाताच्चेति शरीरसंयोगमात्रात्।

उष्णवीर्यके गुण-कर्म—

उष्णवीर्य (वाला द्रव्य) दहन (जलाना और दाह उत्पन्न करना), पचन (अन्न, धातुरस, व्रणशोथ आदिको पकाना), मूर्च्छा लाना, पसीना लाना, वमन और विरेचन कराना, विलयन (पिघलाना), कफ और वातका शमन करना, चक्कर लाना, तृषा लगाना तथा पित्त उत्पन्न करना—ये कर्म करता है। उष्ण वीर्य लघु और अवृष्य है[१]।

शीतवीर्यके गुण-कर्म—

शीतवीर्य (वाला द्रव्य) प्रह्लादन (उष्ण पीडितको सुख देनेवाला), स्रावको रोकनेवाला, स्थिर (दृढ़) करनेवाला, रक्त और पित्तका शमन करनेवाला, क्लेदको सुखानेवाला, जीवन (आयुष्य बढ़ानेवाला), कफ और वायुको बढ़ाने और प्रकुपित करनेवाला, गुरु और बलकारक है[२]।

स्निग्ध वीर्यके कर्म—

स्निग्ध वीर्य (वाला द्रव्य) स्नेहन, संतर्पण, वाजीकर और वयःस्थापन है[३]।

रूक्ष वीर्यके कर्म—

रूक्ष वीर्य (वाला द्रव्य) संग्रहण, पीडन (व्रणपीडन), विरूक्षण (रूक्षता उत्पन्न करनेवाला), व्रणरोपण तथा वायुकी वृद्धि और प्रकोप करनेवाला है[४]।

मृदु वीर्यके कर्म—

मृदु वीर्य (वाला द्रव्य) रक्त और मांसका प्रसादन करनेवाला, तथा स्पर्शमें सुख उत्पादन करनेवाला है[५]।

तीक्ष्ण वीर्यके कर्म—

तीक्ष्ण वीर्य (वाला द्रव्य) संग्रहण, आचूषण (चूसना—आकर्षण करना), अवदारण (शोथादिका फाड़ना—फोड़ना) और मुख—नासादिका स्राव करानेवाला है[६]।

---

१ "कर्माण्युष्णस्य दहन-पाचन-मूर्च्छन-स्वेदन-वमन-विरेचनानि।" (सु. सू. अ. ४१)। "तत्रोष्णं दहन-पचन-स्वेदन-विलयनानिल-कफशमनानि करोति।" (अ. सं. सू. अ. १७)। "तत्रोष्णं भ्रम-तृड्-ग्लानि-स्वेद-दाहाशुपाकिताः। शमं च वात-कफयोः करोति।" (अ. हृ. सू. अ. ९)। "उष्णं कफ-वातहरं पित्तकरं लघ्ववृष्यं च।" (द्रव्यगुणसंग्रह श्लो. ८)। २ "(कर्माणि) शीतस्य प्रह्लादनाविष्यन्दन-स्थिरीकरण-प्रसादन-क्लेदन-जीवनानि।" (सु. सू. अ. ४१)। "शीतं प्रह्लादन-स्तम्भन-जीवन-रक्तपित्तप्रसादनादीनि।" (अ. सं. सू. अ. १७)। "शिशिरं पुनः। ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रशमं रक्तपित्तयोः।" (अ. हृ. सू. अ. ९)। "शीतं कफ-मारुतकृद्गुरु पित्तनाशनं बल्यम्।" (द्रव्यगुणसंग्रह श्लो. ८)। ३ "(कर्माणि) स्निग्धस्य स्नेहन-बृंहण-संतर्पण-वाजीकरण-वयःस्थापनानि।" (सु. सू. अ. ४१)। ४ "(कर्माणि) रूक्षस्य अनिलवृद्धि-संग्रहण-पीडन-विरूक्षणोपरोपणानि।" (सु. सू. अ. ४१)। ५ "(कर्माणि) मृदो रक्तमांसप्रसादन-सुस्पर्शनानि।" (सु. सू. अ. ४१)। ६ "(कर्माणि) तीक्ष्णस्य संग्रहाचूषणावदारण-स्रावणानि।" (सु. सू. अ. ४१)।

विशद वीर्यके कर्म—

विशद वीर्य (वाला द्रव्य) क्लेद (गीलापन) को चूसने–सुखानेवाला, रूक्षता उत्पन्न करनेवाला, व्रणका रोपण करनेवाला और कफका नाश करनेवाला है[१] ।

पिच्छिल वीर्यके कर्म—

पिच्छिल वीर्य (वाला द्रव्य) चिकनाहट लानेवाला, पूरण, बृंहण, संश्लेषण (जोड़नेवाला), वाजीकर और पित्तका नाश करनेवाला है[२]

वक्तव्य—ऊपर हमने स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु और तीक्ष्णवीर्यके कर्म सुश्रुतकी चक्रपाणिदत्तलिखित **भानुमती** व्याख्याके अनुसार लिखे हैं। डल्हणकी व्याख्यामें यह पाठ नहीं मिलता । **डल्हण** और **चक्रपाणिदत्त** दोनोंने सुश्रुतमतानुसार **उष्ण, शीत, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु** और **तीक्ष्ण** ये आठ प्रकारके वीर्य माने हैं । उनका मत है कि–सुश्रुतने **गुरु** और **लघु** ये दो विपाक माने हैं, इसलिये सुश्रुतके मतसे ये दो वीर्य नहीं हो सकते, अतः सुश्रुतने **गुरु** और **लघुके** स्थानमें **विशद** और **पिच्छिल** दो वीर्य माने हैं। **कविराज हाराणचन्द्रजीने विशद** और **पिच्छिल** इन दोनोंके स्थानमें **गुरु** और **लघु** ये दो वीर्य लिखे हैं । वे लिखते हैं कि, चरक–वाग्भट आदि आयुर्वेदके किसी ग्रन्थमें **विशद** और **पिच्छिलको** वीर्य नहीं लिखा है[३] तथा सुश्रुतने भी इस प्रकरणके अन्तिम तीन श्लोकोंमें **गुरु और लघुको** ही वीर्य लिखा है[३] ।

वीर्योंमें भूताधिक्यका निरूपण—

वीर्यसंज्ञावाले जो शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, तीक्ष्ण, पिच्छिल और विशद ये आठ गुण हैं उनमें तीक्ष्ण और उष्ण ये दो अग्निमहाभूतके गुणोंकी अधिकतावाले हैं; शीत और पिच्छिल ये दो जल महाभूतके गुणोंकी अधिकतावाले हैं; स्निग्ध पृथिवी और जल महाभूतके गुणोंकी अधिकतावाला है; मृदु जल और आकाश महाभूतके गुणोंकी अधिकतावाला है; रूक्ष वायु महाभूतके गुणोंकी अधिकतावाला है; तथा विशद पृथिवी और वायु महाभूतके गुणोंकी अधिकतावाला है । उष्ण और स्निग्ध ये दो वीर्य वातघ्न हैं; शीत–मृदु और पिच्छिल ये तीन वीर्य पित्तघ्न हैं; तथा तीक्ष्ण, रूक्ष और विशद ये तीन वीर्य कफघ्न हैं[४] ।

वक्तव्य—ऊपर हमने वीर्योंमें जो महाभूतोंकी अधिकता दिखलाई है वह **डल्हण** और **चक्रपाणिदत्तकी** व्याख्यानुसार है। **कविराज हाराणचन्द्रजीने** यह पाठ कुछ

---

१ "(कर्माणि) विशदस्य क्लेदाच्चूषण-विरूक्षणोपरोपणानि ।" (सु. सू. अ. ४१)। २ "(कर्माणि) पिच्छिलस्योपलेपन-पूरण-बृंहण-संश्लेषण-वाजीकरणानि ।" (सु. सू. अ. ४१) ३ "आयुर्वेदतन्त्रेषु क्वचिदपि पिच्छिलविशदयोर्वीर्यत्वेनानुपदेशात् ।" (क. हा.)। ४ "तत्र य इमेऽष्टौ गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मृदु-तीक्ष्ण-पिच्छिल-विशदास्तेषां तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ, शीत-पिच्छिलावम्बुगुणभूयिष्ठौ, पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वं, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यं,

परिवर्तन करके लिखा है, जो टिप्पणमें दिया है। उन्होंने **विशद** और **पिच्छिलके** स्थानमें **गुरु** और **लघु** दो वीर्य माने हैं। उनके पाठानुसार समग्र प्रकरणका अर्थ इस प्रकार होता है—वीर्यसंज्ञक जो शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु और तीक्ष्ण ये आठ गुण हैं उनमें तीक्ष्ण और उष्ण आग्नेय हैं, गुरु और शीत पृथिवी और जलके गुणोंकी अधिकतावाले हैं, स्नेह जलके गुणोंकी अधिकतावाला है, मृदु जल और आकाशके गुणोंकी अधिकतावाला है, रूक्ष वायुके गुणोंकी अधिकतावाला है तथा लघु अग्नि-आकाश और वायुके गुणोंकी अधिकतावाला है। उनमें गुरु, उष्ण और तीक्ष्ण ये तीन वीर्य वातघ्न हैं, मृदु और शीत ये दो वीर्य पित्तघ्न हैं तथा लघु, तीक्ष्ण और रूक्ष ये तीन वीर्य कफघ्न हैं। उनमें शीत, उष्ण और स्निग्ध ये तीन वीर्य ह्लादन (सुख देना)-पाचन-स्तम्भन आदि कर्मोंसे, रूक्ष-गुरु और लघु ये तीन वीर्य रूक्षण-उपलेप-लेखन आदि कर्मोंसे, तीक्ष्ण दहन-पचन आदि कर्मोंसे तथा मृदु उस (तीक्ष्ण) के विरुद्ध कर्मोंसे अनुमान किया जाता है[१]।

वीर्य रस और विपाकका पराभव करके अपना कार्य करता है—

ये वीर्य अपने बल (शक्ति) रूप गुणकी उत्कृष्टतासे रसका (और विपाकका भी) पराभव करके अपना कार्य करते हैं। जैसे बृहत्पञ्चमूल रसमें कषाय और अनुरसमें तिक्त होनेसे उससे वायुका प्रकोप होना चाहिये, परन्तु वह उष्णवीर्य होनेसे वायुका शमन करता है। कषायरसयुक्त कुलथी और कटुरसयुक्त प्याज उष्णवीर्य और स्निग्ध वीर्य होनेसे वायुका शमन करते हैं। गन्नेका रस मधुर रसवाला होनेपर भी शीतवीर्य होनेसे वायुको बढ़ाता है। कटुरसयुक्त पिप्पली मृदु और शीतवीर्य होनेसे पित्तको शान्त करती है। आँवला अम्लरसयुक्त तथा सेंधा नमक लवण होनेपर भी मृदु और शीतवीर्य होनेसे पित्तको शान्त करते हैं। मकोय तिक्त रसवाली होनेपर भी उष्णवीर्य होनेसे पित्तको बढ़ाती है। मछली मधुर रसवाली होनेपर भी उष्णवीर्य होनेसे पित्तको बढ़ाती है। पकी मूली कटु रसवाली होनेपर भी स्निग्धवीर्य होनेसे कफको बढ़ाती है। कैथ अम्ल रसवाला होनेपर भी रूक्षवीर्य होनेसे कफको शान्त करता है। शहद मधुर होनेपर भी रूक्षवीर्य होनेसे कफको शान्त करता है। यहाँ दिग्दर्शनार्थ हमने थोड़ेसे उदाहरण दिये हैं। इस प्रकार अनेक कार्य वीर्यकी प्रधानतासे होते हैं। मधुर, अम्ल और लवण ये

क्षिति-समीरणगुणभूयिष्ठं वैशद्यम्। तत्र उष्ण-स्निग्धौ वातघ्नौ, शीत-मृदु-पिच्छिलाः पित्तघ्नाः, तीक्ष्ण-रूक्ष-विशदाः श्लेष्मघ्नाः।" (सु. सू. अ. ४१)।

१ "तत्र य इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-गुरु-लघु-मृदु-तीक्ष्णास्तेषां तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ, गुरु-शीतौ पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठौ, अम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वं, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यम्, अग्न्याकाशगुणभूयिष्ठं लघुत्वम्। तत्र गुरूष्ण-स्निग्धा वातघ्नाः, मृदु-शीतौ पित्तघ्नौ, लघु-तीक्ष्ण-रूक्षाः श्लेष्मघ्नाः। तेषां शीतोष्ण-स्निग्धा ह्लादन-पाचन-स्तम्भनादिना, रूक्ष-गुरु-लघवो विरूक्षणोपलेपलेखनादिना, तीक्ष्णो दहन-पचनादिना, मृदुस्तद्विपर्यासेनानुमीयते।" इति हाराणचन्द्रसंमतः पाठः।

तीन रस (रसवाले द्रव्य) वायुको शान्त करते हैं, परन्तु उनमें यदि रूक्ष, लघु और शीत वीर्य रहे हों तो वे वायुका नाश नहीं कर सकते । मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस पित्तका शमन करनेवाले हैं, परन्तु उनमें यदि तीक्ष्ण, उष्ण और लघु ये वीर्य रहे हों तो वे पित्तका शमन नहीं करते । कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस कफको शान्त करनेवाले हैं, परन्तु यदि उनमें स्निग्ध, गुरु और शीत वीर्य रहे हों तो वे कफको शान्त नहीं कर सकते । इस प्रकार वीर्य रसका पराभव करके अपना कार्य करता है[१] ।

प्रभावका लक्षण—

जिस द्रव्यमें रस, वीर्य और विपाकका सामान्य हो अर्थात् उस द्रव्यमें रहे हुए रस, विपाक और वीर्यके जो कार्य आयुर्वेदशास्त्रमें कहे हुए हैं वे समान हों (शास्त्रकथनानुसार हों), परंतु कर्ममें विशषता हो अर्थात् उसमें रहे हुए रस, वीर्य और विपाकके कर्मोंसे भिन्न ही कर्म देखनेमें आवें, तो उस विशेष (भिन्न) कर्मका कारण **प्रभाव** जानना चाहिये । जैसे–चित्रक रसमें कटु है, उसका विपाक कटु होता है और उसका वीर्य उष्ण है; चित्रकमें कटु रसका, कटु विपाकका और उष्ण वीर्यका जो कार्य शास्त्रमें कहा गया है वही देखनेमें आता है, उनसे विपरीत कोई विशेष कार्य देखनेमें नहीं आता । परंतु दन्ती चित्रकके समान रस, वीर्य और विपाकवाली अर्थात् रसमें कटु, विपाकमें कटु और उष्ण वीर्यवाली है, परन्तु उसमें इन रस, वीर्य और विपाकके कार्योंसे विशेष-भिन्न प्रकारका विरेचनरूप कर्म देखनेमें आता है; दन्तीके इस विरेचनरूप कर्मका कारण **प्रभाव** है । एक विष दूसरे विषका नाश करता है, उसका कारण उस विषमें रहा हुआ प्रभाव है । वामक और विरेचक द्रव्य जो वमन और विरेचन कराते हैं उनमें भी प्रभाव ही कारण है; क्योंकि उनके समान रस, वीर्य और विपाकवाले अन्य द्रव्य वमन या विरेचन नहीं कराते । नाना प्रकारके रत्नों तथा अन्य वनस्पति आदि द्रव्योंके धारण करनेसे जो विविध प्रकारके कर्म होते हुए देखनेमें आते हैं वे उनके प्रभावसे ही होते हैं । (च.) । मुनक्का मुलेठीके समान होनेपर भी मुलेठी विरेचन नहीं कराती और मुनक्का विरेचन कराती है; घृत दूधके समान होनेपर भी दूध दीपन नहीं है, परंतु घृत दीपन है; लहसुन कटुविपाक, कटुरस और स्निग्ध तथा गुरु वीर्यसे

---

१ "एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति। यथा तावन्महत्पञ्चमूलं कषायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्; तथा कुलत्थः कषायः, कटुकः पलाण्डुः, स्नेहभावाच्च; मधुरश्चेक्षुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात्; कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदु-शीतवीर्यत्वात्; अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च; तिक्ता काकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्; मधुरा मत्स्याश्च; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्निग्धवीर्यत्वात्; अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्; मधुरं क्षौद्रं च; तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम्। भवन्ति चात्र—ये रसा वातशमना भवन्ति यदि तेषु वै। रौक्ष्य-लाघव-शैत्यानि न ते हन्युः समीरणम् ॥ ये रसाः पित्तशमना भवन्ति यदि तेषु वै। तैक्ष्ण्यौष्ण्य-लघुताश्चैव न ते तत्कर्मकारिणः ॥ ये रसाः श्लेष्मशमना भवन्ति यदि तेषु वै। स्नेह-गौरव-शैत्यानि न ते तत्कर्मकारिणः ॥" (सु. सू. अ. ४०)।

कफ और वातका नाश करनेवाला है, परंतु उन रस, विपाक और वीर्यसे वात तथा कफको उत्पन्न नहीं करता; परस्परविरुद्ध गुणवाले वात, पित्त और कफ तीनों दोषोंका रक्तशालि नाश करता हैं, परंतु यवक उनको उत्पन्न करता है; सिरस आदि द्रव्य विषका नाश करते हैं और निद्रा आदि विषको बढ़ाते हैं; मणि, मन्त्र और ओषधियोंके धारण करनेसे नाना प्रकारके कर्म देखे जाते हैं; शल्योंका आकर्षण, पुत्र प्रजा उत्पन्न करना, राक्षसादिसे रक्षा करना, रसायनोंका आयुष्य बढ़ाना, शंखपुष्पी आदिका मेधा-बुद्धिको बढ़ाना, मन्त्रादिसे किसीको वश करना, अगदके दर्शन आदिसे विषका नाश होना, विदारी कन्द आदि द्रव्योंका शीघ्र शुक्र उत्पन्न करना, मदनफलका वमन कराना, हरीतकीका विरेचन कराना, आँवलेका तीनों दोषोंका शमन करना—ये सब कर्म प्रभावसे ही होते हैं, अतः प्रभाव अचिन्त्य है; अर्थात् रस, वीर्य और विपाकसे उसकी कल्पना नहीं की जा सकती (रस, वीर्य और विपाकसे उनका कार्यकारणभाव नहीं दिखाया जा सकता)। रस, वीर्य, गुण या विपाकसे द्रव्य जो कार्य करता है उससे भिन्न ही कार्य प्रभावसे करता है । उसका हेतु (कार्यकारणभाव) समझना कठिन है (अ. सं)[१] ।

जिन द्रव्योंकी कार्यकारिणी शक्ति युक्ति और तर्कसे सिद्ध नहीं होती तथा जो विरेचकत्व, स्तम्भकत्व, विषहरत्व आदि अपने स्वभावसे ही शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं, उन द्रव्योंका उपयोग व्यवहारकुशल वैद्य शास्त्रके आधारपर ही करे । जिन ओषधियोंका फल-कर्म प्रत्यक्ष देखा जाता है और जो स्वभाव (विरेचकत्व, विषहरत्व आदि अपने कर्म) से शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं, उन ओषधियोंकी विद्वान् वैद्य (शास्त्रविरुद्ध) तर्क और युक्तियोंसे परीक्षा न करे । क्योंकि अम्बष्ठादि गणकी ओषधियाँ हजारों तर्क और युक्तियोंसे वे विरेचन करती हैं ऐसा सिद्ध किया जाय तो भी विरेचन नहीं कर सकतीं। इसलिये बुद्धिमान् वैद्य अचिन्त्य और प्रत्यक्ष फलवाली ओषधियोंके विषयमें शास्त्रके

---

१ "रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते । विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः ॥ कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः । तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति मानवम् ॥ विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम् । ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम् ॥ मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम् । तत् प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते ॥" (च. सू. अ. २६) । "रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम् । दन्ती रसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी ॥ मधुकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम् । कटुपाकरस-स्निग्ध-गुरुत्वैः कफ-वातजित् ॥ लशुनो वात-कफकृन्न तु तैरेव यद्गुणैः ॥ मिथो विरुद्धान् वातादीन् लोहिताद्या जयन्ति यत् ॥ कुर्वन्ति यवकाद्याश्च तत् प्रभावविजृम्भितम् । शिरीषादि विषं हन्ति स्वप्नाद्यं तद्विवृद्धये ॥ मणिमन्त्रौषधीनां च यत् कर्म विविधात्मकम् । शल्याहरण-पुंजन्म-रक्षायुर्धीवशादिकम् ॥ दर्शनाद्यैरपि विषं यन्नियच्छति चागदः । विरेचयति यद्वृष्यमाशु शुक्रं करोति वा ॥ ऊर्ध्वाधोभागिकं यच्च द्रव्यं यच्छमनादि च । मात्रादि प्राप्य तत्तच्च यत् प्रपञ्चेन वर्णितम् ॥ तच्च प्रभावजं सर्वमतोऽचिन्त्यः स उच्यते । रसेन वीर्येण गुणैश्च कर्म द्रव्यं विपाकेन च यद्विदध्यात् ॥ सद्योऽन्यथा तत् कुरुते प्रभावाद्धेतोरतस्तत्र न गोचरोऽस्ति ॥" (अ. सं. सू. अ. १७) ।

वचनोंपर विश्वास रख कर उनका प्रयोग करे, युक्ति और तर्कसे उनका कार्य सिद्ध करनेका यत्न न करे ।

विचित्रद्रव्यप्रत्ययारब्ध द्रव्योंके कर्म—

जिन द्रव्योंमें द्रव्यारम्भक (द्रव्यको बनानेवाले) महाभूत और रस-वीर्य-विपाकारम्भक (रस-वीर्य-विपाकका कारणभूत) महाभूत इन दोनोंका एक ही प्रकारके उत्कर्ष और अपकर्ष (न्यूनाधिकता) से सन्निवेश (संगठन) हुआ हो, उन द्रव्योंको **समानप्रत्ययारब्ध** (समान कारणोंसे बने हुए) द्रव्य कहते हैं । जैसे-दूध; दूधमें द्रव्यारम्भक महाभूत तथा रस-वीर्य-विपाकारम्भक महाभूत दोनोंका सन्निवेश एक प्रकारका है । अतः दूधमें रस, वीर्य और विपाक एक-दूसरेके अनुकूल ही होते हैं । अतः ऐसे द्रव्योंके समग्र कर्म केवल रसोपदेशसे ही कहे या जाने जा सकते हैं । जिन द्रव्योंमें द्रव्यारम्भक महाभूत और रस-वीर्य-विपाकारम्भक महाभूत इन दोनोंका एक दूसरेसे भिन्न प्रकारके उत्कर्षापकर्षसे संनिवेश हुआ हो उनको **विचित्रप्रत्ययारब्ध** (विचित्र-विभिन्न प्रकारके कारणोंसे बने हुए) द्रव्य कहते हैं । ऐसे द्रव्योंमें उनके रस,

---

१ "अमीमांस्यान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः । आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः ॥ प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः । नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कदाचन ॥ सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत् । तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमे न तु हेतुषु ॥" (सु. सू. अ. ४०) । प्रभावके विषयमें सुश्रुतसंहिताकी व्याख्यामें अपने **वक्तव्यमें डॉ. भा. गो. घाणेकरजी** लिखते हैं कि—"आयुर्वेदमें ओषधियोंके वैद्यकीय उपयोगोंकी मीमांसा या उपपत्ति उनके पञ्चतत्त्वात्मक संगठन, रस, गुण, वीर्य और विपाककी सहायतासे की जाती है । रसादिद्वारा चिकित्सामें प्रयुक्त हुई अधिकसंख्य ओषधियोंके उपयोगोंकी कार्यकारणमीमांसा ज्ञात हो जाती है । तथापि खदिर, तुवरक, विषमणि प्रभृति कुछ द्रव्य ऐसे भी प्रयुक्त होते हैं जिनके उपयोगोंकी मीमांसा रसादिद्वारा नहीं हो सकती है । इसलिये इन ओषधियोंको 'अमीमांस्य' या 'अचिन्त्य' कहा है । अमीमांस्य या अचिन्त्यका अर्थ 'रस-वीर्य-विपाकतया अचिन्त्यं वा अमीमांस्यं वा' ऐसा है । ओषधिगत अचिन्त्य कार्यशक्तिका विवरण इन अन्तिम ३ श्लोकोंमें किया गया है । चरक और वाग्भटने द्रव्यगत इस अचिन्त्यशक्तिको ही **'प्रभाव'** कहा है । पाश्चात्य ओषधिविज्ञानमें भी ओषधियोंके वैद्यकीय उपयोगोंके संबन्धमें **मीमांस्य** और **अमीमांस्य** ऐसे दो भेद किये जाते हैं । जिनके उपयोगोंकी मीमांसा उपलब्ध वैज्ञानिक तत्त्वोंके अनुसार की जा सकती है उनको **मीमांस्य** या रेशनल (Rational) कहते हैं । जिनके उपयोगकी उपलब्धि वैज्ञानिक तत्त्वोंके अनुसार नहीं की जा सकती है अर्थात् जिनका उपयोग केवल अनुभवोंपर निर्भर होता है उनको **अमीमांस्य** या **इम्फीरिकल** (Empherical) कहते हैं । विषमज्वरके लिये कूनिन, काला आजार-निद्रारोग आदिके लिये अंजन तथा उसके योग (Antimony and its preparations), राजयक्ष्माके लिये स्वर्ण इत्यादि शर्तिया दवाइयाँ इसी अमीमांस्य वर्गकी हैं । इस अमीमांस्य वर्गको आयुर्वेदमें **प्रभाव** कहते हैं और पाश्चात्य कल्पनाके अनुसार इम्फीरिकल ॲक्शन (Empherical action) कह सकते हैं, यद्यपि प्रभावका पूरा-पूरा अर्थ इससे निदर्शित नहीं होता ।" (सु. सू. पृ. २२५) ।

वीर्य और विपाक भिन्न प्रकारके होनेसे उसके कर्म भिन्न प्रकारके होते हैं। जैसे—जौ। इस ग्रन्थमें हमने जो रस, वीर्य और विपाकके कर्म कहे हैं वे समानप्रत्ययारब्ध द्रव्यके ही जानने चाहिये। विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्योंमें उनके कर्म रस, वीर्य और विपाकसे भिन्न प्रकारके होते हैं; अतः उनके कर्म केवल रसोपदेशसे न कहकर शास्त्रकारोंने स्वतन्त्ररूपसे कहे हैं। जैसे-गेहूँ और जौ दोनों मधुर रसवाले और गुरु हैं, परंतु गेहूँ समानप्रत्ययारब्ध होनेसे अपने गुणोंके अनुकूल कर्म-वायुका शमन करता है और जौ विचित्रप्रत्ययारब्ध होनेसे अपने गुणोंसे विपरीत वायुको बढ़ाता है। मत्स्य और दूध दोनों मधुर रसवाले हैं, परन्तु दूध समानप्रत्ययारब्ध होनेसे अपने रसके अनुकूल शीतवीर्य है, अतः दूधके कर्म अपने रसके अनुसार होते हैं और मत्स्य विचित्रप्रत्ययारब्ध होनेसे अपने रसके विपरीत उष्णवीर्य हैं, अतः उसके कर्म अपने रससे भिन्न प्रकारके होते हैं। सिंह और शूकर (सूअर) दोनों मधुर और गुरु हैं, परन्तु सूअर समानप्रत्ययारब्ध होनेसे अपने रसके अनुकूल मधुर विपाकवाला है, अतः उसके कर्म अपने रस तथा विपाकके अनुसार होते हैं और सिंह विचित्रप्रत्ययारब्ध होनेसे उसका विपाक अपने रससे प्रतिकूल कटु होता है, अतः उसके कर्म रसके अनुकूल न होकर विपाकके अनुकूल होते हैं। जौ मधुर और गुरु होनेपर भी वायु करता है, घी शीतवीर्य होनेपर भी जठराग्निका दीपन करता है, वसा उष्णवीर्य होनेपर भी जठराग्निको मन्द करती है, मूँग कटुविपाक होनेपर भी पित्तका शमन करता है, उड़द मधुरविपाक होनेपर भी पित्तको बढ़ाता है, फाणित (राब-काकवी) स्निग्ध-उष्ण और गुरु होनेपर भी वायुको बढ़ाता है, दही गुरु होनेपर भी जठराग्निका दीपन करता है परंतु पारावत (परेवा-कबूतर) जठराग्निका दीपन नहीं करता, कैथ और अनार अम्ल रसवाले होनेपर भी ग्राही हैं परन्तु आँवले ग्राही नहीं हैं, धायके फूल कषाय और शीतवीर्य होनेसे ग्राही हैं परन्तु हर्ड कषाय और शीत होनेपर भी विरेचन करती है। जौ, घी, वसा, मूँग, उड़द, फाणित, दही, कैथ, अनार और हर्ड-इनके जो ऊपर अपने रस, वीर्य या विपाकसे विपरीत कर्म कहे गये हैं वे उनके द्रव्यगत प्रभावसे होते हैं (प्रभाव प्रायः **विकृतिविषमसमवेत, विचित्रप्रत्ययारब्ध** और **विजातीयान्वय**वाले द्रव्योंमें रहता है)। रस, वीर्य और विपाक प्रभावकी अपेक्षया अप्रधान हैं और प्रधानभूत प्रभाव द्रव्यमें ही रहता है अतः द्रव्य ही सबसे श्रेष्ठ है[1] (यद्यपि इन

---

१ "इति सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनां पुनश्च तत्। विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यते॥ स्वादुर्गुरुश्च गोधूमो वातजिद्वातकृद्यवः। उष्णा मत्स्याः, पयः शीतं, कटुः सिंहो न शूकरः॥" (अ. हृ. सू. अ. ९)। "यस्माद्दृष्टो यवः स्वादुर्गुरुरप्यनिलप्रदः। दीपनं शीतमप्याज्यं, वसोष्णाऽप्यग्निसादिनी॥ कटुपाकोऽपि पित्तघ्नो मुद्गो, माषस्तु पित्तलः। स्वादुपाकोऽपि, चलकृत् स्निग्धोष्णं गुरु फाणितम्॥ कुरुते दधि गुर्वेव वह्निं, पारावतं न तु। कपित्थं दाडिमं ग्राहि साम्लं, नामलकीफलम्॥ कषाया ग्राहिणी शीता धातकी, न हरीतकी। अप्रधानाः पृथक् तस्माद्रसाद्याः, संश्रितास्तु ते॥ प्रभावश्च यतो द्रव्ये, द्रव्यं श्रेष्ठमतो मतम्।" (अ. सं. सू. अ. १७)।

श्लोकोंके अन्तमें द्रव्यकी प्रधानता बताई गई है, परन्तु इन श्लोकोंमें जो कर्म बताए गए हैं वे सब प्रभावके ही उदाहरणरूप हैं और विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्योंके उदाहरणोंमें जो कर्म कहे हैं उनको भी प्रभावसे होनेवाले कर्म ही कह सकते हैं, अतः इन श्लोकोंको विचित्रप्रत्ययारब्ध कर्मोंके बाद रखा गया है)।

द्रव्योंके गुणोंका निर्णय कैसे करना चाहिये?

पञ्चमहाभूतोंमें किसीके उत्कर्ष और किसीके अपकर्षके कारण रस, वीर्य और विपाक एकरूपसे (एकसे-परस्पर अनुकूल रूपसे) या विरूपसे (भिन्नता-परस्पर प्रतिकूलतासे) द्रव्योंमें रहते हैं। जैसे-दूधमें रस, वीर्य और विपाक एकरूपसे रहते हैं; परन्तु आनूप और औदक मांसमें विरूपसे-भिन्नरूपसे रहते हैं। अतः वे द्रव्यमें परस्पर अनुकूल-सहायक रूपसे विद्यमान हैं या परस्पर प्रतिकूल रूपसे विद्यमान हैं यह जानकर द्रव्योंके गुणोंका निर्णय करना चाहिये[१]।

रस, विपाक, वीर्य और प्रभावके बलाबलका विचार—

द्रव्य कुछ कर्म-कार्य रससे करता है, जैसे-शहद अपने कषाय रससे पित्तका शमन करता है; कुछ कर्म वीर्यसे करता है, जैसे-कषाय और तिक्त रसवाला बृहत्पञ्चमूल अपने उष्ण वीर्यसे वायुका शमन करता है परन्तु पित्तका शमन नहीं करता; कुछ कर्म रस-वीर्यव्यतिरिक्त गन्ध-स्थिर आदि गुणोंसे करता है; कुछ कर्म विपाकसे करता है, जैसे-सोंठ कटु रसवाली होनेपर भी अपने मधुर विपाकसे वायुका शमन करती है; और कुछ कर्म प्रभावसे करता है, जैसे-दंती कटुरस, कटुविपाक और उष्णवीर्य होनेपर भी अपने प्रभावसे विरेचन करती है। रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव इन चारोंमें जो बलवान् होता है वह दूसरे दुर्बलका पराभव करके अपना कार्य करता है। क्योंकि जहाँ विरुद्ध गुणोंका संयोग होता है वहाँ बलवान्के द्वारा दुर्बलका पराभव होता है। परन्तु जहाँ रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव समान बलवाले होते हैं वहाँ अपने नैसर्गिक (स्वाभाविक) बलसे विपाक रसका, वीर्य रस और विपाक दोनोंका तथा प्रभाव रस, विपाक और वीर्य तीनोंका पराभव करके अपना कार्य करता है।[२]

रस, विपाक और वीर्य एक-दूसरेके कार्यमें प्रतिबन्धक नहीं होते—

जैसे सत्त्व, रज और तम ये प्रकृतिके तीन गुण जगत्की उत्पत्तिमें तथा वात,

---

१ "रसवीर्यप्रभृतयो भूतोत्कर्षापकर्षतः। एकरूपा विरूपा वा द्रव्यं समधिशेरते॥ माधुर्य-शैत्य-पैच्छिल्य-स्नेह-गौरव-मन्दताः। सहवृत्त्या स्थिताः क्षीरे नत्वानूपौदकामिषे॥" (अ. सं. सू. अ. १७)। २ "किंचिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्। द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन॥ रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति। बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्॥" (च. सू. अ. २६)। "किंचिद्रसेन कुरुते कर्म पाकेन चापरम्॥ गुणान्तरेण वीर्येण प्रभावेणैव किंचन। यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते॥ अभिभूयेतरांस्तत्तत् कारणत्वं प्रपद्यते। विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते॥ रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति। बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्॥" (अ. हृ. सू. अ. ९)।

पित्त और कफ ये तीन दोष देहकी उत्पत्तिमें या रोग उत्पन्न करनेमें एक-दूसरेके प्रतिबन्धक नहीं होते हैं वैसे ही रस, वीर्य और विपाक भी अपने कार्य करनेमें एक-दूसरेके प्रतिबन्धक नहीं होते।[1]

अपने-अपने विषयमें द्रव्य-रस-विपाक-वीर्य सब प्रधान हैं—

द्रव्य, गुण, रस, विपाक और वीर्यके प्रकरणोंमें द्रव्य आदि एक-एकको प्रधान माननेवाले आचार्योंके मतोंका निरूपण **सुश्रुत** और **रसवैशेषिकसूत्र**में किया गया है। सुश्रुतने इन मतोंका उपसंहार करते हुए अन्तमें अपने-अपने विषयमें द्रव्य आदि सब प्रधान हैं, ऐसा सिद्धान्त स्थापित किया है। वे लिखते हैं कि—इतरके प्राधान्यका खण्डन करके द्रव्य आदि एक-एकको ही प्रधान बतलाने वाले एकान्तवादियोंका मत हमने संक्षेपमें कहा है। परन्तु विद्वान्-तत्त्वार्थदर्शी लोग द्रव्य, रस, विपाक और वीर्य इन चारोंको अपने-अपने विषयमें प्रधान मानते हैं। क्योंकि सेवन किये हुए द्रव्योंमें कई द्रव्य अपनी पार्थिव-आप्य आदि पाञ्चभौतिक रचनासे, कई वीर्यसे, कई रससे, कई विपाकसे और कई द्रव्य इन चारोंमें दो, तीन या चारोंसे शरीरमें दोषादिवैषम्यरूप विकारोंका नाश करते हैं अथवा दोषादिवैषम्यरूप विकारोंको उत्पन्न करते हैं[2] (यहाँ दोषादिवैषम्यरूप विकारोंका नाश अथवा उत्पत्ति-इन दो शब्दोंमें शरीरपर होनेवाली द्रव्योंकी सब क्रियाओंका अवरोध-समावेश किया गया है, ऐसा समझना चाहिये)।

नागार्जुन इस प्रकरणके उपसंहारमें लिखते हैं कि-द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक और कर्म छहों पदार्थोंमें यह एक ही प्रधान है, अन्य अप्रधान हैं, ऐसा निर्णय करना ठीक नहीं है। क्योंकि अपने-अपने विषयोंमें सब प्रधान हैं। द्रव्य आदिको हम विभक्त (अलग) नहीं कर सकते। क्योंकि जहाँ द्रव्य होता है वहाँ रसादि शेष होते हैं और रसादि द्रव्यके विना रह भी नहीं सकते। चिकित्सामें द्रव्य आदि एक दूसरेका अनुग्रह करते हैं; जैसे—रसोंके उपयोगमें द्रव्य आधार भावसे, गुण रसोंके साहचर्यसे, वीर्य उनकी शक्तिका प्रकाशन करके, विपाक उनका परिणाम करके और कर्म उनका शरीरके साथ संयोग कराके अनुग्रह करता है। इससे एकको प्रधान और दूसरेको अप्रधान मानना युक्त नहीं है।[3]

द्रव्योंसे ही शरीरके धातुओंकी समता, क्षय और वृद्धि होती है—

औषध और आहारके लिये उपयोगमें आने वाले द्रव्य और जीवित शरीर दोनों पञ्चमहाभूतोंसे बने हुए हैं और पाञ्चभौतिक द्रव्योंमें जो गुण हैं वे ही गुण शरीरमें भी

---

१ "विरुद्धा अपि चान्योन्यं रसाद्याः कार्यसाधने। नावश्यं स्वविघाताय गुण-दोषा मिथो यथा॥" (अ. सं. सू. अ. १७)। २ "पृथक्त्वदर्शिनामेष वादिनां वादसंग्रहः। चतुर्णामपि सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः॥ तद्द्रव्यमात्मना किंचित्, किंचिद्वीर्येण सेवितम्। किंचिद्रस-विपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा॥" (सु. सू. अ. ४०)। ३ "न युक्तमवधारणमिदमेव प्रधानमिदं नेति चिकित्सायां द्रव्यादिवस्तुषु। यथाविषयं प्राधान्यं सर्वेषाम्। अनि-र्भागाच्चैतेषां, परस्परेणानुग्रहाच्च।" (र. वै. अ.१)।

हैं। अतः निर्जीव द्रव्योंके क्रमशः सम, हीन और अति योगसे उपयोग होनेसे शरीरकी (शरीरके धातुओंकी) समता, क्षय और वृद्धि होती है।[१]

नागार्जुनके मतसे कर्मका निरूपण—

नागार्जुनने द्रव्यगुणविज्ञानके प्रतिपाद्य विषयोंमें **कर्म** नामका एक छठा पदार्थ माना है। वे लिखते हैं कि—स्वस्थातुरवृत्तमें अधिकृत आरोग्य और अनारोग्यके द्रव्य, गुण रस, वीर्य, विपाक और कर्म ये छः मूल (कारण) हैं; अतः ये छहों पदार्थ द्रव्यगुणशास्त्रके प्रतिपाद्य विषय हैं। द्रव्य, गुण, रस, वीर्य और विपाक इनका लक्षण उनके प्रकरणोंमें लिखा गया है। अब कर्मका लक्षण कहा जाता है—वमन-विरेचन आदि द्रव्योंका शरीरके ऊपर जो प्रयोग किया जाता है, उसको **कर्म** कहते हैं। द्रव्य, गुण, रस, वीर्य और विपाक ये पाँचों कर्मके विषय हैं। यद्यपि विपाकका फल निष्ठा-पाकके अनन्तर ही मालूम होता है, तथापि विपाकका व्यापार भी शरीरपर प्रयोगपूर्वक ही होता है, अतः विपाकको भी कर्मका विषय माना जाता है। द्रव्यादि पदार्थोंसे कर्म प्रधान है। क्योंकि कर्मसे (शरीरपर प्रयोग करनेसे) ही द्रव्यादि पाँचों पदार्थोंका सामर्थ्य अभिव्यक्त होता है (फल पाया जाता है)। वनमें या पनसारीकी दुकानमें पड़े हुए द्रव्य शरीरपर प्रयोग किये विना कुछ भी अपना सामर्थ्य-फल नहीं दिखा सकते। अतः द्रव्य आदि पाँचों पदार्थोंसे कर्म भिन्न पदार्थ है।[२]

वक्तव्य—चरक और **सुश्रुत** द्रव्यकी शरीरपर होनेवाली वमन-विरेचन-बृंहण आदि क्रियाओंको द्रव्यका **कर्म** मानते हैं[३]। **नागार्जुन** वमन-विरेचन आदि क्रिया करनेकी शक्तिसे संपन्न चिन्त्य या अचिन्त्य द्रव्यगत अंशको **वीर्य** मानते हैं; और द्रव्यका शरीरपर जो प्रयोग करना, उसको **कर्म** मानते हैं।

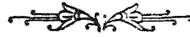
वीर्य-प्रभावविज्ञानीय पञ्चम अध्याय समाप्त ॥

वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य विरचित द्रव्यगुणविज्ञान-पूर्वार्धका छात्रोपयोगी संस्करण समाप्त।

---

१ "गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा। स्थान-वृद्धि-क्षयास्तस्माद्देहिनां द्रव्यहेतुकाः ॥" (सु. सू. अ. ४१)। "गुणा द्रव्येषु ये चोक्तास्त एव तनु-दोषयोः। स्थिति-वृद्धि-क्षयास्तस्मात्तेषां हि द्रव्यहेतुकाः ॥" (अ. सं. सू. अ. १७)। २ "द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाक-कर्माण्यनयोर्मूलम्।" (र. वै. अ. १, सू. ४)। "अनयोरिति स्वस्थातुरवृत्ताधिकृतयोः; द्रव्याणि च, रसाश्च, गुणाश्च, वीर्याणि च ऊर्ध्वभागादीनि, विपाकौ च, कर्माणि स्नेहादीनि; मूलं कारणं योनिरित्यर्थः।" (भा.)। "कर्मेतरेषां सामर्थ्यव्यञ्जनात्।" (र. वै. अ. १, सू. १५२)। "इतरेषां द्रव्यादीनां पदार्थानां, सामर्थ्यं फलं, तस्य व्यञ्जनात् प्रकाशनात्; कथं द्रव्यादीन्यप्रयुज्यमानान्यापणस्थानि वनस्थानि वा कर्म कुर्वन्ति; तत्प्रयोगः कर्मसंज्ञितः षष्ठः पदार्थः।" (भा.)। ३ "कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि।" (च. सू. अ. २६)। "वमनादीति एतच्च प्राधान्यादुच्यते। तेन बृंहणाद्यपि बोद्धव्यम्।" (च. द.)। "इहौषधकर्माण्यूर्ध्वाधोभाग × × × विषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद्भवन्ति।" (सु. सू. अ. ४०)।

द्रव्यगुणविज्ञान–पूर्वार्धका प्रथम परिशिष्ट



भूतोंके असाधारण लक्षण[1]

पृथ्वीका लक्षण	जलका लक्षण	वायुका लक्षण	तेजका लक्षण	आकाशका लक्षण
खरत्व	द्रवत्व	चलत्व	उष्णता	अप्रतिघात
(कठिनत्व-कड़ापन)	(पतलापन)	(गति)	(गरमी)	(रुकावट न होना)

भूतोंके असाधारण गुण[2]

आकाशका गुण	वायुका गुण	अग्निका गुण	जलका गुण	पृथ्वीका गुण
शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गन्ध

भूतान्तरके अनुप्रवेशसे उत्पन्न महाभूतोंके गुण[3]

आकाशका गुण	वायुके गुण	अग्निके गुण	जलके गुण	पृथ्वीके गुण
शब्द	शब्द-स्पर्श	शब्द-स्पर्श-रूप	शब्द-स्पर्श-रूप-रस	शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध

भावमिश्रके मतसे भूतोंके गुण[4]

आकाशका गुण	पृथ्वीका गुण	जलका गुण	वायुका गुण	अग्निका गुण
लघु	गुरु	स्निग्ध	रूक्ष	तीक्ष्ण

पार्थिव आदि पाञ्चभौतिक द्रव्यों (कार्यद्रव्यों) के गुण[5]

पार्थिव द्रव्य	आप्य द्रव्य	आग्नेय द्रव्य	वायव्य द्रव्य	नाभस द्रव्य
गुरु	द्रव-पतला	उष्ण	लघु-हलका	मृदु
खरस्पर्शवाला	स्निग्ध-चिकना	तीक्ष्ण	शीत	लघु

१ "खर-द्रव-चलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् । आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम् ॥" (च. शा. अ. १)। २ "शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः।" (च. शा. अ. १)। ३ "तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे ।" (च. शा. अ. १)। ४ "लघुर्गुरुस्तथा स्निग्धो रूक्षस्तीक्ष्ण इति क्रमात् । नभो-भू-वारि-वातानां वह्नेरेते गुणाः स्मृताः ॥" (भा. पू. खं.)। ५ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ३–४।

कठिन	शीत-ठण्डा	सूक्ष्म	रूक्ष-रूखा	सूक्ष्म
मन्द	मन्द-चिरकारी	लघु	खर	श्लक्ष्ण
स्थिर	मृदु-कोमल	रूक्ष	विशद	व्यवायि
विशद	पिच्छिल-लुआबदार	विशद	सूक्ष्म	विशद
सान्द्र (गाढ़ा) स्थूल	स्तिमित-गीला	खरस्पर्शवाला	व्यवायि	विविक्त-पोला
अधोगतिस्वभाव-वाला	सर-दस्तावर	ऊर्ध्वगति स्वभाववाला	विकाशि	अस्पष्ट रसवाला
गन्धकी अधिकता वाला	रसकी अधिकता वाला	रूपकी अधिकता वाला	स्पर्शकी अधिकतावाला	शब्दकी अधिकतावाला

पार्थिव आदि कार्यद्रव्योंके रस[1]

पार्थिव द्रव्य	आप्य द्रव्य	आग्नेय द्रव्य	वायव्य द्रव्य	नाभस द्रव्य
थोड़ा कषाय, प्रायः मधुर	थोड़ा कषाय, अम्ल और लवण, प्रायः मधुर	थोड़ा अम्ल, लवण, प्रायः कटु	थोड़ा तिक्त विशेषतः कषाय	अस्पष्ट रसवाला

पार्थिव आदि पाञ्चभौतिक द्रव्योंके विपाक[2]

पार्थिव द्रव्यका विपाक	आप्य द्रव्यका विपाक	आग्नेय द्रव्यका विपाक	वायव्य द्रव्यका विपाक	नाभस द्रव्यका विपाक
गुरु	गुरु	लघु	लघु	लघु

पार्थिव आदि पाञ्चभौतिक-कार्यद्रव्योंके कर्म[3]

पार्थिव द्रव्यके कर्म	आप्य द्रव्यके कर्म	आग्नेय द्रव्यके कर्म	वायव्य द्रव्यके कर्म	नाभस द्रव्यके कर्म
उपचय-पुष्टि-वृद्धि संघात-कठिनता	क्लेदन (आर्द्रता—गीलापन)	जलाना	रूक्षता लाना ग्लानि उत्पन्न करना	मृदुता उत्पन्न करना

---

१ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ३–४। २ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ८३। ३ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ३४।

गौरव-भारीपन	स्निग्धता	पकाना	मनमें अनेक प्रकारके विचार लाना	सच्छिद्रता उत्पन्न करना
स्थिरता-दृढता	बन्धन (अवयवोंको परस्पर जोड़ना)	प्रभा (कान्ति उत्पन्न करना)	विशदता	लाघव
बल उत्पन्न करना	झरना	वर्णका प्रकाश करना	हलकापन लाना	
नीचेकी ओर गति करना	मृदुता लाना	फाड़ना-फोड़ना	कृश करना	
	आह्लाद (सुख)	तपाना	शीघ्रता	

गुणसंख्या

वैशेषिक गुण	शारीर गुण	आत्मगुण	सामान्य गुण	नागार्जुनके मतसे[1] कर्मण्य गुण[2]
शब्द	गुरु	बुद्धि-ज्ञान	परत्व	शीत
स्पर्श	लघु	इच्छा	अपरत्व	उष्ण
रूप	शीत	द्वेष	युक्ति	स्निग्ध
रस	उष्ण	सुख	संख्या	रूक्ष
गन्ध	स्निग्ध	दुःख	संयोग	विशद
	रूक्ष	प्रयत्न	विभाग	पिच्छिल
	मन्द	मनोर्थ (मनके विषय)	पृथक्त्व	गुरु
	तीक्ष्ण		परिमाण	लघु
	स्थिर		संस्कार	मृदु
	सर		अभ्यास	तीक्ष्ण
	मृदु			
	कठिन			
	विशद			
	पिच्छिल			
	श्लक्ष्ण			
	खर-कर्कश			
	स्थूल			
	सूक्ष्म			
	सान्द्र			
	द्रव			

---

१ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ४२ । २ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ४३ ।

गुर्वादि गुणोंके कर्म

गुरु गुणके कर्म
- अवसाद (शिथिलता)
- उपलेप (मलोंकी वृद्धि)
- बल
- बृंहण (पुष्टि)
- वातहरण
- कफवृद्धि
- देरसे पचना

लघु गुणके कर्म
- स्फूर्ति
- मलक्षय
- बलहानि
- अपतर्पण
- कर्शन (कृशता)
- लेखन
- रोपण
- वातवृद्धि
- कफक्षय
- शीघ्र पचना

शीत गुणके कर्म
- उष्णपीड़ितको सुख देना
- स्तम्भन (स्रावको रोकना)
- मूर्च्छाका नाश करना
- प्यास बुझाना
- पसीना बंद करना
- दाहको शांत करना

उष्ण गुणके कर्म
- असुख करना
- अनुलोमन
- मूर्च्छा लाना
- तृषा उत्पन्न करना
- पसीना लाना
- जलन करना
- पकाना

स्निग्ध गुणके कर्म
- स्निग्धता लाना
- मृदुता लाना
- बल बढ़ाना
- वर्ण अच्छा करना
- वायुके प्रकोपको शान्त करना
- कफको बढ़ाना
- वाजीकरण
- गीलापन लाना

रूक्ष गुणके कर्म
- रूखापन लाना
- कठिनता उत्पन्न करना
- बलका ह्रास करना
- स्तम्भन करना
- कर्कशता लाना
- वायुको बढ़ाना
- कफका ह्रास करना

मन्द गुणके कर्म
- देरीसे कार्य करना
- शमन करना
- अल्प कार्य करना
- सर्व कार्यमें शिथिलता

तीक्ष्ण गुणके कर्म
- दाह करना
- पकाना
- स्राव करना
- पित्तको बढ़ाना
- लेखन–छीलना
- शोधन
- कफ और वातक हरण करना

स्थिर गुणके कर्म
- वायु और मलका स्तम्भन करना

सर गुणके कर्म
- वायु और मलकी प्रवृत्ति करना

मृदु गुणके कर्म
- पाकको रोकना
- दाहको शांत करना
- स्रावको रोकना
- ढीला करना

कठिन गुणके कर्म
- दृढ करना

---

१ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ४३–४९

विशद गुणके कर्म
- गीलेपनको सुखाना
- व्रणका रोपण करना
- आयुष्यका ह्रास करना
- बलका ह्रास करना
- भग्नका संधान न होने देना
- कफका नाश करना
- हलकापन लाना

पिच्छिल गुणके कर्म
- आयुष्यको टिकाना
- बलको बढ़ाना
- भग्नका सन्धान करना
- भारीपन लाना
- कफको बढ़ाना
- उपलेप करना

श्लक्ष्ण गुणके कर्म
- व्रणका रोपण करना
- जीवनको टिकाना
- भग्नका संधान करना
- कफको बढ़ाना

खरगुणके कर्म
- लेखन करना (छीलना)

सूक्ष्म गुणके कर्म
- सूक्ष्म स्रोतोंमें प्रवेश करना
- स्रोतोंको खोलना

स्थूल गुणके कर्म
- शरीरको पुष्ट करना
- स्रोतोंमें अवरोध उत्पन्न करना

सान्द्र गुणके कर्म
- शरीरको पुष्ट करना
- शरीरावयवको चिपकाना
- प्रसादन

द्रवगुणके कर्म
- क्लेद उत्पन्न करना
- व्याप्त हो जाना
- मिला देना

रसोंके लक्षण[1]

मधुर रसके लक्षण
- सारे मुखमें फैल जाना
- मुखको मधुरतासे लिप्त-सा करना
- स्निग्धता लाना
- सब इन्द्रियोंको प्रसन्न करना
- सुख उत्पन्न करना
- कोमलता लाना
- आनन्द और तृप्ति करना
- मूर्च्छितको होशमें लाना (संज्ञा प्रदान करना)
- कफको बढ़ाना
- भौंरों और चींटियोंको प्रिय लगना

अम्लरसके लक्षण
- दन्तहर्ष
- मुँहमें लालास्राव करना
- पसीना लाना
- मुँहको शुद्ध करना
- मुख-अन्ननली और कण्ठमें जलन करना
- खानेपर रुचि उत्पन्न करना
- नेत्रके भौंहोंका संकोच करना
- रोमांच करना
- क्लेद उत्पन्न करना
- मनको प्रिय लगना

लवण रसके लक्षण
- खातेही मुँहमें घुल जाना
- गीलापन लाना
- लालास्राव करना
- कोमलता लाना
- मुँहमें जलन करना
- खानेपर रुचि उत्पन्न करना
- कफका स्राव करना
- कण्ठ और कपोलमें जलन करना

---

१ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ६१-६२।

कटु रसके लक्षण

जीभमें उद्वेग करना
जीभमें सूई चुभने-सी वेदना करना
जलनके साथ मुख-नासिका और नेत्रमें स्राव करना
सिरमें पीड़ा उत्पन्न करना
कण्ठ और कपोलमें चिम-चिमाहट करना
खाने पर रुचि उत्पन्न करना

तिक्त रसके लक्षण

जीभ पर रखते ही जीभकी अन्य रसोंके ग्रहण करनेकी शक्ति नष्ट करना
जीभको अप्रिय लगना
मुखमें स्वच्छता लाना
मुखको सुखाना
अरुचिको नष्ट करना
गलेमें खींचने-सी वेदना करना
रोमहर्ष
मुँहमें ठण्डापन लाना
गलेको सुखाना

कषाय रसके रक्षण

जिह्वामें विशदता, स्तब्धता और जड़ता लाना
कण्ठको जकड़ना
मुँहको सुखाना
हृदयमें खींचनेसी पीड़ा करना
मुखकी लालाको गाढ़ा करना
मुँहमें भारीपन लाना

रसोंके कर्म[1]

मधुर रसके कर्म

रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र और ओजको बढ़ाना
जीवनको टिकाना और बढ़ाना
इन्द्रियोंको प्रसन्न करना
बल बढ़ाना
शरीरकी कान्तिको अच्छा करना
पित्त-विष और वायुका नाश करना
तृषा और दाहका शमन करना
त्वचा–केश और कण्ठको अच्छा करना
शरीरका पोषण करना
मूर्च्छाको दूर करना
तृप्ति करना

अम्ल रसके कर्म

अन्न पर रुचि उत्पन्न करना
जठराग्निको प्रदीप्त करना
शरीरको पुष्ट करना
मनको उत्तेजित करना
इन्द्रियोंको दृढ करना
बलको बढ़ाना
रुके हुए वायुका अनुलोमन करना
हृदय(मन)को तृप्त करना
मुखमें लालास्राव उत्पन्न करना
खाए हुए अन्नको नीचे ले जाना
खाये हुए अन्नको गलाना

लवण रसके कर्म

अन्नका पाचन करना
अन्नको गलाना
जठराग्निको प्रदीप्त करना
अवयवोंको अपने स्थानसे च्युत करना
छेदन करना
व्रण शोथका भेदन करना
अनुलोमन करना
द्रव करके बहाना
वायुका हरण करना
स्तब्धताको दूर करना

---

१ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ६३–७० ।

शरीरको पुष्ट और दृढ़ करना
उरःक्षत और भग्न
अस्थिका सन्धान करना
घ्राणेन्द्रिय-मुख-कण्ठ-
जिह्वा और ओष्ठको
आनन्द देना
दाहको शान्त करना
मूर्च्छाको दूर करना
स्तन्य (दूध)को बढ़ाना
दर्शनशक्तिको बढ़ाना
रस और रक्तको शुद्ध करना
बालक-वृद्ध और क्षतक्षीण-
को लाभ पहुँचाना
कृमि और कफ उत्पन्न करना
सब धातुओंको बल देना

अन्नका पाचन करना
व्रणशोथको पकाना
वायुका निर्हरण करना
पेटमें विदाह करना
क्लेदन (गीलापन) करना
रक्त-कफ और पित्तको बढ़ाना
इन्द्रियोंको उत्तेजित करना
तृप्ति करना

स्रोतोंके अवरोधको
दूर करना
कठिनताको दूर
करना
अन्य रसोंके
स्वादको छिपाना
मुखमें लालास्राव
उत्पन्न करना
कफको पिघलाना
स्रोतोंका शोधन करना
अवयवोंको मृदु करना
अन्न पर रुचि उत्पन्न
करना
संशोधन करना
अवयवोंको पृथक्
करना
शिथिलता लाना
शोषण करना
स्निग्धता उत्पन्न करना
पसीना लाना
मांसादिका छेदन करना
वातादिका अनुलोमन
करना

कटु रसके कर्म

मुखको साफ करना
जठराग्निको प्रदीप्त करना
शोषण करना
नासिका और नेत्रसे
स्राव कराना
इन्द्रियोंको उत्तेजित करना
अलसक(अजीर्णभेद)को
दूर करना
शोथको मिटाना

तिक्त रसके कर्म

अरुचिका नाश करना
विषका नाश करना
कृमियोंका नाश करना
मूर्च्छाको दूर करना
दाहको शान्त करना
खाजको मिटाना
प्यासको नष्ट करना
त्वचा और मांसको दृढ़ करना
ज्वरका नाश करना

कषाय रसके कर्म

संशमन करना
मलको बाँधना
सन्धिको जोड़ना
व्रणका पीडन करना
व्रणका रोपण करना
क्लेदको सुखाना
स्तम्भन करना
कफ-रक्त और
पित्तका शमन करना

मांसादिकी वृद्धिका नाश करना
पित्तको दूर करना
अभिष्यन्दको दूर करना
स्वेद आनेको रोकना
गीलापनको दूर करना
मलोंका नाश करना
रुचि उत्पन्न करना
कण्डूको दूर करना
व्रणमें उभरे हुए मांसको बैठाना
कृमियोंका नाश करना
लेखन
रक्तके जमावको तोड़ना
स्रोतोंको खोलना
संन्धियोंके बन्धोंको तोड़ना
स्थूलता, आलस्य, कफ, विष और कुष्ठको दूर करना
मुख तथा गलेके रोगोंको दूर करना

जठराग्निको प्रदीप्त करना
अन्नका पाचन करना
स्तन्य(दूध)को शुद्ध करना
लेखन करना
क्लेद-मेद-वसा-मज्जा-लसीका-पूय-स्वेद-मूत्र-मल-पित्त और कफको सुखाना
ददोड़ेका नाश करना
कण्ठको शुद्ध करना
बुद्धिको बढ़ाना
मिचलीको दूर करना

त्वचाको स्वाभाविक वर्णमें लाना
रक्तका शोधन करना
मेदको कम करना
आम दोषके पाकको रोकना

रसोंके अति सेवनसे होनेवाले विकार[1]

मधुर रसके अतिसेवनसे होनेवाले विकार

शरीर स्थूल हो जाना
शरीर अधिक मृदु हो जाना
आलस्य
अतिनिद्रा

अम्ल रसके अतिसेवनसे होनेवाले विकार

दन्तहर्ष
तृषा
आँख मिंची-सी रहना
रोमहर्ष-रोमाञ्च

लवण रसके अतिसेवनसे होनेवाले विकार

पित्तप्रकोप
रक्तप्रकोप
तृषा
मूर्च्छा

---

१ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ६३–७०।

मधुर रसके अति सेवनसे होनेवाले विकार

- भारीपन
- अन्नपर अरुचि होना
- जठराग्नि मन्द होना
- मुख और कण्ठमें मांसकी वृद्धि होना
- श्वास
- खाँसी
- प्रतिश्याय-जुकाम
- अलसक (आमाजीर्णविशेष)
- शीतज्वर
- आनाह (कब्जियत)
- मुखका मीठापन
- वमन
- संज्ञानाश
- स्वरभङ्ग (आवाज बैठना)
- गलगण्ड
- गण्डमाला
- श्लीपद
- गलेकी सूजन
- मूत्राशय-धमनी और गलेमें मलकी वृद्धि
- प्रमेह
- नेत्रके रोग
- कफके रोग
- कृमि
- अर्बुद
- गुदामें चिकनाहट
- पित्ती (ददोड़े निकलना)
- सिरका दर्द
- उदररोग

अम्ल रसके अति सेवनसे होनेवाले विकार

- कफका पिघलना
- पित्तप्रकोप
- रक्तविकार
- मांसका पकना
- शरीरशैथिल्य
- क्षीण-क्षत-कृश और दुर्बल पुरुषोंमें सूजन होना
- क्षतमें पूयकी उत्पत्ति
- चोट लगे हुए अंगमें ,, ,,
- सविष प्राणीके दंशमें ,, ,,
- जले हुए स्थानमें ,, ,,
- अस्थिभग्नमें ,, ,,
- सविष प्राणिके पेसाब किये हुए स्थानमें ,, ,,
- सविष प्राणीके स्पर्श किये हुए स्थानमें ,, ,,
- जोरसे मसले हुए स्थानमें ,, ,,
- कटे हुए स्थानमें ,, ,,
- फटे हुए स्थानमें ,, ,,
- अस्थि संधिके अलग होनेमें ,, ,,
- विंधे हुए स्थानमें ,, ,,
- कुचले गये अंगमें ,, ,,
- कण्ठ और छातीमें जलन
- खाज
- पाण्डुरोग
- दृष्टिकी मन्दता
- क्षतविसर्प
- रक्तपित्त

लवण रसके अति सेवनसे होनेवाले विकार

- ताप
- अंगोंमें चीरे पड़ना
- मांसकी शिथिलता
- कुष्ठमें गलाव
- विषकी वृद्धि
- शोथका फटना
- दाँतोंका गिरना
- पुंस्त्वनाश (नपुंसकता)
- इन्द्रियोंके कार्यमें अशक्ति
- त्वचामें झुर्री पड़ना
- बाल पकना (सफेद होना)
- गंजापन
- रक्तपित्त
- अम्लपित्त
- विसर्प
- विचर्चिका
- बाल झड़ना
- खाज
- ददोड़े-पित्ती
- शोथ
- शरीरका वर्ण बिगड़ना
- इन्द्रियोंका उपताप
- मुखपाक
- नेत्रपाक
- अन्नका विदाह

बार-बार थूकना	चक्कर आना	आक्षेपक
मेदोवृद्धि	फोड़े-फुन्सी निकलना	घावका बढ़ना
संन्यास	ज्वर	नशेका बढ़ना
		बलक्षय
		ओजःक्षय
		कुष्ठ (त्वचाके रोग)

कटु रसके अति सेवनसे होनेवाले विकार	तिक्त रसके अति सेवनसे होनेवाले विकार	कषाय रसके अति सेवनसे होनेवाले विकार
पुरुषत्वका नाश	रस रक्त-मांस-मेद-मज्जा और शुक्रका सूखना	मुखशोष
मोह-मूर्च्छा	स्रोतोंकी कठिनता	हृदयकी पीड़ा
ग्लानि-शिथिलता	बलक्षय	पेटका अफारा
अवसाद	कृशता	वाक्संग-बोल न सकना
कृशता	ग्लानि-शिथिलता	स्रोतोंका अवरोध
मूर्च्छा	मूर्च्छा	वर्णकी श्यामता
शरीरका झुकना	चक्कर आना	नपुंसकता
आँखोंके सामने अंधेरा लगना	मुखशोष	पचन समयमें पेटमें गुड़गुड़ाहट
चक्कर आना	शरीरका जकड़ना	वात-मूत्र-मल और वीर्यका अवरोध
कण्ठमें जलन	मन्यास्तम्भ	कृशता
शरीरमें ताप-जलन	आक्षेप	ग्लानि
बलक्षय	अर्दित	तृषा
तृषा	सिरदर्द	स्तब्धता
कम्प	सूई चुभने-सी वेदना	पक्षाघात
सुई चुभने-सी वेदना	फटने या कटने-सी वेदना	अपतानक
हाथ-पाँव-पार्श्व-पृष्ठ आदिमें वातवेदना	मुखवैरस्य (बेस्वादपन)	मन्यास्तम्भ
गले, तालु और ओठका सूखना	परुषता	अंगोंका फड़कना
वमन	खरता	चुमचुमाहट
		सँकोच

शुक्रक्षय	आक्षेप
हाथ-पाँव-पार्श्व और पीठमें संकोच तथा फटने-सी वेदना	

रसोंके साथ रहनेवाले वीर्यसंज्ञक गुण[1]

मधुर रसके साथ रहनेवाले वीर्य	अम्ल रसके साथ रहनेवाले वीर्य	लवणके साथ रहनेवाले वीर्य	कटुके साथ रहनेवाले वीर्य	तिक्तके साथ रहनेवाले वीर्य	कषायके साथ रहनेवाले वीर्य
शीत	लघु	कुछ गुरु	लघु	रूक्ष	रूक्ष
स्निग्ध	स्निग्ध	स्निग्ध	उष्ण	शीत	शीत
गुरु	उष्ण	उष्ण	रूक्ष	लघु	गुरु
मृदु		तीक्ष्ण	तीक्ष्ण		

दोषहर रस[2]

वातहर रस	पित्तहर रस	कफहर रस
मधुर	कषाय	कषाय
अम्ल	मधुर	कटु
लवण	तिक्त	तिक्त

दोषजनक रस[3]

वातको उत्पन्न करनेवाले रस	पित्तको उत्पन्न करनेवाले रस	कफको उत्पन्न करनेवाले रस
कटु	कटु	मधुर
तिक्त	अम्ल	अम्ल
कषाय	लवण	लवण

---

१ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ६३–७० । २ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ७३–७५ । ३ देखें इसी ग्रन्थमें पृ ७३–७५ ।

रसोंके विपाक[1]

मधुरका विपाक	अम्लका विपाक	लवणका विपाक	कटुका विपाक	तिक्तका विपाक	कषायका विपाक
मधुर(च.)	अम्ल(च.)	मधुर(च.)	कटु(च.)	कटु(च.)	कटु(च.)
गुरु(सु.)	लघु(सु.)	गुरु(सु.)	लघु(सु.)	लघु(सु.)	लघु(सु.)

चरकके मतसे विपाकके कर्म[2]

कटु विपाकके कर्म	अम्ल विपाकके कर्म	मधुर विपाकके कर्म
शुक्रका क्षय करना	शुक्रका क्षय करना	मल-मूत्र साफ लाना
मल-मूत्रको कम करना	मल-मूत्र साफ लाना	कफकी उत्पत्ति करना
वातकी वृद्धि-प्रकोप करना	पित्तकी वृद्धि-प्रकोप करना	वीर्य-शुक्रको बढ़ाना
लाघव लाना	लाघव लाना	गौरव लाना

सुश्रुतके मतसे विपाकके कर्म[3]

गुरु विपाकके कर्म	लघु विपाकके कर्म
वात और पित्तको नष्ट करना	मल मूत्रका अवरोध (कब्ज) करना
कफ उत्पन्न करना-बढ़ाना	वातको उत्पन्न करना-बढ़ाना
मल-मूत्र साफ लाना	कफका नाश करना

वीर्योंके कर्म[4]

उष्णवीर्यके कर्म	शीतवीर्यके कर्म	स्निग्धवीर्यके कर्म	रूक्षवीर्यके कर्म
जलन करना	आह्लाद उत्पन्न करना	स्नेहन	वातवर्धन

१ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ८१। २ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ८२। ३ "गुरुपाको वात-पित्तघ्नः। लघुपाकः श्लेष्मघ्नः। गुरुपाकः सृष्टविण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च, लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च।" (सु. सू. अ. ४१)। ४ देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ९१–९२।

- पकाना
- मूर्च्छा लाना
- स्वेदन (पसीना लाना)
- वमन
- विरेचन
- पिघलाना
- वात-कफका नाश करना
- पित्तको बढ़ाना
- हलकापन लाना
- शुक्रका क्षय करना
- चक्कर लाना
- तृषा उत्पन्न करना
- ग्लानि (शिथिलता) उत्पन्न करना

- स्थिर-दृढ करना
- आर्द्रता उत्पन्न करना
- वाजीकरण
- आयुष्य बढ़ना
- स्तम्भन
- रक्त और पित्तका शमन करना
- वात और कफको बढ़ाना
- भारीपन लाना
- बल बढ़ाना

- बृंहण
- तृप्ति करना
- व्रणपीडन
- जवानीको स्थिर रखना

- संग्रहण (मल-मूत्रादिको रोकना)
- रूक्षता लाना
- व्रणका रोपण करना

विशदवीर्यके कर्म

- क्लेदको सुखाना
- रूक्षता लाना
- व्रणका रोपण करना

पिच्छिलवीर्यके कर्म

- चिकनाहट उत्पन्न करना
- पूरण (रिक्त स्थानको भर देना)
- बृंहण
- जोड़ना
- वाजीकरण

मृदुवीर्यके कर्म

- रक्त और मांसका प्रसादन
- कोमलता लाना

तीक्ष्णवीर्यके कर्म

- सुखाना
- फाड़ना-फोड़ना
- स्राव कराना

गुरुवीर्यके कर्म

- वातको नष्ट करना
- उपलेपन

लघुवीर्यके कर्म

- कफको नष्ट करना
- लेखन (शरीरको कृश करना)

रसोंके गुणोंका तारतम्य-न्यून-मध्याधिक भाव[1]

सौम्य-शीत रसोंमें

मधुर–उत्तम
कषाय–मध्यम
तिक्त–अवर (न्यून)

आग्नेय-उष्ण रसोंमें

लवण–उत्तम
अम्ल–मध्यम
कटु–अवर

गुरु रसोंमें

मधुर–उत्तम
कषाय–मध्यम (च.)
अम्ल–मध्यम (सु.)
लवण–अवर

लघु रसोंमें

तिक्त–उत्तम (च.)
कषाय–उत्तम (सु.)
कटु–मध्यम
अम्ल–अवर

रूक्ष रसोंमें

कषाय–उत्तम
कटु–मध्यम
तिक्त अवर

स्निग्ध रसोंमें

मधुर–उत्तम
अम्ल–मध्यम
लवण–अवर



---

१ "रौक्ष्यात् कषायो रूक्षाणामुत्तमो मध्यमः कटुः । तिक्तोऽवरस्तथोष्णानामुष्णत्वाल्लवणः परः ॥ मध्योऽम्लः कटुकश्चान्त्यः, स्निग्धानां मधुरः परः । मध्योऽम्लो लवणश्चान्त्यो रसः स्नेहान्निरुच्यते ॥ मध्योत्कृष्टावराः शैत्यात् कषाय-स्वादु-तिक्तकाः । स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः ॥ अम्लात् कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमो मतः । केचिल्लघूनामवरमिच्छन्ति लवणं रसम् ॥ गौरवे लाघवे चैवं सोऽवरस्तूभयोरपि ।" (च. सू. अ. २६) ।

परिशिष्ट २

आयुर्वैदिक तथा आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान पर तुलनात्मक विचार

लेखक

स्व. वा. डॉ. बालकृष्ण अमरजी पाठक,

एम. बी. बी. एस.

प्रिन्सिपल आयुर्वेदिक कालेज, बनारस-हिन्दुयुनिवर्सिटी

आज, जब कि आयुर्वेदके उपासकों पर विपक्षियोंकी ओरसे यह आक्षेप करनेमें आता है कि–आयुर्वेदमें द्रव्योंका उपयोग उनके शास्त्रीय ज्ञानके विना ही किया जाता है, 'द्रव्यगुणविज्ञानम्' जैसे ग्रन्थका प्रकाशन स्वागतार्ह है । बहुत थोड़े मनुष्य यह जानते हैं कि आयुर्वेदाचार्योंने भी द्रव्योंके गुण-दोषोंके संबन्धमें अनेक विचार किये हैं, इतना ही नहीं किन्तु इन विचारोंको उन्होंने एक सिद्धान्त (Theory) द्वारा एक-सूत्रमें आबद्ध भी कर लिया है, तथा जैसे आयुर्वेदका रोगविज्ञान त्रिदोषवाद पर आश्रित है वैसे ही उसका चिकित्साविज्ञान (Therapeutics) भी द्रव्यगुण-विज्ञान पर आश्रित है ।

इस पूर्वार्धमें किया गया निरूपण लोकभोग्य नहीं, किंतु विद्वद्भोग्य है; कारण, एक साधारण चिकित्सकको द्रव्योंके गुण दोषोंकी जानकारीसे ही संतोष हो जाता है । उसे यह जाननेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती कि, यह जानकारी किन प्रमाणों पर अवलम्बित है ।

जो लोग आयुर्वेदको जादू-टोनेकी नवीन आवृत्ति मानते हैं अथवा जिनका यह पूर्वग्रह (Prejudice) है कि इस देशके वैद्यकीय वाङ्मयमें वैज्ञानिक विचारोंका अभाव है, उन्हें तो मुझे कुछ कहना ही नहीं है । परन्तु जो अवलोकनके आधारपर[1] सत्यासत्यकी परीक्षा किया चाहते हैं, उनके लिए इस ग्रन्थमें संगृहीत जानकारी अमूल्य है । आयुर्वेदके उपासकोंको इस ग्रन्थमें, मधुमक्षिकाओंद्वारा विभिन्न पुष्पोंमेंसे सुगन्धि द्रव्य संचित करके बनाये हुए मधुके सदृश, आयुर्वेदिक वाङ्मयके विभिन्न ग्रन्थोंमेंसे एकत्र करके संकलित की गयी सरस सामग्री उपलब्ध होगी, ऐसा मेरा मत है ।

---

1 Therefore, medical science should always be ready to investigate claims that can be confirmed or disproved by observation irrespective of the question as to the possibility of the truth of the theory which led to their discovery. Applied Pharmacology, by Clark.

जैसे वर्तमान वैद्यकीय ज्ञानका पदार्थविज्ञान (Physics), रसायनशास्त्र (Chemistry), जीवविद्या (Biology), मानसशास्त्र (Psychology) आदि विज्ञानकी शाखाओंके साथ गाढ़ संबन्ध है, उसी प्रकार आयुर्वेदका उस कालके दर्शनोंके साथ गाढ़ संबन्ध था। सांख्य, वैशेषिक, योग तथा न्यायशास्त्रके साथ आयुर्वेदका संबन्ध आयुर्वेदके अभ्यासियोंको सुविदित है[1]।

आयुर्वेदार्योंने संयमधन तपस्वियोंके गम्भीर चिन्तनोंके परिणामस्वरूप उत्पन्न दार्शनिक मन्तव्योंको चिकित्साके व्यावहारिक क्षेत्र (Practical field) में नियोजित करके, अपनी वैज्ञानिक दृष्टिका उपयोग किया है। इस ग्रन्थके अध्याय इस बातके साक्षी हैं।

साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन आचार्य अन्य वैद्यकीय शास्त्रोंके प्रति भी उदार दृष्टि रखते थे[2]। जैसे व्यवहारमें संकुचित दृष्टि दैन्यमनोग्रन्थि- (Inferiority Complex) का लक्षण है, वैसे ही विज्ञानके क्षेत्रमें संकुचित दृष्टिवाले मनुष्य अपना मानसिक दौर्बल्य प्रकट करते हैं। यह कथन विज्ञानके अन्य क्षेत्रोंकी अपेक्षया वैद्यकीय क्षेत्रमें अधिक सत्य है। कारण, रोगनिवारण (Cure) तथा रोगप्रतिबन्ध(Prevention)के सतत प्रयास होते हुए भी एक भी चिकित्सापद्धतिको इस कार्यमें संपूर्ण सिद्धि नहीं मिली है। यही देख कर तो इस देशमें तथा पश्चिममें साहित्यकारोंने समय-समयपर अपनी प्रतिभाका उपयोग वैद्यों या डॉक्टरोंके धन्धेका उपहास करनेमें किया है[3]।

वाचकोंको आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानका यत्किंचित् परिचय कराने तथा पूर्व और पश्चिमकी विचारधारायें कहाँ-कहाँ मिलती हैं और कहाँ-कहाँ पृथक् होती हैं यह बतानेके उद्देशसे ही यह परिशिष्ट लिखा गया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इसमें प्रकट किये गये विचारोंकी जवाबदारी मेरी है। जिनको विशेष जिज्ञासा हो उन्हें तो प्राचीन तथा अर्वाचीन आकर ग्रन्थ ही देखने चाहिए।

---

१ देखिये—**'आयुर्वेद अने दर्शनो'** इस नामका **श्रीदुर्गाशङ्कर केवलराम शास्त्रीका** गुजराती निबन्ध, तथा **पं. श्रीनारायणदत्त त्रिपाठीकृत 'आयुर्वेददर्शन'** नामक ग्रन्थ। २ देखिये—"विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके, तत्र यन्मन्येत ······· तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्"; तथा—"न चैव ह्यस्ति सुतरमायुर्वेदस्य पारं, तस्मादप्रमत्तः शश्वद-भियोगमस्मिन् गच्छेत् ······ परेभ्योऽप्यागमयितव्यम्। कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।" आदि उपदेशवचन (चरक० वि० अ० ८)। ३ संस्कृतमें भाण-प्रहसन आदि रूपकोंमें अन्य अधम कक्षाके पात्रोंके साथ एकाध मूढ़ वैद्यको भी खड़ा किया पाया जाता है। अंग्रेजी वाङ्मयमें भी प्रख्यात सिद्धहस्त लेखक बर्नार्ड शॉने Doctors' Dilemma (डॉक्टर्स् डाइलेमा) नामके नाटकमें चिकित्साशास्त्रके व्यापारी अर्थात् डॉक्टरोंपर कटाक्षरूप शरवर्षा करनेमें कमी नहीं की है।

पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञानका इतिहास—

पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञान (Pharmacology) अबतक विचित्र परिस्थितियोंमेंसे गुजरा है। इसका लोकप्रिय नाम **मॅटीरिया मेडिका** (Materia Medica) है। आजकल लगभग इसी अर्थमें **फार्मेकॉलॉजी** (Pharmacology) शब्द व्यवहृत होता है। वैज्ञानिक पद्धतिसे जिन द्रव्योंका गुण-धर्म समझमें आवे उन्हीका उपयोग करना यह इस शास्त्रका आग्रह है। प्राचीन ग्रीक तथा रोमन संस्कृतियोंकी इसपर छाया है । हीपोक्रेटिस, गेलन आदि प्राचीन चिकित्सकोंके लेखोंका इसपर प्रभाव है। ये प्राचीन पाश्चात्य चिकित्सक भारतके कितने अंशमें ऋणी हैं यह बात ऐतिहासिकोंको सुविदित है[१]। सत्रहवीं शताब्दी तकके इतिहासकी परीक्षा की जाय तो तुलनामें, इस देशमें हुई द्रव्यगुणविज्ञानकी प्रगति बहुत संतोषकारक प्रतीत होगी। यूरोपमें लगभग सोलहवीं शताब्दी तक परम्परागत मन्तव्यों किंवा रूढियोंका अनुसरण करने एवं लब्धप्रतिष्ठ वैद्योंका अनुकरण करनेकी परिपाटी प्रचलित थी, किन्तु अमुक औषध अमुक रोगकी चिकित्सामें क्यों देना, वह औषध किस प्रकार कार्य करता है, इस बातका सप्रमाण विचार (Logical thought) नहीं किया जाता था।

इस स्थितिका मुख्य कारण शरीरव्यापारशास्त्र (Physiology) तथा संप्राप्ति-विज्ञान (Pathology) के ज्ञानका अभाव था। उस कालमें विज्ञानकी इन दोनों शाखाओंका संतोषप्रद विकास नहीं हुआ था। अतः द्रव्यगुणविज्ञान केवल अनुभव तथा शब्दप्रमाणपर आश्रित था। परन्तु जबतक शरीरके विभिन्न अवयवोंके व्यापार न विदित हों तबतक उनकी विकृतियाँ समझमें नहीं आ सकतीं, यह बात दीपकके समान स्पष्ट है[२]।

इस विचित्र परिस्थितिके परिणाम भी विचित्र थे। विषमज्वर (Malaria) की चिकित्सा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। सत्रहवीं शताब्दीमें अमेरिकासे लौटे हुए यात्रियोंने बताया कि सिंकोनाकी छाल (Cinchona bark) मॅलेरियाके लिए अमोघ औषध है। उन्नीसवीं शताब्दीमें भारतसे निवृत्त हुए एक डॉक्टरने कहा कि विषमज्वरके लिए कैलोमेल (Calomel) एक अव्यर्थ औषध है । जानकर वाचकोंको विस्मय होगा कि ई. सन् १८४७ तक कंपनी सरकारके राज्यमें कलकत्ताकी हॉस्पिटलमें विषमज्वरकी चिकित्सामें कैलोमलका छूटसे उपयोग होता था। परिणामकी कल्पना की जा सकती है!! अन्ततः कीनाईनका अविष्कार हुआ और अनेकोंका विरोध होते हुए भी उसका उपयोग दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

---

१ देखिये **'काश्यपसंहिता'** का उपोद्धात पृ. १९१। २ देखिये **चक्रपाणिके** मननीय शब्द—'तत्र ग्रहणीरोगनिर्दिष्टाग्निदोषे वक्तव्ये **प्रकृतिज्ञानानन्तरीयत्वाद् विकृतिज्ञानस्य** प्रथमं तावदविकृतस्याग्ने रूपमाह' (च. चि. अ. १५)।

औषध चिकित्साशास्त्रका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, परन्तु औषध देनेमें ही चिकित्साकी संपूर्णता नहीं है । अन्य विषयों पर भी लक्ष्य देना आवश्यक होता है[1] । शारीरशास्त्र तथा संप्राप्तिविज्ञान (Pathology) के घोर अज्ञानके वातावरणमें ऐसा चिकित्साशास्त्र रचनेके प्रयास शुरू हुए जिसका स्वरूप निश्चित हो तथा जो प्रत्यक्ष, अनुमान, अनुभव तथा युक्तिकी भित्तिपर खड़ा (Rational System of Therapeutics) हो । इसके परिणामस्वरूप १९ वीं सदीमें यूरोपमें जो परिस्थिति उत्पन्न हुई उसका इतिहास बड़ा मनोरञ्जक है ।

अठारहवीं शताब्दीसे आजकल **ॲलॉपॅथी** (Allopathy) के नामसे प्रसिद्ध चिकित्सापद्धतिका प्रचार बढ़ा । आजकल डॉक्टर लोग इस नामसे चिढ़ते हैं । कारण, इसमें जो दोष विद्यमान थे वे प्रकाशमें आ गये हैं । ॲलॉपथीका मुख्य ध्येय रोगके लक्षणोंको बने वैसे दवा देना था । जैसे, ज्वर आया तो दो स्वेदल (Diaphoratic) औषध, अतिसार हुआ तो दो ग्राही (Astringent) औषध इत्यादि । और इस ध्येयकी पूर्तिके लिए जौंक, सिरावेध, वमन, विरेचन प्रभृतिका पुष्कल व्यवहार होता था । केवल फ्रांसमें १८२७ ई. में तीन करोड़ बीस लाख जौंकोंका उपयोग हुआ था । प्रवाहिका (Dysentery) तथा विषमज्वरकी चिकित्सामें कॅलोमेलकी बीस ग्रेन जितनी बड़ी मात्रा दी जाती थी । फल यह होता था कि प्रायः केसोंमें रोगी सर्वथा अशक्त और निःसंज्ञ होकर परम-धामको सिधार जाता था । आज भी डॉक्टरोंमें कितनेक इस परंपराको चालू रखे हुए हैं ।

इस लक्षणप्रत्यनीकचिकित्सापद्धति (Symptomatic treatment) के सामने **हॉमियोपॅथीने** सिर उठाया । उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें ही **हेन्मेन** (Hahnemenn) ने प्रतिपादन किया कि **औषधोंकी परीक्षा प्रथम स्वस्थ पुरुषोंपर होनी चाहिए और पीछे उनका प्रयोग रोगियोंपर होना चाहिए।** यह विचार उत्तम था और है । परन्तु उसने दो अन्य सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये जो विवादास्पद हैं—(१) स्वस्थ पुरुषको अमुक औषध देनेसे जो चिह्न दृष्टिगोचर हों उन्हीं चिह्नोंवाला रोग उस औषधके देनेसे मिट जाता है[2] । (२) औषधको क्रमशः घोटते-घोटते उसकी मात्राका प्रमाण अल्पतर वा अल्पतम बनानेसे उसकी रोगनिवारणशक्ति क्रमशः अधिकतर वा अधिकतम हो जाती है[3] । ये दोनों सिद्धान्त ॲलॉपॅथीके सिद्धान्तसे भिन्न हैं और इतने अंशमें हॉमियोपॅथीका द्रव्यगुणविज्ञान

---

१ देखिये भगवान् चरकके शब्द—'इह खलु व्याधीनां XXX अनन्तरं दोष-भेषज-देश-काल-वल शरीराहार-सार-सात्म्य-सत्व-प्रकृति-वयसां मानम्' (च. वि. अ. १) ।

२ Like cures like.

३ The actions of drugs are potentiated by dilution.

भिन्न मार्गका अनुसरण करता है। जब हॉमियोपॅथीकी दवाओंसे भी रोगी अच्छे होने लगे तब लोगोंको ख्याल आया कि द्रव्यगुणविज्ञानके सिद्धान्तोंमें भी मतभेदको स्थान है, एवं अॅलॉपॅथीमें भी कुछ दोष हैं। अस्तु।

हॉमियोपॅथीके उपासकोंने औषधद्रव्योंकी इतनी अल्पतम मात्रा देनी शुरू की कि साधारण मनुष्योंको वह हास्यास्पद लगने लगी। परंतु उस कालमें हॉमियोपॅथी अॅलॉपॅथीकी अपेक्षा कम हानि करती थी। कारण, अत्यन्त अल्प मात्रामें औषध देकर हॉमियोपॅथी शरीरकी स्वाभाविक संरक्षणशक्तिको रोगका सामना करनेका अवसर देती थी। उधर उस कालकी अॅलॉपॅथिक पद्धति रोगके लक्षणोंको एकदम दबानेका प्रयास करके, रोग रोगीको मारे उसके पूर्व ही उसे यमसदनको पहुँचा देती थी!

तथापि, आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्साशास्त्र (Modern Therapeutics) उपर्युक्त दोनों चिकित्सापद्धतियोंका ऋणी है। अॅलॉपॅथीमें व्यवहृत होनेवाले कितनेक द्रव्य आज व्यवहारमें आते हैं, जब कि हॉमियोपॅथीद्वारा इसे शरीरकी अद्भुत संरक्षणशक्तिका ज्ञान हुआ है। रोगका आक्रमण होनेके पश्चात् शरीर स्वतः स्वाभाविक रीतिसे रोगमुक्त होनेका यत्न करता है, अतः उसे इस प्रयासमें जितनी सहायता दी जा सके, उतनी ही चिकित्साशास्त्रकी सफलता है[1]।

हॉमियोपॅथीके युगमें साथमें जीवनरसायनशास्त्र(Biochemistry) का भी प्रादुर्भाव हुआ। शरीरमें अमुक-अमुक द्रव्योंकी कमीके कारण रोग होते हैं और ये द्रव्य प्रदान करनेसे रोग निर्मूल हो जाता है, इस मतपर यह आश्रित है। इसका औषधसंग्रह स्वल्प है। सहस्रों व्याधियोंका बहुत थोड़े द्रव्योंकी सहायतासे प्रतिकार करनेकी यह चेष्टा कर रहा है। यह अॅलॉपॅथीकी अपेक्षया हॉमियॉपॅथीके अधिक निकट है।

इसके अनन्तर जानो औषधोंसे उद्विग्न रोगियोंको आश्वासन देनेको अस्थ्युपचार-शास्त्र(Osteopathy)का आगमन हुआ। अस्थियोंके स्थानभ्रंश (Dislocation) किंवा आघातके कारण रोग उत्पन्न होते हैं और अस्थियोंका उपचार करनेसे शान्त हो जाते हैं, यह माननेवाले चिकित्सकोंका भी एक पंथ खड़ा हुआ, जो आज भी विलायतमें खानगी रूपमें अपना धंधा चला रहा है।

इसके बाद इन सब पद्धतियोंको एक ओर रखकर केवल प्राकृतिक उपायोंका अवलम्बन करनेवाली **निसर्गोपचारपद्धति** (Naturopathy)का जन्म हुआ।

---

१ यह स्थापना अॅलॉपॅथीसे स्पष्टतः विपरीत है। लक्षणोंको दबानेसे रोग नष्ट नहीं होता। उसका कारण दूर करनेसे ही रोगका नाश होता है। रोगको नष्ट करनेके लिए संपूर्ण शरीर यत्न करता है, यह इसका स्वभाव है।

प्रकृतिके नियमोंका पालन करनेसे–सादा आहार अथवा उसमें योग्य परिवर्तन, लङ्घन, बस्ति, संवाहन, सूर्यस्नान आदि प्राकृतिक उपायोंसे ही रोग मिट जाते हैं, तथा चिकित्सापद्धतिमें औषधको स्थान नहीं है, यह इस शास्त्रका मन्तव्य है ।

परन्तु ये सब पद्धतियाँ शारीरिक उपचारोंकी ओर ध्यान देती थीं । इन सबसे विरुद्धगामिनी एक नवीन चिकित्सापद्धति अस्तित्वमें आई, जिसे **मानसोपचार-पद्धति** (Psychotherapy) कहा जाता है । कितनेक मानसिक रोगोंसे पीडित रोगियोंके लिए यह पद्धति वररूप सिद्ध हुई । आज वह अनेक रोगोंके शान्त करनेका दावा कर रही है । अल्पकालमें इसके तुल्यरूप एक अन्य उपचारपद्धतिका भी आविष्कार हुआ, जिसे **प्रार्थनोपचारपद्धति** (Christian Science—Faith healing) कहते हैं । रोगोंको मिटानेके लिए मनको दृढ बनाना, आस्थासहित ईश्वरप्रार्थना करना, ईश्वरपर श्रद्धा रखना, इत्यादि इसके उपदेश हैं । यह पद्धति भी अभी चालू है ।

यहाँ समस्त चिकित्साशास्त्रोंकी नामावली नहीं दी है, किंतु मनुष्यजातिने अपनेको रोगके आक्रमणसे बचानेके लिए कैसे-कैसे उद्यम किये हैं इसका संक्षिप्त दिग्दर्शनमात्र कराया है । किसीको भी चढानेका या किसीको उतारनेका मेरा इरादा नहीं है । कारण, सत्य एक है, परंतु सत्यके रूप अनेक हैं; जैसे–विराट् पुरुष एक होते हुए भी उसके हजार सिर, हजार आँख और हजार पैर हैं[1] ।

चिकित्साके प्रदेशमें इस प्रकार नाना मत होनेसे सब कोई परस्परके दोष देखने तथा एक पक्ष लेकर विवाद करनेमें मग्न हैं । परंतु इस प्रकारके विवादके परिणामरूपमें कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं होता, न सत्यकी ही उपलब्धि होती है । विवादप्रिय जनोंको मैं भगवान् **पुनर्वसु**के शब्द[2] तथा आजसे हजारों वर्ष पूर्व उच्चरित **ईशोपनिषद्**के पवित्र शब्दोंकी[3] याद दिलाता हूँ ।

बीसवीं सदीके प्रारंभसे एक नवीन चिकित्सापद्धतिका आविर्भाव हुआ जो अपनेको वैज्ञानिक चिकित्सापद्धति कहलाती है । सामान्य जन तो इसे ॲलॉपॅथीका नवीन संस्करण ही समझते हैं, यद्यपि इस नवीन चिकित्सापद्धतिने उन्नीसवीं शतीकी

---

१ देखिये **पुरुषसूक्त**, "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।" इत्यादि ।
२ "तथर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसुः । मैवं वोचत तत्त्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात् ॥ वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव । पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद्गतौ ॥ मुक्त्वैवं वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् । नाविधूततमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥" (च. सू. अ. २६)। ३ "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥" (ई. उ. १६)।

ॲलॉपॅथीके कितने ही मन्तव्योंको तिलाञ्जलि दे दी है । आजकल इस पद्धतिका प्रचार सबसे अधिक है ।

विभिन्न चिकित्साशास्त्रोंके विवादके परिणामरूप जो अनवस्था उत्पन्न हुई है उससे उद्धार पानेके लिए वैज्ञानिक चिकित्सापद्धतिने नवीन मार्ग स्वीकार किया है और वह है प्रत्येक औषधके गुण-धर्म दीर्घ अवलोकन तथा प्रयोग करनेके पश्चात् निर्णय करनेका । चिकित्साके अन्य अङ्गोंमें भी यह पद्धति अन्य चिकित्सापद्धतियोंकी ऋणी है । स्वस्थ तथा रुग्ण प्राणियों एवं पुरुषोंपर परीक्षण करनेके पश्चात् ही औषधको चिकित्सार्थ स्वीकार करना–इस नियमका इसने दृढतापूर्वक पालन करना शुरू किया है । वाचकोंको यह न समझना चाहिए कि यह मार्ग सुगम है । कारण, प्राणियोंपर किये हुए परीक्षण सदा ही मार्गदर्शक सिद्ध नहीं होते । प्रत्येक प्राणीमें रोगका प्रतिकार करनेकी शक्ति भिन्न-भिन्न प्रमाणमें होती है, एवं एक ही औषधद्रव्यकी क्रिया भिन्न-भिन्न प्राणियोंपर भिन्न-भिन्न होती है । इस कारण प्राणियोंपर किये हुए प्रयोगोंके परिणाम अक्षरशः मनुष्योंपर घटित नहीं हो सकते, यह मर्यादा स्वीकारनी पड़ी है । यही स्थिति मनुष्योंपर किये गये परीक्षणोंकी भी जाननी चाहिए । परन्तु सब मिलकर इस प्रयोगात्मक पद्धतिने अबतक हानिकी अपेक्षा लाभ ही अधिक प्रमाणमें किया है ।

यह चिकित्सापद्धति अस्तित्वमें आनेके अन्य भी कई ऐतिहासिक कारण हैं । गत सौ वर्षोंमें विज्ञानकी प्रगति अति वेगवती हो गयी है । इसकी विभिन्न शाखाओंने इतने अधिक नवीन मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं कि अबसे पूर्वकी चिकित्सापद्धतियोंद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंके चौखटेमें इनका समावेश नहीं हो सका । परिणामतया इस पद्धतिका जन्म हुआ । यह किसी एक प्रजा या देशकी नहीं है । यह संसारके विभिन्न देशोंमें कार्य करनेवाले विज्ञानके विविध क्षेत्रोंमें संचरण करनेवाले शोधकोंके सामान्य विचार प्रस्तुत करती है । यह बात साधारण वाचककी समझमें न आयगी, इस कारण इस दृष्टिबिन्दुकी व्याख्या करनेवाली कुछ बातोंका उल्लेख करता हूँ । आशा रखता हूँ कि भगवान् पुनर्वसुके शब्द ध्यानमें रखते हुए वाचक निष्पक्ष होकर अनुमान कर लेंगे ।

(१) **शरीरव्यापारशास्त्र** (Physiology) ने बतलाया कि मनुष्य-शरीरमें, सामान्य दशामें, दो प्रकार की सत्ता चल रही है । मस्तिष्क तथा ज्ञानतन्तुओंके हाथमें (Nervous Control) जितनी सत्ता है उतनी ही सत्ता शरीरमें संचार करते तथा प्रतिदिन तैयार होते रासायनिक पदार्थों (Chemical Control) के हाथमें है । इनमें भी कतिपय नलिकाहीन ग्रन्थियों (Ductless Glands) द्वारा निर्मित अन्तःस्रावोंके नामसे प्रसिद्ध (Hormones) द्रव्य विशेष करके उल्लेखनीय हैं । इन पदार्थोंकी क्रिया केवल शारीरिक व्यापारोंपर नहीं किंतु मानसिक व्यापारोंपर भी होती है । अन्य शब्दोंमें कहें तो शरीरमें नाड़ीतन्त्र (Nervous

System) के साथ रहकर कार्य करता हुआ एक अन्य भी रासायनिक तन्त्र विद्यमान है, जो उसके व्यापारोंके नियमनमें भाग लेता है । प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंने वातादि दोषोंका मन किंवा मानसिक व्यापारोंके साथ संबन्ध प्रतिपादित किया है, यह बात तुलनात्मक दृष्टिसे महत्त्वकी है[1] ।

(२) **विकृतिविज्ञान** अथवा **संप्राप्तिशास्त्र** (Pathology) की देन इससे भी अधिक महत्त्वकी है । गत शताब्दीमें **आशुमृतकपरीक्षा** (Post-mortem examination) द्वारा रोगोंके कारण शरीरमें उत्पन्न हुए परिवर्तनोंका अवलोकन किया जाता था । परन्तु पीछेसे विदित हुआ कि मृत्यु होते ही शरीरके प्रत्येक कोष (Cell) में इतने अधिक परिवर्तन प्रारम्भ हो जाते हैं कि यह निर्णय करना दुष्कर होता है कि रोगजन्य परिवर्तन कौनसे हैं तथा मृत्युजन्य परिवर्तन कौनसे हैं ? । अतः जीवित शरीरमें होनेवाले विकृतिजन्य विकारोंका अवलोकन करना अधिक लाभप्रद है । इस उद्देश्यसे नवीन यन्त्रों और नवीन पद्धतियोंका अन्वेषण होने लगा । इस शास्त्रकी एक शाखाके रूपमें **जन्तुशास्त्र** (Bacteriology) भी खूब पल्लवित हुआ । इसकी गवेषणाओंसे सिद्ध हुआ कि इन जन्तुओंमेंसे कितनेककी प्रवृत्तियोंके परिणामरूप मनुष्यों, प्राणियों एवं वनस्पतियोंमें व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । तथा, इन रोगोत्पादक जन्तुओंसे शरीरका रक्षण किया जाय तो इनसे उत्पन्न होनेवाले व्याधियोंके आक्रमणसे बचा जा सकता है । इन विचारोंके फलस्वरूप अनेक निज समझे जानेवाले रोग आगन्तुक समझे जाने लगे । क्षय, विषमज्वर, विसूचिका, श्लीपद, स्नायुक, महाकुष्ठ आदि इसके उदाहरण हैं । प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंको इस दिशाकी झांकी हुई थी, परंतु संप्रति जैसे स्पष्ट विचार प्रचरित हैं वैसे उस कालमें न थे । जन्तुशास्त्रकी गवेषणाएँ कायचिकित्सकोंसे अधिक शल्यविदों (Surgeons) को उपयोगी हुई हैं । कारण, जन्तुओंकी छूतके कारण होनेवाले उत्पात शान्त हो गये तथा व्रणशोथ, विसर्प, विद्रधि (Abscess), अश्मरी और अन्त्रवृद्धिका भय दूर हो गया । प्लेग, कॉलेरा, चेचक सरीखे छुतहे (संक्रामक) रोगोंका आतङ्क भी

---

१ नाड़ीतन्त्रके व्यापारोंमें प्राचीनोक्त वायुका समावेश होता है, जब कि रासायनिक तन्त्रके व्यापारोंमें प्राचीनोंके पित्त और कफका समावेश होता है । शरीरके प्रत्येक कोषमें इन दोनों तन्त्रोंकी क्रियाएँ दृष्टिगत होती हैं । प्राचीनोंकी परिभाषामें, प्रत्येक कोषमें याने प्रत्येक अतीन्द्रिय और अति सूक्ष्म शरीरावयवमें वात, पित्त तथा कफकी क्रियाएँ दीख पड़ती हैं (देखिये—"शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेन अपरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्याद‌तीन्द्रियत्वाच्च" (च. शा. अ. ७) । वायुके व्यापार याने ज्ञानतन्तुओंके व्यापार, तथा पित्त और कफके व्यापार अर्थात् कोषोंमें प्रवर्तमान भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तन-इन दोनों तन्त्रोंमें नाड़ीतन्त्रका अधिक महत्त्व माना जाता है । प्राचीन आचार्य भी यही मानते होंगे-यह 'पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः' इस प्रसिद्ध पद्यसे विदित होता है ।

अब कम होता जाता है। इन गवेषणाओंका प्रभाव चिकित्साशास्त्रपर भी हुआ है। कण्ठरोहिणी (Diphtheria), धनुर्वात (Tetanus) आदि रोगोंकी चिकित्सामें विषनाशक किंवा जन्तुनाशक रक्तजलों (Antitoxic or Antibacterial Sera) का पुष्कल उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार जन्तुओंमेंसे बनाई गयी लसीकाओं (Vaccines)का भी उपयोग होता है। इस चिकित्साके अनेक मूलभूत सिद्धान्तोंमें कई दोष भी जाननेमें आये हैं। जन्तुशास्त्रकी शोधोंके कारण उत्साहाविष्ट लोगोंने रोगोत्पादनमें जन्तुओंको उचितसे अधिक महत्त्व दे दिया और इनका संहार करनेसे ही संपूर्ण संक्रामक रोग निर्मूल हो जायँगे यह मान लिया। इसके पीछे विदित हुआ कि चेतन शरीरमें रोगोंका प्रतीकार करनेकी शक्ति (Immunity) स्वभावसे ही रहती है और यदि यह शक्ति टिकाये रखनेका प्रयत्न किया जाय तो जन्तुओंसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है। बीज और क्षेत्रमें किसकी देखभाल अधिक करनी चाहिये—यह पुरातन प्रश्न है। वैज्ञानिक जगत् एक वार पुनः मानने लगा है कि क्षेत्रकी देखभाल अधिक महत्त्वकी है।[1]

जन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे, उनके संपूर्ण जीवनव्यापार सूक्ष्मदर्शक यन्त्र-(Microscope)की सहायतासे भी नहीं देखे जा सकते। परंतु अब यह त्रुटि भी दूर हो गयी है। हाल हीमें आविष्कृत वैद्युत सूक्ष्मदर्शक यन्त्र-(Electron Microscope)की सहायतासे अब यह सूक्ष्मतम वस्तु भी दर्शनसुलभ हो गयी है। कारण, यह यन्त्र सूक्ष्म वस्तुको एक लाखगुणी बड़ी करके दिखाता है। इस यन्त्रद्वारा जन्तुओंके विष (Toxin) तथा उसके प्रतिविष (Antitoxin) के मध्य शरीरमें होनेवाले व्यापार प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं। आशय यह कि पहलेके अनुमानगोचर व्यापार अब प्रत्यक्षगोचर किये जा सकते है, एवं इतने अंशमें चिकित्साशास्त्रकी नींव अधिक दृढ हो गयी है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंने शरीरको-क्षेत्रको-अधिक महत्त्व देकर जन्तुओंको गौण स्थान दिया था-इस मतका जो कि आज समर्थन होता है, परतु जान्तव सृष्टिकी विस्तृत जानकारी आधुनिक वाङ्मय अतिविशाल प्रमाणमें प्रस्तुत करता है। उनका एक अन्य सिद्धान्त भी आज स्वीकृत हुआ है और वह है रोग और मनुष्यकी प्रकृतिके बीचका संबन्ध। प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृति समान नहीं होती। अमुक प्रकृतिवालेको अमुक रोग होनेकी संभावना विशेषतः होती है। यह नियम शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकारके रोगोंकी उत्पत्तिपर समान रूपसे लागू होता है। रोगका आक्रमण होनेपर शरीरका एक भाग नहीं किंतु समग्र शरीर रुग्ण होता है और इस रोगके सामने सारा शरीर युद्ध करता है। अत एव चिकित्साविधिमें मनुष्यके केवल विकृत या विकृत होते हुए शारीरिक भागकी नहीं परंतु एक व्यक्ति(Personality)की चिकित्सा करना

१ देखिये, Osler's Principles And Practice of medicine, P. 190.

उचित होता है। व्यक्तिसे पुरुषकी शारीरिक तथा मानसिक उभयविध बलसंपत्तिका ग्रहण है। आयुर्वेदका प्रत्येक अभ्यासी इन सिद्धान्तोंमें प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंकी ही पुनःस्थापना समझे तो कोई विस्मयकी बात नहीं[1]।

(६) रसायनविज्ञानने चेतन शरीरके प्रत्येक पदार्थका रासायनिक दृष्टिसे अन्वेषण (विश्लेषण) किया और प्रतिपादन किया कि जिन मूल तत्त्वों(Elements)से यह स्थूल संसार बना है उन्हीसे यह चेतन शरीर भी बना है। परंतु चेतन शरीरमें जो कितनेक नवीन यौगिक पदार्थ दिखाई पड़ते हैं उन्हें प्रयोगशालामें कृत्रिम रीतिसे भी बनाया जा सकता है और जीवित शरीरको प्रदान किया जा सकता है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंकी परिभाषामें कहना हो तो जिन पञ्चमहाभूतोंसे यह विश्व बना है उन्हीसे यह मानवदेह बना है और इसमें विद्यमान पदार्थोंके तुल्य पदार्थ बाहरसे देनेसे उनकी कमी पूर्ण की जा सकती है।[2]

आहारकी रासायनिक दृष्टिसे मीमांसा होनेपर आहारशास्त्र (Dietetics) अस्तित्वमें आया। शरीरको अपेक्षित खाद्य पदार्थों तथा उनमें विद्यमान प्रजीवनक द्रव्योंकी गवेषणा महत्त्वपूर्ण है। अनुभवके आधारपर उपयोगी सिद्ध हुए आहारविषयक सिद्धान्तोंको इस प्रकार रसायनशास्त्रसे पुष्टि मिली है, इतना ही नहीं किन्तु इन प्रजीवनक द्रव्योंमेंसे कई एक वनस्पतियोंको हाथ लगाये विना कृत्रिम प्रकारसे प्रयोगशालामें निर्मित होकर चिकित्साशास्त्रकी सेवामें उपस्थित हो गये हैं। अब आहार तथा रोगोंका संबन्ध अधिक प्रमाणमें समझमें आता जाता है, और बड़े हॉस्पिटलोंमें आहारशास्त्रीकी नियुक्ति आवश्यक मानी जाती है।

प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंने औषधद्रव्यों और आहारद्रव्योंका विचार एक ही साथ किया है। आज तो सुज्ञ या अज्ञ भी रोगी वैद्यसे मिलते ही पथ्यकी—क्या खाना

---

1 A human being does not exist as rarefied mind united with a solid body. He is an organism all of whose subsidiary functions contribute to this highest function—his mind which brings him not only consciousness, but also an integrated behaviour in relation t0 his surroundings. A Text Book Of The Practice Of Medicine, By Price. P. 1805.

२ उदाहरणतया नलिकाहीन ग्रन्थियोंके स्राव (Hormones) तथा प्रजीवनक द्रव्यों- (Vitamins)में से कई एक प्रयोगशालामें बनाकर शरीरको प्रदान करनेसे शारीरिक स्वास्थ्य पुनः प्राप्त किया जा सकता है। देखिये इस विषयके प्रतिपादक भगवान् चरकके शब्द—"एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिर्विपर्ययाद् ह्रासः॥" (च. शा. अ. ६)। तथा—"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥" (च. सू. अ. १)।

और क्या न खाना इस विषयकी प्रश्नावली उपस्थित करता है। उधर, नव्य या वैज्ञानिक चिकित्साशास्त्र जन्तुओंका आमूल विनाश करनेकी कोरी कल्पना छोड़कर मानवदेहको समुचित आहारद्वारा, योग्य प्रजीवनक द्रव्योंके सेवनद्वारा अधिक शक्तिसंपन्न बनाकर संक्रामक रोगोंसे टक्कर लेनेका विचार कर रहा है[१]।

परन्तु रसायनविद्याने अधिक मूल्यवान् भाग तो चिकित्साके क्षेत्रमें प्रदान किया हैं। संमोहन (Anæsthetics) तथा जन्तुनाशक (Antiseptics) द्रव्योंके आविष्कारने शल्यविद्या तथा चिकित्साशास्त्रको सहायता दी है। शरीरका एक भी अवयव अब शल्यविदोंके लिए दुष्प्राप या दुर्भेद्य नहीं रहा है। मस्तिष्क और हृदय पर भी शल्यशास्त्र अपना प्रभाव बढ़ाता जा रहा है। अब तो कायचिकित्सामें भी रसायनशास्त्री मुख्य भाग लेने लग गये हैं–और वह है प्रयोगशालामें निर्मित रासायनिक द्रव्योंद्वारा जन्तुजन्य व्याधियोंके नाश करनेका कार्य (इस विषयका अधिक विवेचन आगे आयगा)। धातुओं (Metals) का उपयोग पश्चिममें बहुत देरसे शुरू हुआ। ये धातुएँ अब अर्धद्रव स्वरूपमें (Colloidal state) चिकित्सामें प्रयुक्त होने लगी हैं।

वैज्ञानिक चिकित्सापद्धतिकी धारा ऐसे छोटे-छोटे स्रोतोंके मिलनेसे बनी है। इस कारण इसमें कुछ वैविध्य भी आया है। परन्तु विस्मयजनक बात यह है कि इस पद्धतिके सिद्धान्त आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धतिसे अधिकसे अधिक प्रमाणमें सैद्धान्तिक दृष्टिसे मिलते हैं। इसी कारण कई लोग कहते हैं कि आधुनिक चिकित्सापद्धति, इतिहासका विचार करें तो आयुर्वेदिक पद्धतिका पुनरवतार है। यह स्थापना अत्यन्त विवादास्पद है। इसका निर्णय मैं विद्वान् तथा मननशील वाचकोंपर छोड़ता हूँ।

द्रव्य तथा उनके गुण-धर्म—

अभ्यासकी सरलताके लिए द्रव्यों (Substances) के तीन भेद किये गये हैं—**औषधद्रव्य** (Drugs), **आहारद्रव्य** (Food) तथा **विषद्रव्य** (Poisons)। विज्ञानकी इन तीनों द्रव्यसमूहोंका वर्णन करनेवाली शाखाएँ क्रमशः **फार्मेकॉलॉजी** (Pharmacology—old term—Materia Medica

---

१ Preventive medicine hitherto has concerned itself chiefly with the prevention of the spread of organisms, but now it appears probable that much may be done by correct dieting to raise the resistance of populations.—रोगनिरोधक चिकित्साका प्रधान अङ्ग अबतक जन्तुओंके प्रसारको रोकना रहा है। परन्तु अब यह संभव प्रतीत होता है कि उचित आहारद्वारा जनताकी रोगनिवारणशक्तिको उत्कृष्ट बनाकर भी बहुत इष्टसिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

प्राचीन संज्ञा–मैटिरिया मेडिका), **डायाटेटिक्स** (Dietetics) तथा **टॉक्सिकॉलॉजी** (Toxicology) नामसे प्रख्यात हैं। परन्तु कितनेक द्रव्य ऐसे हैं जिन्हें औषध कहा जाय या विष, इसका निर्णय दुष्कर होता है। सो वाचकोंको ये तीन विभाग सापेक्ष (Relative) समझने चाहिये। जैसे मधु, मद्य, द्राक्षा, दूध आदि द्रव्य आहारद्रव्यों एवं औषधद्रव्योंके अन्तर्गत हैं। यही कठिनाई औषध और विषद्रव्योंका भेद करनेमें उपस्थित होती है। कारण, कई औषध मात्रा और कालका विवेक न करके दिये जानेपर रोगीमें विषके लक्षण उत्पन्न करते हैं। उधर, कई एक विष युक्तियुक्त सेवनसे अल्प मात्रामें औषधरूप सिद्ध हुए हैं[१]। जैसे पारदके योग, जमालगोटा, एरण्ड आदि अविवेकसे दिये जानेपर हानि करते हैं जब कि अफीम, धतूरा या सर्पविष युक्तिपूर्वक प्रयोगसे अमूल्य औषधरूप होते हैं[२]।

परन्तु इस ग्रन्थका मुख्य विषय औषधद्रव्य होनेसे हम इन्हीकी मीमांसा करेंगे। आयुर्वेदाचार्योंने द्रव्यका संघटन पाञ्चभौतिक माना है तथा गुण और कर्म द्रव्याश्रित माने हैं। अब इस संबन्धमें आधुनिक विज्ञानवादियोंका मत देखते हैं। इनके मतानुसार द्रव्योंका संघटन **विद्युच्छक्तिमय** (Electrical) है। यह दृश्य जगत् ९२ मूल तत्त्वों(Elements)का बना हुआ है. प्रत्येक मूलतत्त्वका संघटन तथा गुण–धर्म भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु ये मूलतत्त्व भी अणुओं (Molecules) तथा परमाणुओं (Atoms) की लीलामात्र हैं। आशय यह है कि परमाणु मिलकर अणु बनते हैं और अणु मिलकर मूलतत्त्व बनते हैं। एवं ९२ मूलतत्त्वोंके विविध संयोगोंके परिणामस्वरूप अनेक यौगिक पदार्थ (Compound Substances) प्रादुर्भूत होते हैं। अन्य शब्दोंमें कहें तो यह विश्व परमाणुओंका बना है। पदार्थोंका संघटन परमाणुमय है यह मन्तव्य अति प्राचीन है। प्राचीन वैशेषिकों तथा ग्रीक तत्त्ववेत्ताओंका भी यही अभिप्राय था। परन्तु आधुनिक परमाणुवाद इन प्राचीन मतोंसे भिन्न है। परमाणु भी विभाज्य घटक है–उसकी परीक्षा करनेसे उसमें **प्रॉटोन, इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन** आदि **विद्युद्ग्राही** कण रहे हुए मालूम पड़ते हैं। इससे अधिक

१ तुलनार्थं देखिये—"योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्। भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम्॥" (च. सू. अ. १।१२६); तथा—"अन्नं हि प्राणिनां प्राणास्तदयुक्तया निहन्त्यसून्। विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्॥"।

२ It is indeed impossible to distinguish between drugs and poisons. Most remedies given in excess cause toxic symptoms- while many poisons are valuable remedies in small doses. Pharmacology And Therapeutics, by Cushny.

विस्तार जाननेके लिए पदार्थविज्ञानके आकरग्रन्थ देखने चाहिये[१]। प्रत्येक रसायन-व्यापारमें (Chemical Process) परमाणु भाग लेते हैं। प्रत्येक मूलतत्त्वके परमाणुओंमें विशिष्ट गुण-धर्म होते हैं; कारण, इनका भार तथा इनकी आन्तरिक रचना भिन्न होती है। इसी प्रकार मूलतत्त्वोंके मिलनेसे यौगिक पदार्थ बनते हैं और उन्हें नवीन गुण-धर्म भी प्राप्त होते हैं। भूतानुप्रवेशके कारण होनेवाले महाभूतोंके गुणधर्मोंमें परिवर्तनका निर्देश प्राचीनोंने भी किया है। परन्तु प्राचीनोंके महाभूत आधुनिकोंके मूलतत्त्व नहीं हैं। दोनोंकी विचारश्रेणियोंमें मौलिक मतभेद है। इससे स्पष्ट है कि आधुनिक विज्ञानके मतसे प्रत्येक पदार्थके गुण-धर्ममें पार्थक्यका कारण उनका पृथक् पृथक् परमाणुमय संघटन (Atomic Structure) है और इस संघटनसे उसके भौतिक (Physical) तथा रासायनिक गुणों (Chemical Properties) का निर्णय होता है। इतना ही नहीं, मूलतत्त्वोंके अथवा किसी भी पदार्थके आणविक संघटनमें कृत्रिम रीतिसे—विद्युत्प्रवाहद्वारा या लोहचुम्बकद्वारा अथवा कोई प्रभावी रसायनिक द्रव्य मिलाकर परिवर्तन किया जाय तो भी उनके गुणोंमें परिवर्तन हो जाता है। इसके विपरीत प्रयोगशालामें कृत्रिम साधनोंद्वारा अभीष्ट गुणोंवाले पदार्थ उत्पन्न किये जा सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें कहें तो मूल-तत्त्वोंको भी एक दूसरेके रूपमें परिणत किया जा सकता है, यद्यपि व्यापारी पैमानेपर तो नहीं ही। इस प्रकार आजकलकी प्रयोगशालायें नवीन पदार्थोंके आविष्कार तथा प्राप्त पदार्थोंके सूक्ष्म संघटनकी शोधमें तन्मयतासे कार्य कर रही हैं।

अब पुनः औषधद्रव्योंके विचारकी ओर आते हैं, जो इस ग्रन्थका प्रधान विषय है। आधुनिक द्रव्यगुणशास्त्रको भूतकालके अनुभवसे बड़ा लाभ हुआ है। एवं वर्तमान कालमें बढ़ती हुई वाहनव्यवहारकी सुविधाके कारण विभिन्न देशोंमें प्रयुक्त होनेवाले औषधोंकी इसे ठीक ठीक सहायता मिलती जाती है। फलतः इसके द्रव्यभण्डारमें विभिन्न प्रकारके द्रव्य दीख पड़ते हैं। इन द्रव्योंके मुख्यतः चार विभाग किये जा सकते हैं—**वनस्पतिजन्य, प्राणिजन्य, खनिज** तथा प्रयोगशालामें कृत्रिम विधिसे

---

१ प्राचीन तथा अर्वाचीन परमाणुवाद—प्राचीनकालमें परमाणु अखण्ड माने जाते थे। आजकल ये विभाज्य समझे जाते हैं। इनका संघटन विद्युन्मय है। परंतु विद्युन्मयका अर्थ क्या? इस प्रश्नना उत्तर कोई नहीं देता। इसके सिवाय परमाणु स्थिर नहीं किंतु स्पन्दनशील हैं। विश्वमें करोडों परमाणु प्रतिक्षण टूटते हैं और करोड़ों नये उत्पन्न होते हैं। अर्थात् कितने ही नवीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं और कितने ही नाशको प्राप्त करते हैं। **द्रव्य** (Matter) और **शक्ति** (Energy) का संबन्ध अभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं हुआ है। प्राचीन कालमें ग्रीसमें तथा इस देशमें जो परमाणुवाद था उसमें ग्रीसके विचारोंका वैशेषिक दर्शनपर प्रभाव पड़ा है, प्रख्यात विद्वान् कीथका यह मत प्रमाणभूत नहीं है।

निर्मित **रासायनिक द्रव्य** (Synthetic drugs)। रासायनिक द्रव्य बनानेकी प्रवृत्ति दिन-दिन बढ़ती जा रही है। यह कहनेकी शायद ही आवश्यकता होगी कि वानस्पतिक द्रव्योंकी संख्या बड़ी है। उनके विषयमें निम्नोक्त बातोंपर खास लक्ष्य दिया जाता है।

(१) **गुणोत्पादक तत्त्व**—(Active Principles)—प्रायः औषधोंमें विशिष्ट रासायनिक संघटनवाले पदार्थ स्थित होते हैं। औषधोंके गुण-धर्म प्रायशः इनके कारण होते हैं। ये तत्त्व औषधके विभिन्न अङ्गोंमें विद्यमान होते हैं। अत एव जिस अङ्गमें ये पदार्थ या तत्त्व मालूम पड़े उसीका चिकित्सार्थ उपयोग होता है; उदाहरणतया, मूल, पत्र, त्वक्, स्कन्ध, पुष्प, बीज आदि। इन तत्त्वोंका अन्वेषण प्रयोगशालामें रासायनिक विश्लेषणद्वारा किया जाता है। ये विशिष्ट तत्त्व आल्केलॉइड्ज्, ग्लुकोसाइड्स्, रेजिन्स्, ऑलीयोरेजिन्स्, गम्स्, वोलेटाइल् ऑइल्स् आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। यहाँ यह स्वीकार करना चाहिये कि औषधद्रव्योंके संपूर्ण गुण-धर्म इससे स्पष्ट नहीं होते परंतु अधिकांशमें समझमें आजाते हैं[१]।

(२) **प्रशस्त भूमि** (Habitat) तथा **ग्रहणकाल** (Time for collection)—

औषध किस भूमिपर उगा है तथा उसका किस कालमें संचय किया गया है इस बातपर औषधकी शक्तिका बड़ा आधार है। जहाँ पर्याप्त पोषण न मिले ऐसे स्थलपर औषध उगा हो अथवा कुसमयमें संचय किया गया हो तो ऐसे औषधमें उपर्युक्त तत्त्व यथेष्ट प्रमाणमें नहीं होते। आजकल खास तैयार कराये गये खेतोंमें, भिन्न-भिन्न प्रकारकी खाद डालकर वनस्पतियोंकी खेती की जाती है और उनके अङ्गोंमें जब गुणोत्पादक तत्त्व अधिकसे अधिक प्रमाणमें हों ऐसे समयमें ही उन्हें एकत्र किया जाता है[२]।

(३) वनस्पतियाँ ठीक ठीक पहिचाननी चाहिये। एक वर्गकि (N. O.) अनेक वनस्पतियाँ होती हैं और एक ही वनस्पतिकी अनेक जातियाँ (Species) होती हैं। इन सबकी खिचड़ी न होने पावे यह आवश्यक है। इसी प्रकार इनके संरक्षण पर भी ध्यान देना चाहिए। उचितसे अधिक धूप, सील, कीड़े आदिके कारण औषध

---

१ देखिये सु. सू. अ. ३९। इसमें भिन्न-भिन्न औषधीय कर्मोंके लिए फल, मूल, त्वक् आदि भिन्न-भिन्न अङ्ग लेनेका उपदेश किया है। कारण, औषधोंके उस-उस अङ्गमें खास खास गुणोत्पादक तत्त्व विद्यमान होते हैं। २ देखिये—सुश्रुत सू. अ. ३७। इस अध्यायमें दिये गये निर्देशोंका आजकल पालन नहीं होता और निर्वीर्य औषध ही व्यवहृत होते हैं, यह शोचनीय है।

बिगड़ जाते हैं या निर्वीर्य हो जाते हैं[1]। प्राणिजन्य औषधोंके लिए भी ऐसी ही सावधानी रखनी चाहिए, अन्यथा वे भी निर्वीर्य बन जाते हैं। खनिजोंको सामान्यतः रासायनिक विधिसे साफ करके क्षार, अम्ल आदिके रूपमें उपयोगमें लिया जाता है। संक्षेपमें, रसायनशास्त्र और औषधोंके निर्माणमें गाढ़ संवन्ध है।

शरीर और औषध—

प्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यकार वॉल्टेर (Voltaire) ने अपने कालके चिकित्साशास्त्रका उपहास करते हुए कहा है कि औषध, जिनके संबन्धमें हम कुछ भी नहीं जानते, रोगीके शरीरमें डालना जिसके विषयमें हमारा अज्ञान इससे भी अधिक है, इसका नाम है **चिकित्सा** या **परिचर्या**। आज भी यह पढ़कर हँसी आवे ऐसी स्थिति है; कारण, उक्त शब्द लिखे जानेके बाद शरीर और औषधोंके संवन्धमें हमारा ज्ञान बहुत बढ़ गया है, परन्तु अज्ञात प्रदेश अब भी बहुत विशाल है।

जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे शरीरके व्यापार और भी जटिल मालूम होते जा रहे हैं, जब कि औषधों और शरीरके मध्य आघात-प्रतिघात चन्द्र-ग्रहणके सदृश पहलेसे ही हिसाव करके नहीं कहे जा सकते। कारण स्पष्ट है कि एक ओर मानवदेह और दूसरी ओर औषध ये दोनों परिवर्तनशील पदार्थ हैं। उदाहरणतया, प्रत्येक रोगीके बल, वय, जठराग्नि आदि भिन्न होते हैं जब कि औषधोंकी रोगनिग्राहक शक्तिके ऊपर भी स्थल, काल, संग्रहणकाल आदिका प्रभाव होता है[2]। अतः दोनोंके संयुक्त होनेपर सर्वदा एक ही प्रकारके (निर्धारित) परिणामोंकी आशा नहीं की जा सकती। फलितार्थ यह कि शरीर न तो घड़ी है न एंजिन, किंतु एक चेतन घड़ी या एंजिन है। इसी विचारपरंपराके कारण, केवल प्राणियोंपर परीक्षण करके प्राप्त किया अनुभव मनुष्य जातिके लिए बहुत लाभदायक नहीं हो सकता। अलबत्ता यह बात अन्वेषकोंकी दृष्टिके बाहर नहीं है। प्राचीन कालमें औषधोंका अनुभव मानवशरीर पर किये गये प्रयोगोंसे ही प्राप्त किया गया है। इस दृष्टिसे हालकी विज्ञानशाखा—द्रव्यगुणविज्ञानशाखा—प्राचीनोंसे भिन्न है। इसके सिवाय, कृत्रिम रोग और स्वयं उत्पन्न हुए रोगकी चिकित्सामें भी भेद होता है। कारण, पहले दृष्टान्तमें शरीरमें प्राकृतिक बल होता है, जब कि दूसरे दृष्टान्तमें वह इस बलसे रहित होकर रोगका भोग हुआ प्रतीत होता है। अतः औषधकी शक्तिका निर्णय करते हुए यह बात विचारने योग्य होती है। प्रयोगशालाओंमें बहुधा प्राणियोंमें कृत्रिम प्रकारसे रोग उत्पन्न करके औषधोंके परीक्षण किये जाते हैं।

विज्ञानवादियोंके मतसे तथा प्रत्यक्षानुसार भी शरीर असंख्य सूक्ष्म कोषों-

---

१ देखिये—सुश्रुत सू. अ. ३७ तथा चरक क. अ. १। २ देखिये—चरक क. अ. १ में 'नानाविधदेशकाल × × × नानाप्रभाववत्त्वाच्च।' यह वाक्य तथा इसपर चक्रपाणिकी टीका।

(Cells)का बना हुआ है। विभिन्न प्रकारके कोष शरीरमें विभिन्न व्यापार करते हैं। औषध द्रव्योंकी क्रिया इन कोषों पर होती है। औषधोंकी क्रिया निम्न तीनमेंसे एक प्रकारकी हो सकती है। (१) या तो औषध कोषोंको उत्तेजित करता है (Stimulation), (२) या क्षुब्ध करता है (Irritation) (३) अथवा अवसन्न करता है (Depression)। आशय यह कि कोषोंका **उत्तेजन, क्षोभण** या **अवसादन** ये तीन ही औषधोंकी क्रियाएँ हो सकती हैं। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि औषधोंके प्रभावसे कोष अपनी प्रवृत्ति न्यूनाधिक कर सकते हैं या विपथगामी भी कर सकते हैं, परन्तु उसे सर्वशः छोड़कर अन्य प्रकारकी प्रवृत्ति नहीं करने लगते हैं। जैसे–फुप्फुसके कोष रक्तको न्यून अथवा अधिक स्वच्छ करें अथवा न करें परन्तु वे रक्तके कण उत्पन्न करनेका नया कार्य नहीं करने पाते। एवं, आमाशयके कोष न्यून या अधिक पाचन करें या उत्क्लेश (Nausea) उत्पन्न करें परंतु वे रुधिर स्वच्छ करनेका नवीन काम नहीं करने लगते। सच्ची चिकित्साका आदर्श इन कोषोंको प्राकृतिक अवस्थामें लाकर उनसे प्राकृतिक कार्य कराना है। अर्थात् क्षुब्ध हुए कोषोंके व्यापारका संशमन, उत्तेजित व्यापारोंका अवसाद और अवसन्न व्यापारोंकी उत्तेजना चिकित्साका ध्येय है। प्राचीनोंने धातुओंकी—दोषोंकी साम्यावस्था लानेका उपदेश किया है; कारण उन्होंने शरीरके प्राकृतिक और वैकृतिक कार्योंका खुलासा त्रिदोषवादके आधारपर किया है और इसकी नींवपर अपने निदान और चिकित्सांको प्रतिष्ठापित किया है।

औषधद्रव्योंका शरीरमें प्रवेश, शोषण, प्रसर, संचय तथा निःसरण (Entry, absorption, distribution, concentration, and excretions of drugs)—

व्याधि दूर करनेके लिए विविध उपयुक्त औषधोंको शरीरमें प्रविष्ट करनेके लिए आजकल अनेक मार्गोंका उपयोग किया जाता है। इनका वर्णन आगे होगा। परंतु शरीरमें प्रविष्ट होनेके पश्चात् उनके गुणका–फलका आरम्भ होनेमें न्यूनाधिक समय लगता है। कारण, इस समयमें द्रव्य विविध अवस्थाओंमेंसे गुजरता है।

(१) पिचकारीद्वारा सिरावेध करके रक्तप्रवाहमें डाला हुआ द्राव्य (Soluble) औषध एक–दो मिनिटमें ही सारे शरीरमें फैल जाता है और शरीरके प्रत्येक कोषके संपर्कमें आता है। हम जानते हैं कि केशवाहिनियों (Capillaries)की दीवालोंसे स्रुत लसीकाद्वारा धातुओंका पोषण होता है। वस्तुतः इस लसीकाद्वारा शारीर कोष वेष्टित या क्लिन्न (भीगे हुए) रहते हैं। जब औषध सारे शरीरमें फैलता है तब वह इस लसीकाके अन्दर भी व्याप्त हो जाता है। यहाँ भिन्न–भिन्न द्रव्योंकी गति भिन्न–भिन्न होती है। (अ) कितनेक द्रव्य कोषोंके बाहरकी लसीकामें ही रहते हैं, परंतु कोषोंके अन्दर घुस नहीं सकते। (ब) कितनेक द्रव्य कोषोंके अंदर एक-

दम प्रविष्ट हो जाते हैं और कोषोंके चेतनरस (Protoplasm) पर अपनी क्रिया करते हैं। कोषोंकी दीवाल (Cellular wall) उनका मार्ग रोक नहीं सकती। अतः ये द्रव्य बहुत बलवान् माने जाते हैं, जैसे–मद्य। (क) कितनेक द्रव्योंको शारीरिक कोष एकदम अपने अंदर ग्रहण कर लेते हैं, जहाँ इनका कार्य तीव्रतासे होता है अथवा सर्वथा बन्द हो जाता है। जैसे–यकृत् तथा मूत्रपिण्डोंमें कई बार द्रव्य एकत्र होते देखे जाते हैं, जो इन पर क्रिया करते हैं, अथवा निष्क्रिय होकर बैठ रहते हैं।

परन्तु यह तो नवीन स्वीकृत किये हुए मार्गोंकी बात हुई[१]। सहस्रों वर्षसे चला आया मार्ग तो महास्रोत (Alimentary Canal) है। इससे भिन्न विविध मार्गोंसे प्रविष्ट हुए द्रव्य जठराग्निकी क्रियासे बच जाते हैं, जब कि मुखद्वारा प्रविष्ट हुए द्रव्य इससे बच नहीं सकते, यह बात मुख्यतः स्मरण रखने योग्य है।

(ख) मुखद्वारा प्रविष्ट हुए द्रव्योंमेंसे बहुत थोड़े मुखके अंदर लालास्रावके साथ मिलकर चूषित होते हैं, किन्तु अधिकांश द्रव्य आमाशयमें जाते हैं। यदि खाली पेट पर्याप्त जलके साथ या अन्य द्रवके साथ औषध लिया जाय तो वह आमाशयमेंसे शीघ्र ही निकलकर ग्रहणीमें प्रविष्ट होता है और वहाँसे आगे जाता हुआ अन्त्रोंकी श्लेष्मकला॰ द्वारा चूसा जाता (Absorbed) है। इनमेंसे कई प्रतिहारिणी सिरा (Portal vein) द्वारा यकृतमें जाते हैं और कई रसायनियोंद्वारा चूसे जाकर रुधिरप्रवाहमें मिल जाते हैं। यकृत्में गये हुए द्रव्योंमेंसे कई एक उसके सूक्ष्म कोषोंमेंसे गुजरनेके बाद रुधिरप्रवाहमें जा मिलते हैं। इसके विपरीत कई विषरूप द्रव्योंको एकत्र करके यकृत् निर्विष (Detoxication) बनाता है अथवा उन्हें रुधिरप्रवाहमें जानेसे रोकता है, भले ही ये द्रव्य खुद यकृत्को हानि पहुँचानेवाले हों। इस प्रकार सोमल, फॉस्फरस आदि पदार्थोंका शरीरमें प्रमाण बढ़जानेपर यकृत् उन्हें अधिक हानि करनेसे रोकता है। रुधिरप्रवाहमें प्रविष्ट होनेके पश्चात् इनका प्रसार ऊपर कहे गये प्रकारोंसे होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि मुखमें प्रविष्ट होनेके बाद प्रथम मुखमेंसे ही लालास्राव (Saliva)की, पीछेसे आमाशयमें जठररस (Gastric juice) की, उससे आगे ग्रहणीमें पित्तरस, अग्न्याशयरस तथा अन्त्ररस (Succus entericus) की भौतिक और रासायनिक क्रिया होती है। बादको इसका शोषण

---

१ इसी प्रकार त्वचामें अथवा त्वचाके नीचे मांसपेशियोंमें पिचकारीद्वारा दिये गये द्रव्य न्यूनाधिक समयमें शोषित होकर रुधिरप्रवाहमें मिश्रित हो जाते हैं। जब महास्रोत दोषावृत हो जाता है अथवा शरीरपर तत्काल असर करनेकी आवश्यकता हो तब इन अन्य मार्गोंका आश्रय लिया जाता है। इसके भी लाभालाभ हैं। चरकोपदिष्ट **अन्तःपरिमार्जनका यह एक** प्रकार है।

होता है। यदि भरे हुए पेटपर, थोड़े पानीके साथ औषध लिया जाय तो यह आमाशयमेंसे शीघ्र निकल नहीं सकता, उसके शोषणकी तो बात ही क्या? । यहाँ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कतिपय द्रव्य (व्यवायी, विकासी या विशद) आमाशयमेंसे बाहर ही बाहर चूसे जाकर यकृत्‌मेंसे होकर सारे शरीरमें फैल जाते हैं। इनपर पाकक्रिया पीछेसे होती है। परंतु अधिकांश द्रव्य पाकक्रियाके अनन्तर यकृत्-द्वारा रुधिरप्रवाहमें प्रविष्ट होते हैं।

आमाशय, क्षुद्रान्त्र या बृहदन्त्रमें शोषण, वे खाली हों तब शीघ्र होता है, भरे हों तो धीमे-धीमे और कम होता है। एवं, द्राव्य द्रव्योंका शोषण तीव्रतासे, तथा अद्राव्य द्रव्योंका—धातुओंके अद्राव्य योगोंका शोषण बहुत धीमे या अल्प प्रमाणमें होता है। संक्षेपमें, द्रव्योंका शोषण अन्नमार्गकी रिक्तावस्था तथा औषधोंकी द्रवणशीलता (Solubility)पर मुख्यतया आश्रित है[१]। परंतु रोगीका आमाशय या अन्त्र रोगके आक्रमणके समय स्वस्थ नहीं होते। ऐसे समय जब कि महास्रोतके इन भागोंमें शोथ, व्रण या इनका तीव्र क्षोभ (Spasm) हो तब औषधोंपर रसोंकी क्रिया-विपाक तथा श्लेष्मकलाद्वारा उनका शोषण दुष्कर हो जाता है। बहुतवार औषध

---

१ पाश्चात्य द्रव्यगुणवेत्ता द्रव्योंकी द्राव्यता (Solubility) पर इतना अधिक भार देते हैं और उनका यह दृढ़ मत हो गया है कि इससे भिन्न किसी दशामें द्रव्यकी क्रिया संभव ही नही। इस मन्तव्यके परिणामरूप वे सुवर्ण और पारद जैसे अप्रतिम औषधोंका यथेष्ट उपयोग नहीं कर सकते। वास्तवमें तो यह उनका पूर्वग्रह (Prejudice) है और प्राचीन वैद्योंके मतका तथा अनुभवका निष्कारण और अवैज्ञानिक तिरस्कार है। वैज्ञानिक दृष्टिसे देखें तो इनका अभिप्राय निराधार है। जैसे-सुवर्ण और पारद जैसे शक्तिशाली औषधोंको द्रवरूपमें शरीरमें प्रविष्ट करनेपर यकृत, मूत्रपिण्ड तथा अन्य अवयवोंमें तीव्र क्षोभ उत्पन्न होता है; परंतु इन्ही द्रव्योंके थोड़े परमाणु शरीरको लाभदायी होते हैं। प्राचीन आचार्योंने इसी कारण इन धातुओंका उपयोग अद्राव्य (Insoluble) रूपमें किया है। पारदके असंख्य योग-रस तथा सुवर्णके योग अद्राव्य होते हुए भी शरीरको लाभ पहुँचाते हैं, यह अनुभवकी प्रत्यक्षसिद्ध बात है। सुवर्ण या पारदके योग जब महास्रोतमेंसे गुजरते हैं तो इनके कुछेक परमाणु रसमार्गद्वारा शरीरमें प्रविष्ट होते हैं और दूषित प्रदेशपर अपनी क्रिया करते हैं। इतने थोड़े परमाणु कैसे क्रिया करते हैं यह शङ्का निरवकाश है। कारण, एड्रीनालीन (Adrenaline)की अत्यन्त अल्प मात्रा—दश अरब बूँदोंमें केवल एक बूँद प्रभावशाली सिद्ध हो चुकी है, तो फिर संस्कारित सुवर्ण और पारदके दो चार परमाणु क्या पर्याप्त नहीं होंगे? इस मतभेदके कारण डाक्टर लोग सुवर्ण, ताम्र, मोती आदिका उपयोग आयुर्वेदज्ञोंके समान नहीं कर सकते, यद्यपि उनके मतकी पुष्टिमें वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है।

वमन या मलद्वारा सहसा शरीरके बाहर निकल जाते हैं अथवा इन भागोंकी श्लेष्मकलापर हानिकारक क्रिया—विपरीत गुण करते हैं। उलटी रोकनेके लिए दिया गया औषध पेटमें नहीं टिकता और अपना गुण नहीं दिखाता, जब कि दस्त साफ लानेके लिए दिया गया विरेचन महास्रोतमें हुए विचित्र रसपाकके कारण अपना गुण नहीं दिखा सकता [प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंकी परिभाषामें कहना हो तो ये क्रियाएँ विपाकके अन्तर्गत हैं, इसका विचार आगे होगा]। इससे यह न समझना चाहिए कि औषध खाली पेट ही देना चाहिए। औषध विविध उद्देश्योंसे भोजनके पूर्व, साथ या पीछे योग्य अनुपानसे दिये जाते हैं। इसी प्रकार नेत्र, नासिका, बृहदन्त्र, गुदनलिका (Rectum), मूत्रनलिका तथा अपत्यपथद्वारा दिये गये औषधोंका न्यूनाधिक प्रमाणमें शोषण होता है और इनके स्थानिक (Local) तथा सार्वदेहिक कर्म (General action) न्यूनाधिक प्रमाणमें व्यक्त होते हैं।

विभिन्न द्रव्योंका संचय और निःसरण भी न्यूनाधिक प्रमाणमें होता है। कई द्रव्य यकृत्में, कई नाडीसंस्थानमें तथा कई मूत्रपिण्डोंमें संचित होते हैं। इनमें कइयोंका निर्विषीकरण (Detoxication) होता है और कइयोंका नहीं होता। अधिकांश द्रव्योंके रासायनिक संघटनमें भी भेद आता है, परिणामतः नवीन द्रव्य बनते हैं (Synthesis)। द्रव्योंको शरीरके बाहर फेंक देनेमें यकृत् तथा मूत्रपिण्ड मुख्यतया भाग लेते हैं। मुखद्वारा सेवित द्रव्य यदि अद्राव्य हों तो इनका बड़ा भाग शोषित हुए विना गुदद्वारसे निकल जाता है। शोषित भाग यकृत्में जाता है। वहाँ उसमें इन पर अन्य रासायनिक परिवर्तन होकर पुनः थोड़ा अंश पित्तनलिकाद्वारा ग्रहणीमें और वहाँसे बाहर फेंका जाता है। रक्तमें मिश्रित द्रव्यका कुछ अंश मूत्रद्वारा बाहर निकल जाता है। कई द्रव्य प्रश्वासके साथ वायुरूपमें, और कई स्तन्य या प्रस्वेदके साथ भी बाहर निकलते हैं। जैसे पानी प्रवाहमें आई वस्तुको बाहर धकेल देता है उसी प्रकार मनुष्यशरीर अर्थात् उसके कोष देहमें प्रविष्ट होते हुए बाह्य पदार्थोंको शल्यरूप मानकर बाहर फेंक देनेका प्रयत्न करते हैं। केवल, द्रव्योंका जितना अंश शारीरिक कोषोंके लिए हितावह हो उसे ही अपने चेतनरसमें मिश्रित कर लेते हैं। यह कार्य **सात्म्यीकरण** कहाता है [भस्मोंके निर्माणमें जो भावना या पुट दिये जाते हैं उनका यही रहस्य है।]

तो फिर विषकी क्या गति होती है? कई द्रव्य शरीरमें प्रविष्ट होकर कोषोंके चेतनरसको मार डालते हैं और उनकी क्रियाओंको स्थगित कर देते हैं या नष्ट कर-देते हैं। परंतु सब विष प्रत्येक धातुकी समान रूपसे हानि नहीं करते। अफीम, धतूरा और ताम्रकी क्रिया एक समान नहीं होती। यह अबतक 'शेष प्रश्न' है कि क्यों

अमुक विष अमुक धातुको ही लक्ष्य बनाता है[१]। जो द्रव्य शरीरसे एकदम बाहर निकल जाते हैं उनकी मात्रा वारंवार देनी पड़ती है। परंतु इससे भिन्न वर्गके भी द्रव्य हैं जिनका निःसरण बहुत धीमे-धीमे होता है। ऐसे द्रव्यों की, विषमय क्रिया संचित होनेपर, चिरकाल पश्चात् होती है; इनकी एक-दो मात्राओंकी जरा भी खराब क्रिया नहीं होती। कई द्रव्योंका कार्य इनके लेनेके बहुत काल पीछे मालूम होता है। कारण इनका शोषण तथा सात्म्यीकरण बहुत मन्द होता है (Delayed action)। कई द्रव्योंका प्रभाव सामूहिक रूपमें होता है (Culminative action)। यदि ऐसा द्रव्य विष हो तो विषके लक्षण एक साथ प्रकट होते हैं, यद्यपि कुछ समय बाद।

औषध द्रव्योंकी क्रिया—

अधिष्ठानभेदसे द्रव्योंकी क्रिया दो प्रकारकी कही जा सहती है—**स्थानिक कार्य** (Local action) और **देहव्यापी कार्य** (General or Systemic action)। शरीरके किसी प्रदेशपर औषध लगाने पर, औषधका शोषण होकर वह रुधिरप्रवाहमें मिल जाय उसके पूर्व ही जो क्रिया होती है उसका नाम **स्थानिक कार्य** है। जैसे-क्षार आदि लगानेपर उस भागपर दाहक प्रभाव होता है। इससे विपरीत जब औषधका शोषण होकर वह सारे शरीर पर अमुक क्रिया करता है तो उसे **देहव्यापी कार्य** कहते हैं जैसे-पारा, कुचला आदिका देहव्यापी कार्य।

अनुबन्धकी दृष्टिसे भी इसके दो भेद किये जा सकते हैं—**प्रत्यक्ष कार्य** (Direct action) तथा **परोक्ष कार्य** (Indirect or remote action)। द्रव्य अपनी विशिष्ट शक्तिसे अमुक अवयवों पर विशिष्ट क्रिया करते हैं, यह उनकी प्रत्यक्ष क्रिया है। इसके साथ ही अन्य अवयवोंपर प्रतिक्रिया द्वारा (Reflex action) परोक्ष रूपसे कार्य करते हैं, यह उनका परोक्ष कार्य है। जैसे कई विष मस्तिष्क पर साक्षात् रूपसे (सीधा) क्रिया करते हैं और असाक्षात् रूपसे श्वासक्रिया, रुधिराभिसरण आदिपर क्रिया करते हैं। विकासी द्रव्य ये दोनों प्रकारके कार्य करते हैं। ओजोनिर्हरण इनका प्रत्यक्ष कार्य है, तथा स्नायुबन्धोंको शिथिल करना गौण कार्य है। वामक, विरेचक द्रव्य भी इसी प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष कार्य करते हैं।

द्रव्य किस प्रकार क्रिया करते हैं, इस विषयमें विविध मत (General Theories of Pharmacological action)—

ऊपर मैं कह चुका हूँ कि द्रव्य शरीर पर जो क्रिया करते हैं वे प्रत्यक्षगम्य हैं। इस प्रत्यक्षमें मतभेदको स्थान नहीं है, परंतु ये कैसे क्रिया करते हैं इस विषयमें प्राचीन

---

१ अथवा, अमुक द्रव्य क्यों शरीरके अमुक संस्थान (System) पर क्रिया करते हैं यह भी 'शेष प्रश्न' है। यथा—मद्यकी मस्तिष्कपर क्रिया, कुचलेकी सुषुम्णापर क्रिया, वङ्गभस्मकी मूत्रपिण्डोंपर क्रिया, अफीमकी श्वासकेन्द्रपर क्रिया इत्यादि।

कालमें मतभेद था और अब भी है। इनके विषयमें ऐकमत्य न होनेसे विविध मतोंका यहाँ निर्देश करते हैं। सुश्रुतने इस संबन्धमें विभिन्न मतोंका उल्लेख कर अपना समाधान बताया है[१]।

(१) कई द्रव्य अपने भौतिक गुणों (Physical properties) के कारण शारीरिक कोषों पर–शरीर पर प्रभाव करते हैं।

(२) कई द्रव्य अपने भौतिक एवं रासायनिक गुणोंद्वारा शरीर पर प्रभाव करते हैं[२] परंतु कई द्रव्य शरीर पर किस प्रकार क्रिया करते हैं, यह समझ नहीं आता। हमारा यह अज्ञान तब ऐसा आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता जब हम यह विचार करते हैं कि एक सादेसे सादे कोषकी रचना तथा अधिकांश द्रव्योंका रासायनिक संघटन कैसा जटिल है! द्रव्य कोषोंके चेतनरसके रासायनिक संघटनपर क्रिया करते हैं और उसके साथ रासायनिक प्रकारसे मिल जाते हैं, जिससे विविध औषधीय गुण दृष्टिगोचर होते हैं यह मानना भी निर्दोष नहीं है। कारण, भिन्न रासायनिक रचनावाले भी द्रव्य समान प्रकारका अथवा एक दूसरेसे मिलता औषधीय गुण धारण करते हुए पाये जाते हैं। अतः केवल रासायनिक दृष्टिसे औषधीय गुणोंका समाधान नहीं हो सकता। सच पूछो तो संपूर्ण द्रव्योंकी क्रियाओंका समाधान करनेमें सहायक हो सके ऐसा कोई भी सिद्धान्त अब तक सामने नहीं आया। यद्यपि आजकल औषधोंके रासायनिक संघटनमें परिवर्तन करके भिन्न-भिन्न परिणाम उत्पन्न करनेके प्रयत्न हो रहे हैं; जैसे केमोथॅरेपी (Chemotherapy) के उपासक जन्तुजन्य व्याधियोंकी चिकित्सामें ऐसे औषध बनानेका प्रयास कर रहे हैं। परंतु एक विलक्षण घटना इन औषधोंके बनानेमें भी देखी जाती है, और वह यह कि कई जन्तुघ्न द्रव्य काचनलिका (Test-tube) में जन्तुओंको नहीं मार सकते परंतु शरीरके अन्दर प्रविष्ट होने पर शरीरके कोषोंकी सहायतासे उनको तत्काल मार डालते हैं। इसके अतिरिक्त कई औषधोंका अत्यन्त अल्प प्रमाण, जो कोषके आसपास एक स्तर (Monomolecular layer) रचनेमें भी समर्थ नहीं होता, वह भी इन पर क्रिया करनेकी पर्याप्त शक्ति रखता है। कइयोंके मतानुसार औषधद्रव्य कोषोंके आसपास फैलनेके पश्चात् उनका कवच (Cell membrane) भेदकर उसमें प्रविष्ट होनेका यत्न करते हैं। उनके कुछेक परमाणु उसके अन्दर जाकर चेतनरसमें मिल जाते हैं और अपनी क्रिया करते हैं। कई एक अंदर जाकर निष्क्रिय बन जाते हैं। जब कई अन्दर

१ देखिये—सुश्रुत सू. अ. ४०–'तद् द्रव्यमात्मना किंचित्' इत्यादि सुश्रुतोक्त समाधान। अब तक यह मत बदलनेका कोई कारण नहीं मिला है।

२ Physical and chemical properties.

घुस ही नहीं सकते । इस स्थितिमें द्रव्योंके कर्मोंके विषयमें कोई निश्चित सिद्धान्त घड़ना कठिन है । हाँ, इतना कहा जा सकता है कि द्रव्योंकी शारीरिक कोषों पर होनेवाली क्रियामें निम्नोक्त बातें खास तौरपर स्मरण रखने योग्य हैं ।

(१) भिन्न-भिन्न औषधद्रव्योंकी रासायनिक क्रिया भिन्न-भिन्न कोषों या धातुओं (Tissues) पर भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है । अर्थात् औषधोंकी क्रिया औषधों और कोषके जीवनरस(Protoplasm)के बीचकी रासायनिक प्रतिक्रिया पर अवलम्बित है ।

(२) भिन्न-भिन्न कोष अपने कोषकवचद्वारा द्रव्योंका सहकार अथवा प्रतिकार करनेकी शक्ति रखते हैं । कोषोंके व्यापार सजीव व्यापार (Biological Response) हैं—जिजीविषा (Will to live)का एक प्रकार हैं तथा भौतिक और रासायनिक नियमोंसे सदा बँधे नहीं रहते[१] ।

यहाँ जिजीविषामें मानसिक तत्त्वका भी अन्तर्भाव है । अर्थात् यदि रोगीको आस्था हो तो औषधीय गुण अधिक कार्य करते हैं । कारण, शारीरिक कोषोंके व्यापार मानसिक अङ्कुशसे मुक्त नहीं हैं ।

द्रव्यगुणविज्ञानके संबन्धमें आयुर्वेदके मौलिक विचार—

अब तक हमने मुख्यतः वैज्ञानिकोंकी विचारधारा देखी । अब पूर्व और पश्चिम दोनोंकी विचारधाराएँ देखते हैं । ईर्ष्या, द्वेष, अज्ञान तथा जिज्ञासावृत्तिके अभावके कारण डाक्टर तथा वैद्य आपसमें खुले दिलसे विचारविनिमय नहीं करते, अतः इस विषयमें बहुत अनभिज्ञता रहती है । प्रस्तुत ग्रन्थ, आयुर्वेदके द्रव्यगुणविषयक विचारोंका दोहन होनेके कारण अभ्यासकोंके मार्गको सरल करनेवाला है ।

वैदिक कालसे ही वनस्पतियोंका वैद्यकीय उपयोग छोटे पैमानेपर (अल्प प्रमाणमें) शुरू हो चुका था । परंतु उस कालमें आथर्वणोंका जोर अधिक होनेसे मणि, मन्त्र तथा पवित्र जलका महत्त्व अधिक था । मनुष्य जातिके द्रव्यगुणविषयक ज्ञानका यह उषःकाल था । इसके पश्चात् दैवव्यपाश्रय चिकित्साका जोर घटने लगा, औषधोंका उपयोग बढ़ने लगा[२] । साथ-साथ धातुओंका औषधार्थ उपयोग भी बढ़ने लगा । जब हम संहिताकालमें आते हैं तब औषधोंकी संख्या एकदम बढ़ी हुई पाते हैं । इतना ही नहीं, किंतु इन सब औषधों तथा धातुओंके उपयोगको अपने विशाल उदरमें समाविष्ट करनेवाला द्रव्योंके गुणों तथा कर्मोंके विषयका सिद्धान्त भी स्थिर हो गया पाया जाता है । यह सिद्धान्त स्थिर होनेके पूर्व अनेक मत-मतान्तर भी खड़े हुए होंगे, जिसका

---

१ The action of a drug on any cell, involves at least two separate processes, namely a Chemical reaction and the Biological response to this reaction.

२ देखिये—चरक सू. अ. ११—त्रिविधमौषधम् × × × इत्यादि ।

इशारा चरक और सुश्रुत दोनोंने किया है। प्रस्तुत ग्रन्थमें ये मतभेदसूचक एकीय मत देखे जा सकते हैं। उदाहरणतः, रसोंकी संख्या तथा द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और विपाकके प्राधान्याप्राधान्यसंबन्धी चर्चा मनोरञ्जक है तथा एक शक्तिशाली (Virile) और विचारशील समाजके मानसिक मन्थनका प्रतिविम्ब है। ईसासे हजार-बारह सौ वर्ष पूर्व शुरू हुई औषधोंकी गुण-कर्मविषयक चर्चा ईसासे चार या पाँच शती पूर्व एक सिद्धान्तका रूप प्राप्त करती हुई तथा ईसवी सन्के प्रारम्भमें तो एक व्यापक सिद्धान्तके रूपमें स्थिर हुई दिखाई पड़ती है; औषधद्रव्य (उद्भिज्ज, खनिज तथा प्राणिज द्रव्य) और आहारद्रव्यविषयक विचार एक शृङ्खलाबद्ध व्यवस्थित स्वरूपमें दृष्टिगोचर होते हैं। पीछे चाहे हम संहिताचतुष्टय (चरक, सुश्रुत, भेल तथा काश्यप) मेंसे कोई एक लें। इसके बादके वर्षोंमें कितनी ही वनस्पतियाँ भूली गयीं, कितनी ही विदेशी दवाइयाँ स्वीकारी गयीं, कितनी ही संदिग्ध हो गयीं। यह कालभगवान्की महिमा है। औषध द्रव्यों और रसशास्त्रोक्त प्रयोगोंकी संख्या बढ़ी; विकासकी दृष्टिसे यही हुआ। परन्तु संहिताकालमें उपदिष्ट सिद्धान्तमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ।

सामान्यतः कहना हो तो आधुनिक विज्ञानवादियोंकी दृष्टि पृथक्करणशील (Analytical) है, जब कि प्राचीन आर्योंकी दृष्टि सदा एकीकरणशील (Synthetic) रही है। परिणामतया, एकको विस्तार (Detail) प्रिय है और दूसरेको सूत्र[1]।

कुछ तुलनात्मक विचार—

जब यह देश स्वतन्त्र विचार करनेकी शक्ति रखता था तब इसमें विचारोंके मतभेदको सहन करनेकी भी शक्ति थी, अथवा सहिष्णुता (Tolerance) हमारे बुद्धिविकासका एक प्रधान चिह्न था। चरक तथा सुश्रुतमें इस मतभेदसहिष्णुताके प्रमाण मिलते हैं। परिषदोंमें गर्भावक्रान्ति, रसोंकी संख्या, विपाकका स्वरूप, वीर्यके प्रकार, रोगोंके प्रकार आदि विषय विवादास्पद होते थे। विभिन्न विचारोंके आयुर्वेदज्ञ ऋषि इनमें भाग लेते थे। केवल आयुर्वेदके क्षेत्रमें ही नहीं, दार्शनिक क्षेत्रमें भी बहुत विवाद प्रचलित थे। न्यायदर्शनने इन विवादोंको समुचित वैज्ञानिक रूप भी दिया है। जब चरक-सुश्रुतने इनकी ओर अङ्गुलिनिर्देश किया है। आधुनिक कालमें

---

१ इसी कारण 'सूत्र' संस्कृत वाङ्मयके विशेष लक्षण हैं। अन्य किसी भाषामें सूत्रग्रन्थ लिखे हुए पाये नहीं जाते। इस सूत्रसाहित्यके स्रष्टा कुशाग्रबुद्धि ऋषियोंकी दृष्टि सृष्टिमें पाये जानेवाले वैविध्यके आरपार देखकर परमतत्त्वका साक्षात्कार करनेमें तल्लीन थी। वैशेषिकोंने समग्र विश्वका समावेश छः पदार्थोंमें किया, सांख्यने प्रकृति और पुरुषमें और वेदान्तने केवल एक अनिर्वचनीय ब्रह्ममें ही सबका समावेश किया!

सन् १९३५ में बनारसमें एक ऐसी ही परिषदका आयोजन हुआ था, यह सुविदित है।

पूर्व तथा पश्चिममें स्वीकृत समान मन्तव्य यहाँ प्रस्तुत करते हैं।—

(१) जो तत्त्व बाह्य जगत्में दिखाई देते हैं वे ही मनुष्यशरीरमें भी होते हैं। इस विषयमें आधुनिक विज्ञानका क्या मत है यह ऊपर कहा जा चुका है। द्रव्य-(Matter) का संघटन विद्युन्मय है और विद्युत् एक प्रकारकी शक्ति है। द्रव्य (Matter) और शक्ति (Force) का संबन्ध रहस्यपूर्ण है। द्रव्यके अनेक रूप हो सकते हैं। अबतक द्रव्यके विशिष्ट रूपोंके तौरपर ९२ तत्त्व (Elements) विदित हुए हैं। इनमेंसे कुछेक मानवदेहमें हैं। प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंने सांख्य और वैशेषिकके विचारोंका आश्रय लेकर अपना स्वतन्त्र मत उनमें बढ़ाकर अपने सिद्धान्त निश्चित किये हैं। समग्र विश्व पञ्चमहाभूतमय है—द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं—और मनुष्यदेह भी पञ्चमहाभूतोंसे ही बना है। ये पञ्चमहाभूत हैं आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी। इन महाभूतोंका विचार करते हुए बहुतोंको भ्रम (Delusion) हो जाता है। कारण, दोनों प्रकारके वर्गीकरणोंके दृष्टिबिन्दु भिन्न हैं। वैज्ञानिक जगत्का अर्थ है जड़ जगत्। इसके पदार्थ (Substance) भी जड़ पदार्थ हैं। इनकी कार्य करनेकी शक्ति (Force) भी जड़ है। इस जड़ शक्ति और जड़ द्रव्य या पदार्थके सहकारसे विज्ञानकी सृष्टि चल रही है। इसके विपरीत प्राचीन दार्शनिकोंकी सृष्टि जड़ (Inanimate) और चेतन (Animate) की बनी हुई है। इसमें आत्मा या परमात्माको स्थान है, जब कि आधुनिक विज्ञान इनका बहिष्कार करता है, अथवा इनके प्रति शङ्काकी दृष्टिसे देखता है[१]। इसके मूल तत्त्वोंका

---

१ इस विषयमें विज्ञानकी भिन्न-भिन्न शाखाओंमें मतभेद है। उदाहरणतया जीवविद्या (Biology) या प्राणिविद्या, स्पष्ट शब्दोंमें यह नहीं बताती कि प्राण (Life)का अर्थ क्या है? सजीव द्रव्यके लक्षण, रचना आदिकी सविस्तर जानकारी देते हुए भी निर्जीव और सजीव सृष्टिके मध्य भेद मानें या न माने यह प्रश्न अभी विवादास्पद है। पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों (Psychologists)मेंसे कई एक प्राचीन बौद्धोंके समान स्थिर आत्माको नहीं मानते, किंतु सहज वृत्तियों(Instincts)के समूहरूप मनको मानते हैं। कई मानसशास्त्री आत्माको मानते भी हैं। आधुनिक विज्ञानवादियोंमें कई प्राचीन लौकायतिकोंके समान देहात्मवादी हैं। अपने यहाँ भी आत्माके स्वरूपके विषयमें विविध मत थे, जिनका विवरण भगवान् शंकराचार्यके भाष्यमें मिलता है। देखिये—ब्रह्मसूत्र १-१-१ पर शांकरभाष्य—'देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति ××× आत्मा स भोक्तुरित्यपरे।' निर्विशेष भौतिक आत्माका लक्षण भगवान् चरकने वेदान्तसे लिया है, और संयोगपुरुष अथवा शरीरी आत्माका लक्षण न्याय-वैशेषिकसे लिया है। न्याय-वैशेषिकने व्यावहारिक अवस्थाका विचार करके आत्माका लक्षण घड़ा है।

अस्तित्व प्रत्यक्ष प्रयोगोंके आधारपर सिद्ध है। दार्शनिक परिभाषामें पदार्थका अर्थ है पदका अर्थ। जिसमें **ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व** और **अस्तित्व** ये तीन लक्षण हों वह पदार्थ है[1]। आशय यह कि 'पदार्थ' शब्दसे न केवल जड़ जगत्‌का किंतु समग्र जड़ और चेतन सृष्टिकी वस्तुओंका ग्रहण हो जाता है। अर्थात् विज्ञानका पदार्थ (Element) वैशेषिकके पदार्थसे भिन्न है। इसी प्रकार वैशेषिकोंका द्रव्य, जो गुण और कर्मका आश्रय है, विज्ञानके द्रव्य (Matter) से भिन्न है। कारण, वैशेषिकोंके मतानुसार आत्मा, मन, दिक् और कालकी भी नव द्रव्योंमें गणना होती है, जब कि आधुनिक विज्ञानवादी स्वतन्त्र आत्मा और मनका अस्तित्व माननेसे कतराते हैं। अस्तु। पञ्चमहाभूतोंको प्राचीनोंने जड़ सृष्टिका मूल तत्त्व माना है जब कि आधुनिकोंने ९२ मूल तत्त्व माने हैं, जो प्रत्यक्षसिद्ध हैं। परंतु उपनिषत्कालसे सृष्टिके उत्पत्तिक्रमके संबन्धमें जो विचार चले आये हैं और जिन्हें वेदान्तका भी समर्थन प्राप्त है, उनके अनुसार देखें तो पञ्चमहाभूतका अर्थ है जड़ द्रव्यकी पाँच स्थितियाँ (States of conditions of matter)।

जैसे—
आकाश=Etheric state
वायु=Gaseous state
अग्नि=Luminous state
जल=Liquid state
पृथ्वी=Solid state

उक्त कोष्ठकमें कही अवस्थाएँ विज्ञानको मान्य हैं, कारण, ये प्रत्यक्षसिद्ध हैं। इस प्रकार देखते हुए प्राचीनोंके सिद्धान्तानुसार आधुनिक विज्ञानके मूल तत्त्व इन पाँच स्थितियोंमेंसे किसी स्थितिमें हमारे अनुभवका विषय होते हैं। पञ्चमहाभूतोंके मिश्रणसे अथवा आधुनिकोंके इन पाँचमेंसे किसी अवस्थामें स्थित मूलतत्त्वोंके मिश्रणसे, परस्परानुप्रवेशसे या परस्परानुग्रहसे दृश्य जगत्‌की रचना होती है। आयुर्वेदके

जब कि वेदान्तने सुषुप्ति, समाधि और मोक्ष दशाका विचार करके आत्माका लक्षण घड़ा है। वर्तमान कालमें, तत्त्वज्ञान (Philosophy) और विज्ञान(Science)के क्षेत्र दिन-दिन अधिक निकट आते जा रहे हैं। परंतु आधुनिक पदार्थविज्ञान (Physics) आत्मा, मन आदिको आधिभौतिक पदार्थविज्ञान (Metaphysics)का विषय मानता है। प्राचीन आर्य दर्शनोंका पदार्थवाद इन सबको अपने विशाल क्षेत्रमें स्थान देता है। अत एव तुलना करते हुए इस वर्गीकरणका भेद ध्यानमें रखना चाहिए। अन्यथा दोनों पक्षोंको अन्याय होना संभव है।

१ देखिए प्रशस्तपादभाष्य पृ. १६।

मन्तव्यानुसार पञ्चमहाभूतोंसे आत्माका संबन्ध होनेपर पुरुष बनाता है, जो चिकित्साका अधिष्ठानरूप है (सु. सू. अ. १)।

(२) शरीरके विकासके लिए, जीवन व्यापार चलानेके लिए जो शक्ति चाहिए उसके उत्पादनके लिए, तथा शरीरमें होनेवाली टूट-फूटकी पूर्तिके लिए उपर्युक्त पदार्थोंकी आवश्यकता है यह बात दोनों पक्षोंको स्वीकृत है। अर्थात् पञ्चमहाभूतमय शरीरको—पाँच अवस्थाओंमें स्थित वैज्ञानिकोंके मूलतत्त्वोंद्वारा बने हुए शरीरको उन्हीके द्वारा बने हुए आहारद्रव्योंकी आवश्यकता है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंके पक्षमें यह अभिमान करने योग्य बात है कि उन्होंने आहार और स्वास्थ्य तथा आहार और रोगोंके संबन्धपर प्रारम्भसे ही बहुत ही जोर दिया है। रोगोंके निदान और चिकित्साकी चर्चामें आहारकी बात खास करके आती है। अपने यहाँ आहाररूपमें उपयोगमें आनेवाले वनस्पतिजन्य तथा प्राणिजन्य द्रव्योंकी उन्होंने स्वास्थ्य तथा रुग्णावस्थामें मनुष्यपर होनेवाली क्रियाओंका उल्लेख किया है। अपने देशवासियोंको यहाँके जलवायुमें ये द्रव्य अधिक सात्म्य हैं, यह अनुभव है। आहारका पाचन होनेपर रसधातु बनती है। इसपर शरीरकी अन्य धातुएँ आश्रित हैं। अतः आचार्योंका आग्रह है कि आहार और जठराग्निकी क्रिया पर—रोगीके अग्निबल पर—वैद्यको खास ध्यान देना चाहिए। पहले कहा जा चुका है कि आहारकी रासायनिक दृष्टिसे मीमांसा करके, उसमें स्थित प्रजीवनकों (Vitamins) तथा खनिज द्रव्योंके क्षारों (Mineral salts) पर विशेषतः लक्ष्य देकर तथा इन द्रव्योंकी स्वास्थ्य तथा रुग्णावस्थामें होनेवाली क्रियाओंका निर्देश करके, आधुनिक विज्ञानने मनुष्य जातिकी सेवा की है। एक कदम आगे बढ़कर आधुनिक संप्राप्तिविज्ञान (Pathology) यह बताता है कि रक्त आहारपर अवलम्बित है और इस रक्तके संघटनमें भौतिक अथवा रासायनिक परिवर्तन हों तो शरीरके कोषोंके पोषण और व्यापारों पर इसका अनिष्ट प्रभाव होता है, अर्थात् वे शीघ्र रोगके ग्रास हो जाते हैं। औषध द्रव्य भी शरीरके सहकारके विना रोगका मुकाबला नहीं कर सकते। अतः, निज अथवा आगन्तुक रोगोंके प्रतिकारको उत्कृष्ट बनाना हो तो, रक्तको बने वैसे उत्कृष्ट स्वरूपमें लाना चाहिए। ऐसा करनेके लिए उत्तम आहार और कार्यक्षम जठराग्निकी खास आवश्यकता है, ऐसी अवस्थामें ही रस धातु जिसपर अन्य धातुओंका आधार है, उत्तम बनता है[१]।

(३) द्रव्योंकी शरीरपर होनेवाली क्रियाओंको देखते हुए द्रव्योंके सामान्यतः तीन भेद किये जा सकते हैं। आधुनिक द्रव्यगुणविदोंका मत ऊपर दिया है। प्राचीनोंका मत इस ग्रन्थमें छठे पृष्ठपर दिया है। भगवान् चरकके शब्दोंमें द्रव्योंके तीन भेद

---

१ 'आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा। ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः॥' (च. चि. अ. १५)

किये जा सकते हैं । ये तीन भेद द्रव्योंकी शरीरपर होनेवाली क्रियाओंको देखते हुए किये गये हैं । **'शमन'**, **'कोपन'** और **'स्वास्थ्यवर्धन'**-इन तीन शब्दोंमें प्राचीनोंने द्रव्योंके प्रभावसे होनेवाली क्रियाएँ समाविष्ट कर दी हैं । इनमें आधुनिकोक्त तीनों क्रियाओंका[१] समावेश हो जाता है ।

(४) आयुर्वेदिक पद्धति तथा वैज्ञानिक चिकित्सापद्धति दोनों हॉमियोपॅथीके सिद्धान्तसे विरुद्ध हैं । कारण, इन दोनों पद्धतियोंमें विपरीत गुणोंवाले आहार और औषधके द्वारा रोग अथवा रोगके मूलका नाश किया जाता है । प्राचीनोंने दोषवैषम्यको दूर करके दोषोंको साम्यावस्थामें लाना चिकित्साका आदर्श माना है, जब कि वैज्ञानिक चिकित्सापद्धतिमें शरीरके दूषित कोषोंके विकृत—बिगड़े हुए—व्यापारोंको प्रकृतावस्थामें लानेको अपना आदर्श स्वीकार किया है[२] ।

(५) तुलनात्मक दृष्टिसे द्रव्यगुणविज्ञानको देखें तो दोनों पक्षोंने प्राणियों और मनुष्योंपर उन्हीं द्रव्योंका, उन्हीं क्रियाओंके लिए उपयोग किया है । हाँ, उसमें औषधकी मात्रा तथा प्राणीके विशिष्ट देहव्यापारोंका तो ख्याल रखा ही जाता है । मनुष्योंकी चिकित्साके साथ इस देशमें पशुचिकित्सा भी ईसाके पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दीसे प्रचलित थी । **पालकाप्य, मातङ्गलीला, अश्ववैद्यक, अश्वचिकित्सा** आदि ग्रन्थ इस बातके साक्षी हैं । आधुनिक वैज्ञानिक नवीन औषधका गुण-धर्म निश्चित करनेके पूर्व उसका प्राणियोंपर परीक्षण करते हैं । इन परीक्षणोंसे प्राप्त अनुभवोंका उपयोग मनुष्योंकी चिकित्सामें करते हैं; कारण, विज्ञान मनुष्यको सर्वोत्तम प्राणी मानता है[३] ।

(६) दोनों पक्षोंने केवल वनस्पतियोंपर आधार न रखते हुए रसायनशालामें बने हुए द्रव्योंका उपयोग किया है । प्राचीन संहिताग्रन्थोंमें वनस्पतियोंका उपयोग विपुल प्रमाणमें पाया जाता है । धातुओंके उपयोगका उनके औषधसंग्रहमें गौण स्थान था । परन्तु पीछेसे धातुओं और खास करके पारदके योगोंका उपयोग बढ़ा और रसशास्त्र वानस्पतिक योगोंके संघर्षमें आया । उत्तम रसवैद्य संपूर्ण चिकित्सा रसोंद्वारा ही करते थे । उन्हें वनस्पतियोंकी अपेक्षा कम होती थी । हाँ, रसोंके निर्माणमें भी कुछ वनस्पतियोंकी आवश्यकता होती थी । पश्चिममें भी आजकल यही परिस्थिति है । वनस्पतियोंका उपयोग घटता जाता है और रसायनशास्त्रके आधारपर बनाये हुए

---

१ Stimulation, Depression, Irritation.

२ देखिये चरक सू. अ. १ के ५८, ५९, ६० श्लोक तथा उनमें 'विपरीतगुणैर्द्रव्यैः' यह स्पष्ट शब्द, और "उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः" च. नि. अ. १ । ३ इसी प्रकार विषदूषित अन्नकी प्राणियोंपर होनेवाली क्रियाओंका भी निर्देश किया गया है । देखिये—सु. क. अ. १ ।

योगोंका उपयोग बढ़ता जा रहा है। विशेष करके जन्तुजन्य रोगोंकी चिकित्सामें ऐसे नवीन द्रव्योंकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। अपने यहाँ रसशास्त्रकी प्रगति रुक गयी है, पर पश्चिममें रसायनशास्त्र (Chemistry) आगे प्रगति करता जा रहा है।

(७) दोनों पक्ष मानते हैं कि औषधद्रव्य उनके कर्मको लक्ष्यमें रखकर विभिन्न योगोंके रूपमें दिये जाने चाहिये। **औषधनिर्माणशास्त्र** (Pharmacy) इन्हीं विचारोंपर आगे कूच कर रहा है। वैज्ञानिक चिकित्सापद्धतिने **सूचीवेध** (Injection)का उपयोग करके अपनी विशिष्टता बढ़ाई है। इसके लाभालाभ वाचकोंको विदित ही होंगे। औषधद्रव्य शारीरिक कोषोंमें शीघ्र मिल जायँ और अपने गुण व्यक्त करें इस उद्देश्यसे दोनों पक्षोंने कुछ भिन्न मार्ग लिया है। आधुनिक विद्वान् औषधोंको यथाशक्ति द्राव्य (Soluble) स्वरूपमें लाकर, उनकी अनिष्ट क्रिया न हो ऐसे योगोंके बनानेमें तन्मय हैं। उधर, प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंने द्राव्य स्वरूपपर ध्यान न देते हुए, वे जिस स्वरूपमें शरीरमें अपने गुण प्रकट कर सकें और किसी भी प्रकारकी विषमय क्रिया न करने पाएँ ऐसे स्वरूपमें द्रव्योंको देनेकी पद्धति अङ्गीकार की है। अत एव, आयुर्वेदमें कई भस्में, कूपीपक्व रस आदि योग आधुनिकोंके औषध द्रव्योंसे भिन्नता रखते हैं। प्राचीनोंने निरिन्द्रिय धातुओंको—खनिज द्रव्योंको—वनस्पतियोंके रसोंकी भावना देकर, उनका विविध प्रकारसे पाक करके अथवा संस्कार करके उनको सेन्द्रिय स्वरूपमें (Organic form) लानेका प्रयास किया है, जिससे वे शारीरिक कोषोंके लिए ग्राह्य बनते हैं तथा विषात्मक क्रिया नहीं करते। विविध भस्मोंको वारितर, निश्चन्द्र तथा निरुत्थ बनानेमें उनका यही उद्देश्य था। इसके फलस्वरूप सुवर्ण, रजत, ताम्र, नाग आदिका आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धतिमें मुक्तहस्तसे उपयोग होता है, तथा इन भस्मोंके देनेसे यकृत् या मूत्रपिण्डों पर असर बुरा नहीं होता। पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञानको अभी इस दिशाका ज्ञान नहीं है। हाँ, उन्होंने हालहीमें धातुओंको उनके अत्यन्त सूक्ष्म—अणुस्वरूपमें उपयोगमें लानेका मार्ग ग्रहण किया है। अर्थात् धातुओंके अणुओंको एक द्रव मिश्रणमें (Colloids) मिलाकर सूचीवेधद्वारा शरीरमें प्रविष्ट किया जाता है, जिससे वे अणु (Molecules) शरीरमें तत्काल फैल जायँ। परंतु इन योगोंमें निर्विषीकरण समुचित नहीं होता, जिससे ये योग भी इच्छित फल नहीं देते। कज्जली, रससिन्दूर और मकरध्वजका अन्तर डॉक्टरोंको समझ नहीं आता। इसका कारण यह है कि प्राचीनोंकी रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न करनेकी विधियोंका उन्होंने निष्पक्ष होकर अनुशीलन नहीं किया है। अन्यथा हिन्दु रसतन्त्रकारोंने मनुष्योंके रोगनिवारणके लिए जो बुद्धिवैभवपूर्वक श्रम किया है उसके लिए उनके मनमें अवश्य ही आदरभाव उत्पन्न होता।

द्रव्योंकी कार्मुकता—

द्रव्य अपनी क्रिया किस कारण करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर देनेमें आयुर्वेद अन्य किसी पद्धतिका ऋणी नहीं है। अर्थात् इस प्रश्नका उत्तर देते हुए इसने किसीके विचार अपनाये नहीं हैं। प्राचीन कालमें द्रव्योंकी रोगनिवारकशक्ति-संबन्धी प्रचलित विचार एक सिद्धान्तके रूपमें व्यवस्थित किये जाकर संहिताकालमें प्रस्तुत किये गये थे। इस कालमें वैशेषिकोंने अनुभवात्मक जगत् (World of experience) का छः या सात पदार्थोंमें (Categories) समावेश किया था। इन पदार्थोंका वर्णन करते हुए वैशेषिकसूत्रमें सत्रह गुण तथा प्रशस्तपादभाष्यमें सात अन्य गुण भी कहे गये हैं। इन गुणोंमें भौतिक (Material) तथा मानसिक (Mental) गुणोंका समावेश हो जाता है। ये गुण हमें पदार्थोंके विषयमें कोई न कोई जानकारी देते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सांख्यकी परिभाषामें गुणका अर्थ सर्वथा भिन्न है। परंतु आयुर्वेदने इन गुणोंका उपयोग पारिभाषिक अर्थमें किया है। कारण, वैशेषिकोंका उद्देश्य मनुष्योंको पदार्थोंका ज्ञान कराना था जब कि आयुर्वेदज्ञोंका उद्देश्य द्रव्योंके वैद्यकीय गुण बताना था। अतः उन्होंने अपने तन्त्रके लिए उचित परिभाषा निश्चित की। इस ग्रन्थके ४३–५१ पृष्ठोंपर विद्वान् लेखकने यह बात स्पष्ट शब्दोंमें कही है, और सामान्य भाषामें तथा आयुर्वेदकी परिभाषामें गुरु-लघु आदि गुणवाचक शब्दोंका प्रसिद्ध अर्थ बताया है। कालक्रमसे द्रव्योंके गुण अधिकाधिक प्रमाणमें ज्ञात होते गये। फलतः विभिन्न आहार तथा औषधद्रव्योंकी शरीरपर होनेवाली क्रियाओंका ठीक-ठीक निर्देश किया गया। इन आयुर्वेदोक्त गुणोंका वैज्ञानिक परिभाषामें **भौतिक, रासायनिक तथा औषधीय गुणोंमें** (Physical and chemical properties as well as the pharmacological properties of drugs) समावेश हो जाता है।

इन गुणोंमें रस गुणका जानना सुगम था। कारण, जिह्वाद्वारा उसकी तुरंत परीक्षा हो सकती थी। प्रयोगशालाके किसी भी साधनके सिवाय केवल रसद्वारा द्रव्योंके वर्गीकरणका यह मार्ग अत्यन्त सरल था। इस रसके छः भेदोंके गुण-कर्म निश्चित हुए[१]। पीछेसे समान रसवाले द्रव्योंका उपयोग करनेपर जब उनकी शरीरपर होनेवाली

---

१ **रसके भेद**—आधुनिक शरीरव्यापारशास्त्री केवल चार मुख्य रस (Primary Sensations of taste) मानते हैं—तिक्त, लवण, अम्ल और मधुर। उनके मतसे कटु और कषाय गौण रस (Mixed Sensations of taste andtouch or taste and odour) हैं। इसके सिवाय इन छः रसोंके मिश्रणके परिणामरूप असंख्य मिश्र रस उत्पन्न होते हैं जो द्रव्यविशेष तथा व्यक्तिकी रसग्रहणशक्तिपर आश्रित हैं। यहाँ यह भी कहना योग्य है कि कई तज्ज्ञ छहों रसोंको मुख्य मानते हैं। अर्थात् रसोंके

क्रियाओंमें भिन्नता अनुभवमें आयी तो विदित हुआ कि कितनेक द्रव्योंमें गुण सामान्य स्वरूपमें होते हैं जब कि उन्ही रसोंवाले अन्य कितनेक द्रव्योंमें बलवत्तर स्वरूपमें होते हैं। इन बलवान् गुणसमूहोंको **'वीर्य'** यह पारिभाषिक नाम दिया गया। यह प्रश्न अलग है कि यह वीर्य **द्विविध** है या **अष्टविध**। वीर्यशब्दका सामान्य अर्थ द्रव्यकी शक्ति (Potency) होता है। परंतु इन रस और वीर्य दोनोंकी सहायता लेनेपर भी कई-एक औषधद्रव्योंके औषधीय गुणोंमें अन्तर प्रतीत हुआ। आहारद्रव्यों पर जठराग्निकी क्रिया होती है तो औषधद्रव्यों पर भी होनी ही चाहिए। इस विचारसे औषधद्रव्योंपर जठराग्निद्वारा होनेवाले परिवर्तनोंका निरीक्षण प्रारम्भ हुआ। अवस्था-पाकके वर्णनमें, मुखसे लेकर वृहदन्त्रतक पहुँचते हुए द्रव्योंमें जो भौतिक और रासायनिक परिवर्तन होते हैं, उनका वर्णन किया गया है। लालास्राव, जठररस (Gastric juice), पाचक पित्त (Bile), अन्त्ररस आदिकी विविध क्रियाओंका **चरकने** अनुभवात्मक दृष्टिसे वर्णन किया है। पाचनक्रियाके अन्तमें जो रस (विपाक) तैयार होता था उसके गुण-कर्म द्रव्यके रस और वीर्यको देखकर निर्णय किये हुए गुण-कर्मोंसे कभी मिलते थे, और कभी विरुद्ध भी होते थे। इस स्थितिमें यह तय हुआ कि द्रव्योंका गुण-कर्म ठीक-ठीक जाननेके लिए यह बात भी दृष्टिमें रखनी चाहिए कि उन पर पाचनक्रियाका अन्तिम प्रभाव क्या होता है। कारण, यह अन्तिम अवस्थामें तैयार हुआ द्रव पदार्थ अन्त्रद्वारा चूसा जाकर रुधिराभिसरणमें मिल जाता था और शरीर पर अपनी क्रिया करता था। विपाक तीन हैं या दो इस विषयमें भगवान् **चरक** तथा भगवान् **सुश्रुत**की विचारश्रेणियों और शब्दप्रयोगोंकी भिन्नता ही भेदका कारण है, न कि कोई तात्त्विक विरोध, क्योंकि शरीरमें होनेवाले परिवर्तनोंका तो दोनोंने समान रूपसे निर्देश किया है (देखिये इस ग्रन्थका पृ. ८७)।

जहाँ जहाँ द्रव्यके गुण, रस, वीर्य और विपाकद्वारा भी उनकी शरीरपर होनेवाली क्रियाएँ विस्पष्ट न हो सकीं वहाँ वहाँ **'प्रभाव'** द्वारा उनका स्पष्टीकरण किया गया। अथर्ववेदमें मणियों और मन्त्रोंका प्रभाव था। वैशेषिक न समझमें आनेआवी घटना-

---

चतुष्क अथवा षट्त्वका प्रश्न अभी पूरी तरह निर्णीत नहीं हुआ। यह मतभेद उपस्थित होनेका कारण यही है कि तिक्त, लवण आदि मुख्य रसवाले द्रव्य जिह्वामें स्थित स्वादाङ्कुरों (Taste buds) और इनमें प्रसृत स्वादवाही Nerves of taste) नाड़ियोंके तन्तुओंको उत्तेजित करते हैं, जिसके परिणामरूप हमें स्वादकी प्रतीति (Perception) होती है। परंतु कषाय और कटुरसवाले द्रव्य जिह्वामें स्थित स्वादग्राही नाड़ियोंके अतिरिक्त अन्य स्पर्शसंज्ञा तथा ऊष्मा, शैत्य, पीडा आदिका वेग वहन करनेवाली नाडियोंको भी उत्तेजित करते हैं, जिनके कारण कषाय तथा कटु रसकी प्रतीति होती है। विस्तारके लिए शारीर व्यापारशास्त्रके आकरग्रन्थ देखिये।

ओंका समाधान 'अदृष्ट'द्वारा करते थे। अतः आयुर्वेदने भी इन्हीं शब्दोंका प्रयोग प्रारम्भ किया। 'द्रव्यप्रभाव' तथा 'व्याधिप्रभाव' शब्द द्रव्यगुणविज्ञान और व्याधिविज्ञानमें प्रयुक्त होने लगे[1] और आज भी प्रयुक्त होते हैं।

प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंके द्रव्यगुणविज्ञानसंबन्धी विचार आधुनिक विज्ञानवादियोंके विचारोंसे कितने अंशमें मिलते हैं और कितने अंशमें भिन्न हैं यह देखनेके पहले इतना ऐतिहासिक सत्य स्वीकारना चाहिए कि, आयुर्वेदमें स्वतन्त्र और प्रतिभाशाली चिन्तन आजकल बन्द हो गया है। आधुनिक वैज्ञानिक विचारोंसे लेखक और वाचक दोनों न्यूनाधिक प्रमाणमें अभिभूत होते हैं। यह तथ्य माननेके पश्चात् अब हम द्रव्योंके विषयमें विशेष विचार करते हैं।

कर्मभेदानुसार द्रव्योंका वर्गीकरण (Classification of Drugs according to their Pharmacological Actions)

इस ग्रन्थके प्रथम अध्यायमें दिये गये नामोंसे स्पष्ट होगा कि इस विषयमें दोनों विचारप्रवाहोंमें बहुत साम्य है। वमन, विरेचन, स्रंसन, शुक्रल, स्तन्यजनन, मूत्रविरेचनीय आदि कर्मोंके कारण द्रव्यभेद दोनोंमें प्रसिद्ध है। परन्तु दोनोंके बीचमें अन्तर भी है। आजकल आधुनिकोंने द्रव्योंका वर्गीकरण शरीरव्यापारशास्त्र(Physiology)के अनुसार द्रव्य मुख्यतः शरीरके किस तन्त्र (System) पर क्रिया करते हैं, इस बातको दृष्टिमें रखकर, और प्रत्येक शरीरयन्त्र (Organ)पर इसकी क्या क्रिया होती है इस पृथक्करणशील (Analytical View point) दृष्टिसे देखना प्रारम्भ किया है; इसके परिणामस्वरूप हमें नाडीतन्त्रपर क्रिया करनेवाले द्रव्य, मूत्रपिण्डोंपर क्रिया करनेवाले द्रव्य, आमाशय तथा अन्त्रोंपर क्रिया करनेवाले द्रव्य, त्वचापर क्रिया करनेवाले द्रव्य-इत्यादि द्रव्यसमूह दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण लेखन, स्नेहन, संशमन, अभिष्यन्दी, प्रमाथी आदि कर्मोंके पर्याय पाश्चात्य द्रव्यगुण-

---

१ उदाहरणः—परमाणुओंका परिस्पन्दन, अयस्कान्त मणिकी ओर सुईका आकर्षण, अग्निका ऊर्ध्वज्वलन, वायुकी तिर्यग्गति और वृक्षोंमें मूलद्वारा चूसे गये रसका ऊर्ध्वगमन आदि व्यापारोंका समाधान 'अदृष्ट'द्वारा किया जाता था। 'मणिगमनं सूच्यभिगमनमित्यदृष्टकारितम्' (वै. सू. ५-१-२५); तथा 'वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्' (वै. सू. ५-२-७)। आयुर्वेदमें रससंवहनका कारण व्यान वायुके साथ अदृष्टको भी गिनाया है 'अदृष्टहेतुकेन कर्मणा' (सु. सू. अ. १४)। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ रोगकी संप्राप्ति तथा लक्षणोंकी उपपत्ति दोष-दूष्यविज्ञानसे न हो सकी वहाँ वहाँ 'व्याधिप्रभाव' शब्द प्रयुक्त होने लगा। उदाहरणतः, ग्रहणीके वर्णनमें—'गृद्धिः काङ्क्षा, एतच्च वातदूषितान्तःकरणत्वेन व्याधिमहिम्ना वा'। तथा छिन्नश्वासके लक्षणमें 'रक्तैकलोचनत्वं, व्याधिप्रभावात्' माधवनिदानटीका (मधुकोश)।

विज्ञानमें नहीं मिलते । इस विषयमें विशेष विचार करनेसे विदित होगा कि शरीरके व्यापारोंके ज्ञानमें वृद्धि होनेसे इस शरीरके तन्त्रों तथा यन्त्रोंके कार्यों पर होनेवाली द्रव्योंकी क्रियाके द्योतक शब्दोंमें वृद्धि हुई है । परंतु रोगकी क्रिया न्यूनाधिक सारे शरीरपर होती है और द्रव्योंकी क्रिया भी सारे शरीरपर होती है । इस दशामें शरीरके एकदेश पर या उसकी एक मुख्य क्रिया पर होनेवाली क्रियाओंके वाचक शब्दोंका प्रयोजन ही क्या है ? इस पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि-रोगका अर्थ है दोषवैषम्य, यह सारे शरीरके दोषोंकी असाम्यावस्था सूचित करता है । परंतु कुपित हुए दोष जहाँ स्थान प्राप्त (स्थानसंश्रय) करते हैं वहाँ विकृति प्रकट होती है । अतः रुग्ण शरीरमें कुपित हुए दोषोंके आश्रयरूप स्थान पर क्रिया करनेवाले द्रव्य हमें विदित हों तो चिकित्सामें सरलता होती है । सच पूछें तो शरीरके प्रकृतिस्थ व्यापारोंका ज्ञान जितना अधिक होगा उतना ही विकृतियोंकी चिकित्सा करना सुकर होता है ।

इस दृष्टिबिन्दुसे हम इस अध्यायका पुनरवलोकन करेंगे तो प्राचीनोक्त औषधीय कर्मोंको अधुनिक पद्धतिसे भी व्यवस्थित कर सकेंगे । यथा—

१ महास्रोतपर असर करनेवाले द्रव्य (Drugs acting on the Alimentary Canal)	वमन, उत्क्लेशकारि, दीपन, पाचन, स्रंसन, विरेचन, ग्राहि आदि ।
२ रुधिराभिसरणपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Heart and Circulation)	हृद्य, बल्य, संज्ञास्थापन, बृंहण, शोणितास्थापन आदि ।
३ मूत्रजननपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Kidneys and Diuretics)	मूत्रसंग्रहणीय, मूत्रविरजनीय, मूत्रविरेचनीय आदि ।
४ प्रजननयन्त्रपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Genital system and Sexual Power)	शुक्रल, वाजीकरण, पुंस्त्वोपघाती, प्रजास्थापन, गर्भास्थापन आदि ।
५ त्वचापर क्रिया करनेवाले द्रव्य Skin and its appendages)	स्वेदोपग, स्वेदापनयन, रोमशातन, रोमसंजनन, कण्डूघ्न, कुष्ठघ्न, दाहहर, वर्ण्य आदि ।
६ श्वसनयन्त्रपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Respiratory tract)	कासहर, श्वासहर, श्लेष्मप्रसेकी, कफविलयन, लेखन आदि ।
७ नाड़ीतन्त्रपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Nervous System)	स्वप्नजनन, मादक, सौमनस्यकर, संज्ञास्थापन आदि ।
८ सार्वदेहिक रसव्यापारोंपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Metabolism)	रसायन, बल्य, संशमन, जीवनीय, व्यवायि, विकासि आदि ।

इस प्रकार आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानके अनुरूप वर्गीकरण भी किया जा सकता है। औषधोंके आयुर्वेदोक्त कर्मोंका स्थानानुसार भी वर्गीकरण किया जा सकता है। जैसे-

कण्ठ्य, शिरोविरेचनीय, विम्लापन आदि द्रव्योंकी क्रिया स्थानिक (Local) होती है। देहव्यापी क्रिया करनेवाले द्रव्योंकी संख्या बहुत बड़ी है।

इस अध्याय पर दृष्टिपात करनेसे विदित होगा कि आयुर्वेदके द्रव्यसंग्रहमें **संज्ञानाशक** (Anœsthetics), **जन्तुनाशक** (Germicidal) तथा **निद्राप्रद** (Hypnotics) औषधोंकी संख्या नगण्य है। **रक्षोघ्न** द्रव्य एक प्रकारके जन्तुनाशक द्रव्य हैं, आजकल राक्षसोंकी अपेक्षया जन्तु ही अधिक देखनेमें आते हैं इसके विपरीत पाश्चात्य द्रव्यसंग्रहमें मेध्य, रसायन, वाजीकरण आदिकी न्यूनता लक्षित होती है। इस विषयमें क्या होना या करना चाहिए इसका निर्णय वाचकों पर ही छोड़ता हूँ।

औषधीय कर्मोंके कारण (Causes of Pharmacological actions of Drugs)।

जो आयुर्वेदमें प्रयुक्त परिभाषाओंको समझते हैं वे इसमें दिया हुआ द्रव्योंका वर्णन समझ सकते हैं। परंतु देशके दुर्भाग्यसे अनेक सुशिक्षित डाक्टर ये परिभाषा नहीं समझते होनेसे आयुर्वेदका द्रव्यगुणविज्ञान समझनेमें असमर्थ होते हैं, जिससे देशको आर्थिक क्षति होती है।

जैसे आहारद्रव्य सब समान नहीं होते और उनकी शरीरपर पोषक क्रिया समान नहीं होती वैसे औषधद्रव्य भी सब समान नहीं होते और उनका रोगनाशक प्रभाव भी समान नहीं होता, यह बात आसानीसे समझमें आ सकती है। औषधोंके गुण-धर्मोंका वर्णन सैकड़ों वर्षोंके अवलोकन और अनुभवका परिणाम है[१]।

कारणोंकी चर्चामें प्रभावको एक ओर रखकर हम गुणोंका ही विचार करते हैं। कारण, गुणोंके विचारके साथ रस, वीर्य और विपाकका भी विचार संकलित हो जाता है।

---

१ उदाहरणतया, चरक और सुश्रुत दोनोंने घृतको अग्निदीपन माना है (देखिये सु. सू. अ. ४५ तथा च. सू. अ. २७) और इसके इस कर्मको प्रभावजन्य कहा है। वर्तमानमें खाद्य पदार्थोंपर जो परीक्षण हो रहे हैं उनसे विदित हुआ है कि दालों(Pulses)में विद्यमान प्रोटीन (Protein) मूत्रपिण्डों तथा यकृत्पर बुरी असर रखता है। परंतु दालोंका उपयोग यदि घी या कॉडलिवर ऑइलके साथ किया जाय तो इस बुरी असरसे बचा जा सकता है। घीमें स्थित यह गुण एक विशिष्ट पदार्थ (जिसे प्राचीनोंने प्रभाव कहा है) के कारण है, जो यकृत्को बिगड़ने नहीं देता अर्थात् पाचनशक्तिको बिगड़ने नहीं देता (देखिये Indian Medical Gazette, Sept. 1943)। आधुनिक विद्वान् जहाँ जहाँ **विशिष्ट गुणकारक पदार्थ** (Active principle) मानते है, वहाँ वहाँ प्राचीन विद्वान् वीर्य या प्रभाव मानते थे।

औषधद्रव्य किस कारण कार्यसाधक होते हैं इस प्रश्नका संक्षिप्त उत्तर निम्न दिया गया है।—

तद् द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण सेवितम्।
किंचिद्रस-विपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा॥
(सु. सू. अ. ४०)।

द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावात्, गुणप्रभाद्, द्रव्य-गुणप्रभावाच्च कार्यकराणि भवन्ति॥
(च. सू. अ. २६)

इस उत्तरका विस्तार इस ग्रन्थके विभिन्न अध्यायोंमें आ गया है। जैसे आधुनिक विज्ञानवादी द्रव्योंके गुणोंका खुलासा उनके संघटन (Structure of composition) की दृष्टिसे करते हैं उसी प्रकार प्राचीन आचार्योंने द्रव्योंके गुणोंका खुलासा उनके पाञ्चभौतिक संघटनको दृष्टिमें रखकर किया है। परंतु शरीरके संपर्कमें आनेके पश्चात् द्रव्यके जो औषधीय गुण देखनेमें आते हैं उनमें शरीरमें स्थित पदार्थोंकी द्रव्योंपर होनेवाली क्रियाओंका भी अन्तर्भाव हो जाता है। अतः गुणोंको कर्मानुमेय कहा है। आशय यह है कि द्रव्य रोगीको देकर उनकी क्रिया देखे विना उसके गुणोंका निश्चय नहीं हो सकता। द्रव्योंकी दोषहरण शक्तिकी (दोषकरण शक्तिकी भी) वास्तविक परीक्षा मनुष्यशरीर पर किये गये परीक्षणोंद्वारा ही हो सकती है।

मद्य तथा विषके वर्णनमें और दीपन, पाचन, व्यवायी, विकासी, वाजीकरण आदिके वर्णनमें जो शैली दिखाई देती है वह आधुनिक द्रव्यविज्ञानके ग्रन्थमें स्थान पाने लायक है। यह वर्णन बहुत ही सुसंबद्ध है। इससे द्रव्योंके कर्मोंका वर्णन करते हुए उनके गुणोंका वर्णन, द्रव्योंकी शरीरमें होनेवाली गति तथा उसमें होनेवाले परिवर्तनोंकी जानकारी परंपरासे हो जाती है।

यह विषय सरलतासे समझनेके लिए हमें कुछ बातें दुहरानी पड़ेगीं। आहारद्रव्योंका पाचन होकर उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाला रसका सारभाग अन्त्रोंद्वारा शोषित होकर रसधातु बनता है। यह सारे शरीरमें फिरता हुआ समस्त धातुओंका पोषण करता है (देखिये-सुश्रुत सू. अ. १४)। पोषणक्रम समझाते हुए तीन दृष्टान्त दिये गये हैं—**क्षीरदधिन्याय, केदारीकुल्यान्याय** तथा **खलेकपोतन्याय**। औषधद्रव्योंकी गति भी इस क्रमके अनुसार है[१]। विपाक (जिनकी चर्चा आगे होगी) होनेके

१ आयुर्वेदिक वाङ्मयमें यकृत्, फुप्फुस तथा मूत्रपिण्ड जैसे महत्त्वपूर्ण आशयोंका वर्णन नहीं पाया जाता। सूत्रात्मक अथवा अव्यक्त निर्देश विद्यार्थियों या वाचकोंको लाभकर नहीं होता। द्रव्योंके गुण-कर्मकी चर्चामें ये आशय वारंवार आते हैं। यकृत् पाचन तथा रक्तोत्पादनकी क्रियामें जैसा महत्त्वका भाग लेता है ऐसा ही महत्त्वका भाग यह शरीरको विष द्रव्योंसे बचानेमें भी लेता है। मूत्रपिण्ड विषरूप द्रव्योंको शरीरसे बाहर करनेमें महत्त्वपूर्ण

पश्चात् द्रव्य रुधिरप्रवाहमें प्रविष्ट होते हैं। कई द्रव्य धीमेसे चूसे जाकर और कई शीघ्र चूसे जाकर सारे शरीरमें फैल जाते हैं। कई संपूर्ण धातुओं पर धीमे-धीमे क्रिया करते हैं और कई शीघ्र ही अमुक धातु (Tissue) पर क्रिया करते हैं (मन्द, तीक्ष्ण)। इस बातको उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं।

दीपन—ये द्रव्य जठराग्निको प्रदीप्त करते हैं, अर्थात् जठररसको बढ़ाते हैं जिससे भूख अधिक लगती है, जैसे **भाँग**। पाचन द्रव्य आमको पचाते हैं परन्तु जठररसमें विशेष वृद्धि नहीं करते, जैसे **नागकेसर**। इन कर्मोंका कारण द्रव्योंका पाञ्चभौतिक संघटन कहा गया है। पृथ्वी और वायुके गुणोंकी अधिकतावाले द्रव्य दीपन तथा अग्निके गुणोंकी अधिकतावाले द्रव्य पाचन कहे गये हैं। आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान इन कर्मोंका कारण इन द्रव्योंके संघटनमें स्थित विशिष्ट गुणजनक पदार्थोंका होना बताता है। दीपन और पाचन दोनों सहकारी शरीरव्यापार हैं और इनका स्थान मुख्य करके आमाशय है। आढमल्लने इनका समाधान द्रव्यप्रभावद्वारा किया है। रसवैशेषिकमें दिया समाधान अधिक युक्तियुक्त है। यहाँ यह भी उल्लेख करना चाहिए कि दीपन और पाचन दोनों कर्म कर सकनेवाले द्रव्य अनेक हैं। दीपन और आमपचन कर्म स्थानिक कर्म हैं। सो यह इन द्रव्योंकी आमाशय पर होनेवाली क्रिया हुई। इसके पश्चात् ये द्रव्य रुधिरप्रवाहमें प्रविष्ट होकर शरीरमें संचार करते हैं और अन्य औषधीय गुणोंको प्रकट करते हैं। जैसे भाँग और नागकेसरकी शरीरपर क्रिया प्रसिद्ध है। इसी प्रकार वमन, छर्दिनिग्रहण इत्यादि कर्मोंका समाधान किया जा सकता है।

अब हम इसी पद्धतिसे अन्य गुणोंकी परीक्षा करेंगे।

आशु (आशुकारी), व्यवायी, विकासी आदि गुण रुधिराभिसरणद्वारा होनेवाला द्रव्यका **प्रसर** सूचित करते हैं। द्रव्योंके इन गुणोंके कारण वे रुधिरमें शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाते हैं; जैसे—मद्य[1]। मद्यका पाक रुधिरमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर शुरू होता है

भाग लेते है। कितनेक औषधद्रव्य शरीरके अनेक स्रोतोंद्वारा बाहर निकल जाते हैं। मल, मूत्र, स्वेद, श्वासोच्छ्वास, आर्तव आदिमें इनका अस्तित्व पाया जाता है (देखिये प्रमाथी द्रव्योंका वर्णन)। मेरी नम्र संमतिमें, आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानकी दृष्टिसे द्रव्योंके शरीरमें **प्रसर, संचय** और **निःसरण**का वर्णन करना विद्यार्थियोंके लिये हितावह होगा।

१ द्रव्योंके गुणकर्मोंके विषयमें सभी तज्ज्ञ एकमत हों यह संभव नहीं; जैसे—मद्यके विषयमें। मद्यको सुश्रुत शुक्रनाशक कहता है पर भेल इसे वृष्य कहता है। अब तक बहुतेरे इसे (मद्यको) वृष्य ही समझते थे, कारण आरम्भमें इसका हर्षण गुण व्यक्त होता है। परंतु अधिक सेवनसे ओजस् और शुक्रका नाश होता है। कदाचित् भेलने तात्कालिक क्रियाका निर्देश किया हो और सुश्रुतने आनुबन्धिक (न्यूनाधिक कालके पश्चात् होनेवाली) क्रियाका। मद्यके शेष गुणोंका वर्णन लगभग समान है। देखिये भेलसंहिता पृ. २१६।

और वह (मद्य) शरीरके प्रत्येक कोषको वेष्टित कर लेता है[१] । इसके पश्चात् इसके अन्य गुण उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष आदि प्रकट होते हैं । इसी भाँति विषद्रव्य भी शीघ्र ही रक्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं और शरीरके विविध तन्त्र-यन्त्रोंपर अपनी क्रिया करते हैं । इन क्रियाओंका वर्णन गुणवाचक शब्दोंद्वारा किया गया है । चरकने कल्पस्थानमें वमन और विरेचन द्रव्योंकी क्रिया समझाते हुए इन द्रव्योंके वीर्यकी क्रिया हृदयपर होती हुई कही है 'स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य' (देखिये इस ग्रन्थमें पृ. २६), यद्यपि द्रव्य महास्रोतमें स्थित होते हैं । मदनफलका वमनकर्म तथा त्रिवृतका विरेचन कर्म आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानके अनुसार इनमें स्थित विशिष्ट गुणकारक तत्त्वोंके कारण है । इन तत्त्वोंको यदि इन द्रव्योंसे पृथक् कर दिया जाय तो इन द्रव्योंकी वमन और विरेचन करानेकी शक्ति नष्ट हो जायगी ।

द्रव्योंके गुणोंमें रस गुण(Taste)का स्थान प्रधान है । रसको आप्य विशेषण दिया गया है, जो सार्थक है । कारण, जड़ द्रव्यके (Matter) विकासक्रममें जबतक जलावस्था (Liquid state) न आवे तबतक रसका आविर्भाव नहीं होता । इसी प्रकार यदि किसी अद्राव्य (Insoluble) पदार्थका जिह्वाको स्पर्श हो तो जिह्वाको रसकी प्रतीति नहीं होती । अर्थात् रसकी प्रतीतिके लिए द्रव्य ऐसा होना चाहिए कि वह द्रवित हो सके । यदि द्रव्यके अमुक परमाणु भी जिह्वापर स्थित स्रावके साथ न मिल जायँ-द्रवित न हो जायँ-तो हमें रसकी प्रतीति नहीं होती । रसभेदका कारण 'शेषभूतसंसर्ग' है—इस सूत्रकी आधुनिक विज्ञान पुष्टि करता है । एवं, 'रसो निपाते द्रव्याणां' यह परीक्षाविधि भी यथार्थ है, शर्त इतनी है कि द्रव्य ऐसा होना चाहिए कि वह द्रवित हो सके । सोना, चाँदी आदि कठिन पदार्थोंको जिह्वापर लगानेपर उनके रसका स्पष्ट भान नहीं होता । तथापि जिह्वापर स्पर्शकी संज्ञा होती है, जिसे विज्ञानवादी धातवीय रस (Metallic taste) कहते हैं । रसयुक्त द्रव्य त्वचापर छुआनेसे भी क्रिया होती है, परंतु उसे रसकी संज्ञा नहीं होती । कषाय और कटुरसवाले द्रव्योंकी त्वचापर स्थानिक क्रिया होती है यह सर्वविदित है ।

विविध रसोंवाले द्रव्योंके वर्णनमें (देखिये अध्याय ३, पृ. ६१-६९) रसोंकी मुख और महास्रोतपर होनेवाली स्थानिक क्रियाओं तथा सार्वदेहिक पारंपरिक क्रियाओं

'हर्षणाद्वृष्यमुच्यते'; तथा—'तीक्ष्णं चोष्णं तथा रूक्षमाशुकारी व्यवायी च' । इस प्रकार मुद्रित उपलब्ध संहिताका पाठ भ्रष्ट है । 'आशुकारि व्यवायि च' यह पाठ होना चाहिए, जिससे संहिताओंमें एकवाक्यता रह सकेगी । हाँ, वह पाठशुद्धि सूचित करता हुआ मैं उनसे क्षमा चाहता हूँ जो मानते हैं कि वर्तमानमें उपलब्ध संहिताओंके पाठ शुद्ध हैं ।

१ 'शरीरावयवान् सर्वाननुगच्छत्यणूनपि' (भे.); 'विशत्यवयवान् सूक्ष्मान्' (सु.) ।

(General and indirect action) का भी वर्णन हुआ है। वह आधुनिक विज्ञानसे संपूर्णतः मिलता है। तथापि, आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानमें द्रव्योंका वर्गीकरण रसप्रधान नहीं पाया जाता, किंतु विभिन्न रसोंवाले औषधोंका तथा इन रसोंसे युक्त द्रव्योंके गुण-कर्मोंका वर्णन पाया जाता है। पहले कह आये हैं कि आधुनिकोंका वर्गीकरण शारीरिक व्यापारोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया है।

तुलनात्मक दृष्टिसे देखें तो आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानके ग्रन्थोंमें शर्करासमूह-(Sugars)के वर्णनमें मधुररसके गुण-कर्मोंका, ऍसिडों या अम्ल पदार्थोंके (Acids) वर्णनमें अम्लरसके गुण-कर्मोंका, क्षारों(Salts)के वर्णनमें लवण रसके गुण-कर्मोंका, उड्डयनशील तैलवर्ग(Volatile oils)के वर्णनमें कटुरसके गुण-कर्मोंका, तिक्तवर्गके (Bitters) वर्णनमें तिक्तरसके गुण-कर्मोंका और ग्राहीवर्ग(Astringents)के वर्णनमें कषायरसके गुण-कर्मोंका वर्णन उपलब्ध होता है। अतः जिज्ञासुओंको आकर-ग्रन्थोंमें इस विषयका विस्तर देख लेना चाहिए।

सब रस एक समान बलवाले नहीं होते। यह बात उनकी जिह्वापर होनेवाली स्थानिक क्रिया तथा शरीरपर होनेवाली सामान्य क्रियासे सिद्ध होती है। (देखिये अध्याय ३, पृ. ६३–६९)। यदि जिह्वापर विभिन्न रसोंवाले द्रव द्रव्य छुआए जावें तो इस बातका तत्काल अनुभव किया जा सकेगा। मधुररस सबसे अधिक बलवान् है और कषायरस सबसे दुर्बल है। इसी कारण रोगी जब अत्यन्त निर्बल हो गया हो तो उस अवस्थामें मधुररसवाले द्रव्य मुखद्वारा, त्वचाके नीचे किंवा सिराव्यधद्वारा दिये जाते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कई एक औषधद्रव्य जिह्वाकी रसग्राही शक्तिका कुछ कालके लिए लोप कर देते हैं। उदाहरणतया कोकेन (Cocaine) लेनेसे जिह्वा तिक्तरसका और मधुनाशिनी (गुडमार=Gymnema Sylvestre) लेनेसे मधुर रसका अनुभव नहीं कर सकती। यह प्रभाव थोड़े समयमें लुप्त हो जाता है।

इन रसोंको लक्ष्यमें रखकर द्रव्योंका एक अन्य भी वर्गीकरण किया गया है। इसके पूर्व पहले अध्यायमें कर्मभेदके अभिप्रायसे किया गया वर्गीकरण वाचकोंके ध्यानमें होगा। इस वर्गीकरणका उद्देश्य द्रव्यगुणविज्ञानका क्षेत्र बढ़ाना है। रसोंकी शरीरके विभिन्न अङ्गोंपर होनेवाली क्रिया अनुमानगम्य है—रोगीकी अवस्थाद्वारा रसोंके दोषसंजनन या दोषसंशमन कर्मका अनुमान किया जा सकता है। इसके बाद पुनः अवलोकनपद्धतिका अवलम्बन करना होता है और यह अवलोकन मानव-शरीरपर होना चाहिए, न कि केवल प्राणियोंपर।

द्रव्योंके प्रधान गुण रसका विचार संपूर्ण हुआ। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आयुर्वेदके सिवाय अन्य किसी चिकित्सापद्धतिमें रसके प्रति इतना लक्ष्य नहीं दिया गया है।

अब हम विपाकका (अ. ४) विचार करते हैं। आहारद्रव्यों और औषधद्रव्योंके शरीरमें जानेपर उनकी क्या दशा होती है यह प्रत्यक्ष प्रमाणका नहीं किंतु अनुमानका विषय है। अतः कर्मनिष्ठाके सिवाय इसे जाननेका कोई उपाय नहीं है। पहले हम आहारद्रव्योंका और पश्चात् औषधद्रव्योंका विचार करेंगे।

अवस्थापाक (Stages of Digestion)—भगवान् **चरक**ने इसका विचार ग्रहणीचिकित्सामें विस्तारसे किया है (इसी ग्रन्थमें पृ. ७९-८०)। मुखमार्गसे प्रविष्ट होकर बृहदन्त्रतक पहुँचनेतक आहारद्रव्योंमें होनेवाले भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तनोंका (Physical and Chemical Changes) इसमें निर्देश है। पाचन-संस्थान (Digestive System)के इन व्यापारोंमें नाड़ीसंस्थान (Nervous system) भी भाग लेता है, जो प्राण और समान वायुके कर्मोंद्वारा अभिप्रेत है। इसके बाद मुख, आमाशय, ग्रहणी तथा बृहदन्त्रमें होनेवाले परिवर्तनोंका उल्लेख है। इस प्रकरणमें जठराग्निका अर्थ है आधुनिक विज्ञानवादियोंके पाचनक्रियामें भाग लेनेवाले रस तथा किण्वद्रव्य (Digestive fluids and Enzymes) जैसे लालास्राव, जठररस, अग्न्याशयरस, अन्त्ररस, पैप्सीन आदि। अवस्थापाक होते हुए **मलरूप** कफ, पित्त और वातकी भी उत्पत्ति होती है, यह बात शरीरव्यापारशास्त्रका कोई भी आधुनिक आकरग्रन्थ बाँचनेसे स्पष्ट समझमें आएगी। इस प्रसंगमें प्रत्येक अभ्यासीको यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए और विद्वान् संग्रहकारने भी अपनी टिप्पणीमें यह बात स्पष्ट की है कि यहाँ कही गयी उत्पत्ति त्रिधातुरूप वात-पित्त-कफ-की उत्पत्ति नहीं है[१]।

विपाक-निष्ठापाक (Final Product of Digestion)—पाचन-क्रियाके परिमाणस्वरूप जो द्रव पदार्थ बनता है उसका सारभाग—प्रसादरूप भाग हृदयकी ओर जाता है, और किट्टरूप भाग मल-मूत्रके रूपमें शरीरसे बाहर निकल जाता है। वहाँ स्पष्टीकरणके लिए यह लिख देना योग्य है कि प्रसादरूप आहाररस दो मार्गों—प्रतिहारिणी सिरा तथा रसकुल्या-द्वारा हृदयमें जाता है। एवं किट्टभाग सीधा बस्ति (Bladder) में नहीं जाता, परंतु मूत्रपिण्डों (Kidneys) द्वारा विश्लिष्ट होकर बस्तिमें जाता है। आयुर्वेदिक वाङ्मयमें यह बात स्पष्ट रूपमें कही नहीं गयी है, यह मेरा नम्र मत है[२]। इस विपाकके परिणामस्वरूप तैयार होनेवाले द्रव पदार्थका भी अपना रस (Taste) होता है, जो अनुमानगम्य अथवा कार्यानुमेय है। यह रस

१ यह वस्तुस्थिति स्पष्ट न समझनेसे वात-पित्त-कफकी उत्पत्तिके संबन्धमें कैसी उलझन पैदा होती है यह जाननेके लिए देखिये कविराज डी. एन्. रॉयकृत The principles of Tridosh in Ayurved' प्रकरण १३, पृ. १०१। २ स्व. प. **हरिप्रपन्नजी** तथा **म. म. कविराज गणनाथ सेनजीने** मूत्रपिण्डोंके व्यापारके संबन्धमें जो खुलासा किया है वह मुझे संतोषप्रद नहीं लगता।

मधुर, अम्ल अथवा कटु हो सकता है, ऐसा त्रिविधविपाकवादी कहते हैं। आधुनिक विज्ञान इसका समर्थन करता है। कारण, आजकल परीक्षणोंसे ज्ञात हुआ है कि प्रोटीनोंके पाचनके अन्तिम परिणामरूप एमाइनो एसिडम् (Amino acids) नामके अम्ल पदार्थ तैयार होते हैं। इसी प्रकार आहारके कर्बोदित या स्टार्चवाले पदार्थोंके पाचनके परिणामरूप ग्लुकोज (Glucose) नामक मधुर पदार्थ तथा चरबीवाले या स्निग्ध पदार्थोंके पाचनके परिणामरूप कटुरसप्रधान फॅटी एसिड्स और ग्लिसेरॉल (Fatty acids and Glycerol) नामके पदार्थ तैयार होते हैं। निष्ठापाकके परिणामरूप कौन रस (या किस रसवाला द्रव पदार्थ) बनता है, यह द्रव्यविशेषपर—आहारद्रव्यके प्रकारपर—अवलम्बित है। तथा विपाकमें विपर्यास होना या न होना यह द्रव्यके प्रमाण, संस्कार, सात्म्य आदिपर अवलम्बित है (अध्याय ४, पृ. ८५-८६)। यहाँ द्विविधविपाकवादियोंके मतका—गुणविपाकवादका—भी विचार करना उचित है। गुणोंकी दृष्टिसे देखें तो यह मत भी विज्ञानसंमत है। कारण, आहारद्रव्योंका पाचन होनेके पश्चात् जो रस तैयार होगा वह या तो गुरु होगा या लघु। विज्ञान कहता है कि सामान्य परिस्थितिमें प्रोटीनोंका (Proteins) पाक गुरु होता है, और कर्बोदितों (Carbohydrates) तथा स्निग्ध द्रव्यों (Fatty articles)का पाक लघु होता है। फलितार्थ यह कि दोनों विपाकवादियोंके मत शास्त्रीय और सत्य हैं, तथा अनुभव और अवलोकनके आधारपर स्थापित हैं।

महास्रोतमें आहारद्रव्योंकी जठराग्निकी क्रियाके परिणामरूप क्या दशा होती है यह हमने देखा। परन्तु इस सौम्य आहाररसका शोषण होनेके पश्चात् इसमें अन्य असंख्य परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनोंका अनुमान देहके स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारण आदिके द्वारा हो सकता है। रुधिरप्रवाहमें प्रविष्ट होनेके पश्चात् धमनियोंद्वारा शरीरमें फैलते हुए इनमें अन्य भी पाकक्रिया होती है या नहीं यह प्रश्न विचारने योग्य है। शरीरसे बाहरकी दृश्य सृष्टिमें अग्नि और सूर्यकिरणोंकी उष्णतासे पाकक्रिया होती है। शरीरमें जठराग्निके अतिरिक्त कोई अग्नि है या नहीं यह प्रश्न है। भगवान् **चरकने** इसका उत्तर 'हाँ'में दिया है और पाँच भूताग्नियों और सात धात्वग्नियोंका अस्तित्व प्रतिपादित किया है (देखिये च. चि. अ. १५, श्लो. १३-१५)। साथ ही यह भी कहा है कि ये बारह अग्नियाँ जठराग्निके आश्रित हैं। आधुनिक वैज्ञानिक जिसे **मेटाबोलिज्म** (Metabolism) अथवा **आन्तर्देहिक रासायनिक परिवर्तन** कहते हैं उन परिवर्तनोंका आयुर्वेदाचार्योंने धातुओंके उत्पत्तिक्रम तथा बारह अग्नियोंकी क्रियाओंमें समावेशित किया है[१]।

---

१ **डॉ. धीरेन्द्रनाथ** बेनरजीने इस देहोष्माको चौदहवें अग्निके नामसे पुकारा है। यह चौदहवाँ अग्नि इनका मानसपुत्र है। कारण, आयुर्वेदमें चौदहवें अग्निका निर्देश ही नहीं हैं और देहोष्माको भ्राजक पित्तका कर्म कहा है। देखिये-सुश्रुत, सू. अ. २१, 'ऊष्मा

आहारद्रव्योंके पाचनके परिणामरूप-विपाकके अन्तमें-सारभूत आहाररस हृदयमें जाता है और **रसधातु** नामसे अभिहित होता है। इससे अन्य धातुएँ बनती हैं । परंतु रस जैसे द्रव पदार्थसे अस्थि जैसी कठिन धातुका बनना क्या कम चमत्कार है ? इस घटनाके लिए एक पाकक्रियाकी आवश्यकता है, और इसके लिए विशिष्ट गुण-धर्मवाला अग्नि होना चाहिए ।

आयुर्वेदाचार्योंके कहे हुए इन अग्नियोंके व्यापारोंको समझनेमें आधुनिक विज्ञान बहुत उपयोगी है । रजस् और शुक्रके संमिलनके फलस्वरूप एक फलित बीजकोष (Fertilised Ovum) उत्पन्न होता है, जिससे करोडों कोष उत्पन्न होते हैं, और उनके आकार तथा गुण-धर्मोंमें परिवर्तन होता है । इनका आहार—नाभिनाडी-द्वारा मिलनेवाला माताका आहाररस—एक होते हुए भी क्यों कोषोंके आकार और गुण-धर्मोंमें भेद आता है ? क्यों उनके भौतिक एवं रासायनिक गुणोंमें भिन्नता होती है ? इसका उत्तर स्वभाव, प्रकृति, ईश्वर जो कहो वह है[१] । परंतु इनके निरीक्षण तथा परीक्षासे ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न प्रकारके कोष भिन्न-भिन्न धातुओंका निर्माण करते हैं और अपने अनुकूल पदार्थ आहाररसमेंसे लेकर जीवननिर्वाह करते हैं । उदाहरणतया-रुधिर लोहको (Iron) पसंद करता है, ज्ञानतन्तु फॉस्फरस तथा प्रोटीनों (Nucleoprotein) को, मांसपेशियाँ भी प्रोटीनोंको तथा अस्थियाँ चूनेके क्षारोंको (Calcium Salts) खूब संचित करती हैं । खलेकपोतन्यायके समान अपने-अपनेको पसंद आहार ग्रहण करनेवाले ये भिन्न-भिन्न धातुओंके निर्मापक कोष, ग्रहण किये हुए पदार्थको जैसेका तैसा अपने अङ्गमें समाविष्ट नहीं कर लेते, किंतु इन पदार्थोंको किंचित् बदलकर, अपने लिए सात्म्य रूप देकर अपनेमें-कोषमें प्रविष्ट करते हैं । आहारद्रव्यगत प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट तथा स्नेहवाले पदार्थ जठराग्निके पाकके विना तथा उसके अनन्तर धातुओंके कोषोंमें होनेवाली पाकक्रियाके विना शरीरके लिए उपयोगी नहीं होते । एक सीधा दृष्टान्त लें । दूध एक उत्तम आहारद्रव्य है, परन्तु तभी जब कि जठराग्निद्वारा इसका सम्यक् पाक हो । जब दूधके केवल पन्द्रहसे बीस

शरीरोष्मा, स त्वक्स्थभ्राजकपित्तस्य कर्म'–चक्र० । इसी प्रकार म. म. क. **गणनाथसेनजीने** आग्नेयरससंवहनका वर्णन किया है, जो भ्रान्तिमूलक प्रतीत होता है । कारण **सुश्रुतने** आहार-रसको जोर देकर 'सौम्य' कहा है ।

१ 'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा । परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥' (सु. शा. अ. १) । सजीव तथा निर्जीव सृष्टिके पार्थक्यका कारण शोधनेके लिए मनुष्यजाति प्राचीन कालसे संलग्न है । इस विचारमन्थनके परिणामरूप जो जो मुख्य वाद सामने आये उनका सुन्दर निर्देश इस श्लोकमें भगवान् सुश्रुतने किया है । आयुर्वेदाचार्योंने इन सबोंका समन्वय करके अपना चिकित्साशास्त्र रचा है ।

न्दु सूचीवेधद्वारा त्वचाके नीचे प्रविष्ट किये जाते हैं तो मनुष्यको सहसा ज्वर हो
ाता है। कारण, दूधका पोषक तत्त्व (Protein) सम्यक् परिणत न होनेके
ारण अमृतके स्थानपर विषकी क्रिया करता है। फलितार्थ यह कि शरीरके अन्य
रह अग्नि जठराग्निकी प्राथमिक क्रियाके विना अपना कार्य ठीकसे नहीं कर सकते।
त एव इसे सर्वोपरि मान दिया गया है—'अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिको
तः'—(च. चि. अ. १५)। रस, रक्त आदि धातुओंमें ये धात्वग्नि तथा भूताग्नि
हते हैं। प्रत्येक धातुका अग्नि इन धातुनिर्मापक कोषोंमें (Tissue Cells)
वर्तमान भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तनोंका मूल है, जब कि इन धातुओंका
ताग्नि इस बातका निर्णय करता है कि इनमें कौनसा महाभूत अधिक प्रमाणमें रहता
। उदाहरणतया, कर्णेन्द्रियमें आकाश, जिह्वामें जल, घ्राणेन्द्रियमें पृथ्वी इत्यादि।
ाधुनिक विज्ञानवादी अपनी दृष्टिसे प्रत्येक धातुका विशिष्ट रासायनिक संघटन बताते
। संक्षेपमें कहें तो विपाकक्रिया बहुत लंबी और उलझनभरी है और सभी अग्नि
समें थोड़ा-बहुत भाग लेते हैं।

अब इन तथ्योंको लक्ष्यमें रखकर औषधद्रव्योंका विचार करते हैं। इनके ऊपर
हले जठराग्निकी और पीछे धात्वग्नियों और भूताग्नियोंकी क्रिया होती है। कई
ोषधद्रव्य—व्यवायी या विकासी, जैसे मद्य—जठराग्निकी क्रिया पूरी होनेके पूर्व ही
धेरप्रवाहमें मिल जाते हैं और अपने औषधीय कर्म व्यक्त करने लगते हैं। परंतु
त्वग्नियोंकी क्रियासे वे नहीं बच सकते और भिन्न-भिन्न धातुओंमें (Tissues)
ाका पाक होने लगता है। परंतु औषधद्रव्योंमें अधिकांश जठराग्निके संपर्कमें आते
। परिणामतः द्रव्योंका रूपान्तर होता है, कइयोंका नाश भी होता है और कई द्रव्य
शेषतः खनिज द्रव्य—(Metals) थोड़ी पाकक्रियाके बाद मलद्वारसे शरीरके
हर निकल जाते हैं। इसी कारण धातुओंकी भस्में तैयार करते हुए इनका वारंवार
क किया जाता है, जिससे शरीरके अग्नियोंका कार्य सुगम हो जाता है, तथा
षप्रकोपक गुणोंका नाश होकर दोषहरण या दोषसंशमन गुणोंका आधान होता है।
ज्ञानकी परिभाषामें कहें तो भस्मोंके परमाणुओंमें ऐसे गुण उत्पन्न किये जाते हैं कि
नकी सहायतासे ये परमाणु शारीरिक कोषोंके जीवनरस (Protoplasm) में
रलतासे मिल सकते है और अपने औषधकर्म (Pharmacological action)
क्त कर सकते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राणिजन्य औषध शरीरमें
घ्र मिल जाते हैं और उनका विपाक सरलतासे होता है। परंतु खनिजद्रव्य
रिन्द्रिय होनेसे विपाकमें कठिनाई होनेसे शीघ्र शरीरमें मिल नहीं सकते। ये द्रव्य
स प्रकार प्रयुक्त किये जानेसे शरीरके लिए उपकारक हो सकते हैं इस विषयमें
चीन और अर्वाचीन द्रव्यगुणविशारद अबतक एकमत नहीं हुए हैं।

वीर्य (अध्याय पाँचवाँ)—शक्तिमात्रवाचक वीर्य (Potency) शब्दका इस प्रकरणमें विचार नहीं किया जायगा। परंतु आयुर्वेदाचार्योंद्वारा पारिभाषिक अर्थमें व्यवहृत वीर्यका ही हम इस स्थल पर विचार करेंगे। आयुर्वेदके परिभाषित वीर्यका अर्थ क्या है? द्विविध तथा अष्टविधवीर्यवादियोंकी युक्तियाँ पढ़नेके पश्चात् प्रभूतकार्यकारी गुण—प्रकृष्टशक्तिसंपन्न गुण—ही वीर्य है यह मत मुझे ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। मुझे बौद्ध द्रव्यगुणवेत्ता **भदन्त नागार्जुन**की युक्तियाँ स्वीकार्य लगती हैं। औषधद्रव्योंमें ऐसी कौन शक्ति है जिसका उनके (औषधद्रव्योंके) गुणों, रस, विपाक और प्रभावमें समावेश नहीं हो सकता? तथा, तुल्य गुण, रस, विपाक और प्रभाववाले द्रव्योंके औषधीय कर्मों (Pharmacological action) में भिन्नताका कारण क्या है? वीर्यके अस्तित्वके विषयमें तो कोई शङ्का ही नहीं है। मेरी नम्र बुद्धिके अनुसार वीर्यका अर्थ है औषधद्रव्योंमें स्थित **विशिष्टगुणोत्पादक तत्त्व** (Active Principles), जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। द्रव्योंका रासायनिक पृथक्करण (Chemical Analysis) करनेके साधन जब आजके समान विपुल तथा सुलभ नहीं थे तब भी इनका अस्तित्व तथा इनके औषधीय कर्मोंका ज्ञान प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंको हो गया था और चिकित्सामें औषधद्रव्योंका उपयोग करते हुए उनके वीर्यको विशेषतः ध्यानमें रखा जाता था यह गौरवास्पद बात है। **भदन्त नागार्जुन**ने प्रचलित मतका—गुणोत्कर्षवादका—विरोध किया, पर कर्मलक्षण वीर्यका ज्ञान उन्हें भी नहीं हुआ[१]। आजकल औषधद्रव्योंमेंसे इन तत्त्वोंको पृथक् करके इनकी परीक्षा की जाती है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि इस वीर्य और द्रव्यका संबन्ध क्या है? इसका उत्तर यह है कि जैसे गुण, रस, विपाक, प्रभाव आदि द्रव्याश्रित हैं वैसे यह वीर्य भी द्रव्याश्रित है। उदाहरणतया, अहिफेन हो तो ही मोर्फीन (Morphine) रह सकता है। किंवा, विषतिन्दुक—कुचला (Nuxvomica) के आश्रयसे इसका वीर्य स्ट्रिक्नाइन (Strychnine) रह सकता है। अन्य शब्दोंमें कहें तो आधुनिक विज्ञानवादियोंके मतसे द्रव्य और वीर्य-गुणकारक तत्त्वों-के मध्य आधाराधेयभाव संबन्ध है। द्रव्यके विना वीर्यका अस्तित्व संभव नहीं

---

१ कितनेक द्रव्योंमें तुल्य रस-गुण होते हुए भी कर्मोंमें भिन्नता पायी जाती थी। यह कर्मभेद गुणोत्कर्षके कारण हो तो इस गुणोत्कर्षका कारण क्या है?। वीर्य कर्मलक्षण होता है यह कहनेपर भी वीर्य अचिन्त्य ही रहता है। 'अस्य कर्मविशेषस्य दर्शनादेतस्माद् रसगुणाख्यात् कारणमन्यद्विद्यते। अस्य विशेषस्य साधकं तद् वीर्यमिति जानीम' इति (भा०) ये शब्द मेरे इस मतकी पुष्टि करते हैं कि इस भेदका जो साधक हो उसे 'वीर्य' कहते हैं। अर्थात् आधुनिक विज्ञानके 'ऍक्टिव्ह प्रिन्सिपल्स' (Active Principles) की विद्यमानताके कारण ही तुल्य रस-गुणवाले द्रव्योंमें कर्मभेद एवं गुणोत्कर्ष पाया जाता है। द्रव्य वीर्यरहित अर्थात् सामान्य गुणवाले भी हो सकते है। मैं 'प्रबल आठ गुण ही वीर्य है' इस लक्षणको बदलना नहीं चाहता। मैं तो केवल कारण बताता हूँ।

और द्रव्यके गुणोंका अर्थ है वीर्ययुक्त द्रव्यके गुण। अब आयुर्वेदाचार्योंद्वारा निश्चित की गयी व्यवस्थाके अनुसार वीर्यकी परीक्षा करते हैं—'वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते'। निपात अर्थात् वीर्ययुक्त द्रव्य और जिह्वा-नासिका आदिका संयोग होते ही वीर्यके अस्तित्वकी प्रतीति होती है। परंतु जब इस प्रकारसे वीर्यकी उपलब्धि न हो सके तो शरीरमें वीर्ययुक्त द्रव्य जबतक रहे तब तक शरीरपर होनेवाली वीर्यकी क्रियाद्वारा उसके वीर्यके अस्तित्वका अनुमान किया जा सकता है। परीक्षाकी इस व्यवस्थाके अनुसार भी आधुनिक विज्ञानवादियोंके गुणकारक तत्त्व मुझे प्राचीन आचार्योंके वीर्य ही प्रतीत होते हैं। वीर्य चिन्त्य भी हो सकता हैं और अचिन्त्य भी।

भदन्त नागार्जुन तथा अन्य महान् आयुर्वेदाचार्योंके मतसे वीर्य विविध प्रकारके हैं। आधुनिक विज्ञान भी वीर्य अनेक प्रकारके मानता है। देश, ऋतु, भूमि इत्यादिकी क्रिया द्रव्योंपर अर्थात् उसमें स्थित वीर्यपर—गुणोत्पादक तत्त्वोंपर होती है, यह बात सब तज्ज्ञ स्वीकारते हैं। यदि इस वीर्यका नाश हो जाय अथवा औषधद्रव्योंमें इसका प्रमाण न्यून हो जाय तो औषध हीनवीर्य या निर्वीर्य हो जाते हैं। आयुर्वेदाचार्योंने वानस्पतिक औषधोंके जो-जो अङ्ग—मूल, त्वक्, पत्र आदि—चिकित्सोपयोगी निश्चित किये हैं उन-उन अङ्गोंमें विज्ञानवादियोंने एक न एक गुणकारी तत्त्वका अस्तित्व सिद्ध किया है, जैसे त्रिवृतमूल, अर्जुनत्वक्, इन्द्रयव इत्यादि। कई बार औषधद्रव्यके गुण-धर्म उसके वीर्यसे भिन्न होते हैं और कभी समान होते हैं। कभी एक ही द्रव्यमें अनेक वीर्य होते हैं इत्यादि। आशय यह कि द्रव्यके कर्मके कारणोंकी मीमांसामें गुणोत्कर्षको वीर्य माननेकी अपेक्षया इन औषधद्रव्योंमें विद्यमान अमुक विशिष्ट अंशको वीर्य माननेकी आजकलके विज्ञानवादियोंकी प्रवृत्ति है। वानस्पतिक द्रव्योंको छोड़कर प्राणिजन्य तथा खनिजद्रव्योंका विचार करें तो मुक्ता, प्रवाल, ताम्र, सुवर्ण, लोह आदिके औषधीय गुणोंके वर्णनमें भी शीतवीर्य, उष्णवीर्य आदि शब्द पाये जाते हैं। वहाँ वीर्यका अर्थ क्या किया जाय यह प्रश्न स्वभावतः उपस्थित होता है। आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धतिमें शुद्ध रासायनिक द्रव्योंकी अपेक्षया मिश्र रासायनिक द्रव्य अधिक प्रमाणमें व्यवहृत होते हैं। भस्मोंके निर्माणमें सेन्द्रिय तथा निरिन्द्रिय द्रव्य (Organic and inorganic substances) एकत्र मिल जाते हैं। इस प्रकार इनके निश्चित रासायनिक सूत्र (Chemical formulæ) नहीं बताये जा सकते। परंतु सामान्यतः कह सकते हैं कि इन भस्मोंमेंसे भी अमुक अंश—अणु या परमाणु शरीरमें प्रविष्ट होकर अपने औषधीय गुण प्रदर्शित करते हैं। आधुनिक रसायनशास्त्र कहता है और परीक्षणद्वारा सिद्ध करता है कि शरीरके बाहर और शरीरके अंदर होनेवाले रासायनिक परिवर्तनोंमें अमुक मौलिक (Radicles) खास भाग लेते हैं। ये मौलिक अमुक परमाणुओंके विशिष्ट व्यूह हैं। इसी विचारसरणिका अनुसरण करता हुआ मैं समझता हूँ कि मुक्ताभस्मके शीत वीर्य अथवा ताम्रके उष्ण वीर्यका अर्थ है इन

भस्मोंमेंसे पृथक् होनेवाला अमुक परमाणुपुञ्ज जो शारीरिक कोषोंपर अपनी विशिष्ट क्रिया प्रदर्शित करता है । आशा है विद्वज्जन इस प्रश्नपर विशेष विचार करेंगे ।

प्रभाव (Specific Action)—जैसा कि ऊपर कह आए हैं, जब औषधके कर्मका कोई भी समाधान कार्यकारणभावके नियमद्वारा न हो सके तो प्रभावके द्वारा किया जाता है और सब औषधकर्मोंका समाधान मनुष्यकी बुद्धि अब तक नहीं कर सकी है । परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिए । आधुनिक विज्ञान प्रभावको समझनेका दिन-प्रतिदिन प्रयास कर रहा है । प्रभावको अचिन्त्य माननेसे वह इन्कार करता है ।

रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव समान बलवाले हो वहाँ (पृ. ९८) वीर्य और प्रभावके बलको अधिक बतानेवाला सिद्धान्त आजके विज्ञानके अनुकूल है ।

उपसंहार

इस संक्षिप्त निबन्धमें आरम्भमें दी प्रतिज्ञाके अनुसार पूर्व और पश्चिमके द्रव्यगुण-विज्ञानसंबन्धी विचार मैंने प्रस्तुत किए हैं और जिस प्रजाका बालक होनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है उस प्रजाने मनुष्यजातिके हितके लिए जो चिन्तन-मनन किया है उसका सार यहाँ दिया है । यह तैयार करनेमें मुझे प्रेरित करनेवाले पूज्य श्रीयुत यादवजी त्रिकमजी आचार्यका मैं अत्यन्त ऋणी हूँ । इसमें प्रतिपादित किये हुए विचारोंकी चर्चामें उत्साहपूर्वक भाग लेनेवाले अपने सहकारी श्रीयुत **डॉ. भास्कर गोविन्द घाणेकर, श्री पण्डित दामोदर गौड, श्री पण्डित यदुनन्दन उपाध्याय, श्री पण्डित शिवदत्त शुक्ल** तथा **श्री पण्डित राजेश्वरदत्त शास्त्री** आदिका भी मैं सप्रेम आभार मानता हूँ । अपना अन्तिम मनोरथ महाकवि कालिदासके शब्दोंमें व्यक्त करता हूँ—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥

हिन्दु विश्वविद्यालय बनारस
भ्रातृद्वितीया वि. सं. २०००

बालकृष्ण अमरजी पाठक

संग्राह्य आयुर्वेदिक ग्रन्थ



रसामृत—वैद्य श्री **यादवजी त्रिकमजी आचार्य** विरचित। यह ग्रन्थ विद्यार्थियों को पाठ्य ग्रन्थके रूपमें तथा चिकित्सकोंको भस्म, पिष्टि, रसयोग आदिके निर्माणमें उपयुक्त-मार्गदर्शक हो इस दृष्टिसे लिखा गया है। इस ग्रन्थमें पारद, गन्धक, सुवर्ण, रौप्य, ताम्र, पीतल, कांस्य, माक्षीक, तुत्थ, जंगार, वंग, नाग, सिन्दूर, मृद्दारशृङ्ग, सफेदा, सौवीराञ्जन, स्रोतोञ्जन, यशद, पुष्पाञ्जन, खर्पर, अयस् (लोहा), मण्डूर, विमल, कासीस, गैरिक, गिले अरमनी, गिले मख्तूम, अभ्रक, शिलाजतु, कान्तपाषाण, गौरीपाषाण (संखिया), हरिताल, मनःशिला, सुधा (चूना), खटिका, गोदन्ती, सफेदा, सुरमा, सिकता (बालू), दुग्धपाषाण (संगे जराहत), कौशेयाश्मा, जहर-मोहरा, हज्रुलयहुद, छः प्रकारके लवण, यवक्षार, सर्जिकाक्षार, टङ्कण, फिटकिरी, पापड़खार, सोरा, माणिक्य, नीलम, पोखराज, गोमेद, वैदूर्य, पन्ना, हीरा, राजावर्त, संगे यशव, अकीक, स्फटिक, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, पेरोजा, वैक्रान्त, चपल और कहरुवा–इन पार्थिव (खनिज) द्रव्योंके संस्कृत, हिंदी, वंगाली, मराठी, गुजराती, फारसी, अरबी तथा अंग्रेजी भाषाके नाम, वर्णन, शोधनविधि, मारणविधि, गुण, उपयोग, सत्त्वपातन आदि अवश्य ज्ञातव्य विषय सरल भाषामें लिखे गये है। अन्तमें ६६ रसयोग तथा 'भस्म बनानेके और पुट देनेके विषयमें आवश्यक सूचनाएँ' आदि नौ परिशिष्ट दिये गये हैं।

उत्तम कागज, बंबईके निर्णयसागरप्रेसकी उत्तम छपाई, कपड़ेकी अच्छी जिल्द, मूल्य ५) रु०।

व्याधिविज्ञान-लेखक **डॉ. आशानन्दजी पञ्चरत्न** एम्. बी., बी. एस्. आयुर्वेदाचार्य, प्रिन्सिपल पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज, **बंबई**। उत्तम छपाई तथा कपड़ेकी जिल्द सहित। मूल्य ९) रु०।

यूनानी चिकित्सासागर (हिन्दी)-लेखक हकीम श्री **मनसारामजी शुक्ल** वाइस प्रिन्सिपल तिब्बिया कालेज, दिल्ली। मूल्य १०) रु०।

चरकसंहिता—आयुर्वेदाचार्य **श्रीजयदेवजी विद्यालंकार** विरचित्त तन्त्रार्थ-दीपिकानामक विवेचनात्मक सरल हिन्दी अनुवाद सहित। दो बढिया पक्की कपड़ेकी जिल्दोंमे बड़ी साइजमें छपा है। मूल्य संपूर्ण ग्रन्थका ३२) रु०।

भैषज्यरत्नावली-लाहौरके सुप्रसिद्ध **कविराज श्रीनरेन्द्रनाथ मित्र** द्वारा संशोधित एवं **श्रीजयदेव विद्यालंकार** कृत सुविस्तृत सरल भाषाटीका सहित। मूल्य ९) रु०।

रसतरंगिणी—कविराज **श्री नरेन्द्रनाथ मित्र** तथा उनके शिष्य प्राणाचार्य **श्री सदानन्दजी शास्त्री** विरचित, आयुर्वेदाचार्य **पं. श्री. हरिदत्तजी शास्त्री** कृत संस्कृत टीका तथा रसविशेषज्ञ **श्री धर्मानन्दजी** कृत विस्तृत हिन्दी अनुवादसमेत। कपड़ेकी पक्की जिल्द सहित, चतुर्थ संस्करण, मूल्य १०) रु०।

सुश्रुतसंहिता-कविराज **श्री अत्रिदेवगुप्त** विरचित सरल हिन्दी अनुवाद सहित संपूर्ण। मूल्य २०) रु०।

चरकसंहिता श्री **चक्रपाणिदत्त** कृत **आयुर्वेददीपिका** (संपूर्ण) तथा **श्री जेज्जटाचार्य** विरचित **निरन्तरपदव्याख्या** (अपूर्ण) सहित। आयुर्वेदाचार्य **पं. श्री हरिदत्तजी शास्त्री** संपादित। मूल्य १५) रु०।

ऐलोपेथिक निघण्टु (मेटिरिया मेडिका)-**डॉ. रामनाथ वर्मा** द्वारा सरल हिन्दी भाषामें विरचित। मूल्य १०) रु०।

परिभाषाखण्ड-आयुर्वेदीय औषधनिर्माणके लिये सर्वोत्तम मार्गदर्शक ग्रन्थ। लेखक-वैद्य **यादवजी त्रिकमजी आचार्य**। निर्णयसागर प्रेसकी उत्तम छपाई, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ३॥) रु०।

द्रव्यगुणविज्ञानका **औषधद्रव्यविज्ञानखण्ड**—लेखक-वैद्य **जादवजी त्रिकमजी आचार्य**। इस ग्रन्थमें उद्भिज्जद्रव्योंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग वाचक शब्दोंकी व्याख्या तथा ३५१ वनस्पतियों और ४१ प्राणिज द्रव्योंका विस्तृत वर्णन किया है। निर्णयसागर प्रेसकी उत्तम छपाई तथा कपड़ेकी जिल्द। मूल्य १२) रु०।

पुस्तकप्राप्तिस्थान—

मोतीलाल बनारसीदास

नेपाली खपड़ा, बनारस